थी इसिलिये उसने उस दासीको वो फल दिया/दासीने मनमें विचार किया ये अमरफल खायके जमर होनेसे अपना दासीपणा तो मीटेगा नहिं तो ये नीच दासीपणासे मरना ही ठीक है ऐसा विचार कर उस फलको कोई सन्पात्र ब्राह्मणको अपीण करना जिससे पुण्यप्राप्ति होगी ऐसा सोचकर वो फल लेकर उस देवशर्माब्राह्मणके घर आकर पूछा तो वो घरमें नाई या. पीछे उस दासीने उस फलको देवशमीके स्त्रीके स्वाधीन किया और घर गई, थोडे सम्यमे ब्राह्मण घरमें भाया और देखा तो जो अमरफल अपने राजाके स्वाधीन किया वो अपने घरमें फिर किस तरह सें भापहुंचा ऐसा विचारके ब्राह्मण राजसमामें जापहुंचा और राजाकूं पूछा राजा फल सेवन किया ? तन राजाको फलका स्मरण हुवा और जनानामे जाकर स्त्रीकूं पूछा तो वो चुप होगई फिर राजाने स्रतिकोपायमान होकर इसका तलास करनेसे सब हाल मालुम होगये तंब राजाने भी इत्यादि उन सवका तिरस्कार किया और वैराग्यका स्वीकार करके राज्यका त्याग कर सरण्यमें चलागया. उस समयका ' यां चिन्तयामि ' ये श्लोक है. राजा नीतिमे निपुण भौर शृंगार रसास्वादनमें परम निष्णात होनेसं नीति और शृंगार शतक तौ राज्यत्यागके प्रयम किये होने चाहिये, सीर पीछेसें बैराग्य होनेसें वैराग्यशतक बनाया ऐसा मालुम होताहै. रा-जाकी कवित्व शाक्तिमी बहोत उत्तमहै. इसके बनायेहुए औरभी एक दो ग्रंथ हैं परंतु उपल-च्य नाई हैं. इस ग्रंथमें जो शृंगारशतक किया है सो लोकोंको विषयजालमें फसानेकेलिय नहिं है परंतु शृंगारका स्वरूपाविष्करण किया है जिससें इनमें कोई नहिं साफसें इस ग्रंथके पाठभेद मनेक हैं परंतु इस पुस्तकमें जो उचित वोही पाठ लिये हैं. और मूलमें संस्कृतटीका नहिं होनेके कारण विद्वान पण्डितद्वारा नूतन संस्कृतरीका तथा उसकेही आधारसे भाषाटी-का तथा कवित्त लिखकर इनतीनोंका संग्रह इन पुस्तकमें किया है. सौर सुगमताके लिये अन्वयके अंकभी श्लोकके ऊपर डाल दिये हैं ! पहिले दो चार दफे ये ग्रंय छप चुकाहै परन्तु उनमें कितनेक टिकानेपर अशुद्धता रहनेसें और ग्रंथ संग्रहणीय होनेकेखातर और कितनक लीकोंकी सूचना होनेसे ये सब टीका नवीन बनवाकर ये पुस्तक छपवायाहै. इस समय ग्रंथकी शुद्धताके ऊपर विशेष ध्यान देनेमें आयाहै जो देखनेसेही मालुम होगा. भाष उदार महाराय इस ग्रंथका संग्रह करके हमारे इस प्रयत्नको उदार अन्तःकरणपूर्वक आश्रय देंगे और ऐसेही कितनेक नूतन ग्रंय छापनेमें पांडेतजी श्रीकृष्णलालजीको उत्साहित करेंगे और इसमें जो दोप रहेहीं उनका त्याग कर गुणोंकाही प्रहण करेंगे ऐसी बिनंति करके ये बहोत छंत्राहुवा प्रार्थना छेख पूराकरताहूं॥

आपका नम्रतम,

सीतारामशम्मी.

ओहरिम्बन्दे।

श्रीदृन्दावनविहारिणेनमः।

अध

भर्तृहरिकृतशतकत्रयम्।

तत्र

प्रथमं नीतिशतकं प्रारम्यते।

॥ सङ्गलाचरणम् ॥

दिकालायनविच्छन्नानन्तिचन्मात्रमूर्तये'॥ स्वानुभूत्येकसौराय नर्मः शान्तायै तेजसे"॥ १॥

संस्कृत टीका—विशेशं विश्वहतीरं गणराजं नमाम्यहम । शारदां वरदां नौमि बुद्धिगाट्यापनुत्तये ॥ १ ॥ श्री गोपालं नमस्कृत नत्या गुरुपरंपराम् । नीत्यादिशतकानां च व्याह्यां
ृर्वे मुवोधिनीम् । प्रन्यादां प्रन्थमय्ये प्रयान्ते च मङ्गलाचरणं कर्तन्यमितिशिष्टाचारोऽस्ति, अतो
न्यस्य निर्विप्रपरिसमातये प्रन्थकत्री नमनात्मकं मङ्गलं कृतम् । दिगिति । दशदिक्षु तथा भूत
विष्यहर्तमान् त्रिकालेष्वनविष्कृता व्याता अत्तर्य अनन्ता नास्यन्तो यस्याः साचिनमात्रा चिद्रुपां
र्तिः स्वरूपं यस्य तस्मै, तथा स्वानुमृतिः स्वस्यानुमवः स एव सारांशो यस्य तस्मै तेजसः'
काशरूपाय शान्ताय शान्तस्वरूपाय ब्रह्मणे नमः ॥ अनुष्टुप् वृत्तमिदम् ॥ १ ॥

भाषा टीका - दशोदिशा और त्रिकाल आदिमें परिपूर्ण अनन्त वितन्य र्ति और केवल अपने अनुभवसे ज्ञातन्य शान्त और तेजोमय ईश्वरको नमस्क्रार है॥१॥

सोरठा—सर्वदिशा सर्व काल, पूरि रह्यो चैतन्य घन। सदा एकरस चाल, वन्दन वा परब्रह्मकी। १ **ન્યુકા**રાવસા વહ

यां चिन्तयौमि सततें मियं साँ विरक्तां। साँप्यन्योमिच्छीते जीनं से जैनोऽन्यसक्तैंः॥ अस्मैत्कृते चैं परितुष्यित काँचिदन्याँ। धिकाँ चैं तं चैं मदेनं चैं इँमां चैं मांचें॥२॥

संस्कृत दीका—प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते। एवं नीतिर्वर्तते तर्हि केन कारणेन प्रन्थः कृतस्तत् कारणं येन वैराग्यात्पत्तिस्तिष्ठिखति। राज्ञाविक्रमशकेन स्वट्यं फलं कस्मेन्विद्वाह्मणाय दत्तं तस्य फलस्य महिमा येन भिक्षतं सोऽमरो भवित तस्य मरणं नास्ति, ब्राह्मणेन तस्फलं बहूनाम् पालकाय राज्ञे भर्तृहर्रयदत्तं, तेन भर्तृहरिणा स्वपत्न्यै दत्तं, अन्यपुरुपासक्ता साऽन्यस्मे दत्तवती, सजारोऽपि स्वप्रिया कांचन पृंश्वली तस्यै दत्तवान् , सा पृंश्वली तद्राज्ञे दत्तवती राजा तावरपूर्वापं समस्तवृत्तान्तं ज्ञात्वा पश्चात् वैराग्येणात्मसिहतान् भार्यादीन् निन्दिते । यामिति । अहं यां स्त्रिः सततं हृदि चिन्तयामि प्राणाद्यिकां मन्ये साऽपि मिये विरक्ताऽस्ति । सा स्त्रीक्षन्यं जनं जारपुरुष् प्रियतमामिष्लिति । स जनोऽप्यन्यां पृंश्वली प्रियत्वेनच्लिति सा काचिदन्या चास्मदर्थे परितृष्यिति सन्तोषं प्रामोति । एवं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः । अतोऽस्मत्कृते परितृष्यिति तां पृंश्वलीधिक् तं जारपुरुषमिपिष्ठक् इमां मदीयां स्त्रियं धिक्, अहमिप एताहशोमूर्खः मां च धिक् । सर्विमिद मदनकृतमतो तं मदनं च धिगित्यर्थः ॥ २ ॥

भाषा टीका—िकसी समय एक ब्राह्मणको अमृतफल मिला वन उसने विचारा कि यह फल किसको दैना योग्य है, सोचते २ उसको ध्यान आया कि यह राजा भर्तृहरिको दैना चाहिये क्योंकि वह वड़ा धर्मज्ञ और मजापालक है, यह सोच उसने वह फल राजाको दे दिया, राजाने उसे अपनी प्राणिपया स्त्रीको दिया, उस रानीने वह फल अपने मित्रको दिया, उस जारपुरुपने वह फल किसी वेश्याके लिये देदिया, और उस वेश्याने धनके लोभसे वह फल राजाको फिर दिया, उस फलको देखकर राजाको वड़ा सोच हुआ, और उसके समस्त हुता नतको जानना चाहा, प्रयत्न करनेसे उसको सव हुतान्त ज्ञात हो गया, तव तो उसको एकदमसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, और कहने लगा। (श्लोकार्थ) जिस प्रियतमाको में निरन्तर प्राणसे भी अधिक प्रिय मानता वह मुझसे विरक्त होकर अन्य पुरुपकी इच्छा करती है, और वह, अन्य पुरुप दूसरी स्त्रीपर आसक्त है, और वह अन्य स्त्री मुझसे प्रसन्न है इसलिये मेरी प्रियाको जो अन्य पुरुपसे प्राप्त है। यकार है, उस अन्यको जो (ऐसी रानी पाकर) अन्य स्त्रीपर आसक्त है धिकार है, उस अन्यको जो पुझसे प्रसन्न है धिकार है तथा मुझको और इस कामदेवको भी धिकार है। २॥

छप्पय—जाकी मेरे चाह वह मोसों विरक्त मन। और पुरुषसों प्रीति पुरुष वह चहत और धन। मेरे कृतपर रीझ रही कोऊ इक औरही। यह विचित्र गति देख चित्र ज्यों तजत न ठौरही। सब भांति राजपत्नी सुधिक् जारपुरुषकों परमधिक्। धिक् काम याहिधिक् मोहिधिक् अब ज्ञनिधिकी शरण इक॥ २॥

अज्ञः सुर्खेमाराध्यैः सुखर्तरमाराध्यते विशेषज्ञैः ॥ ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि चै तं नरं नैरंजैयति॥ ३॥

संस्कृत टीका—एवं ज्ञाते सीत स्वासमन् मूर्खत्वं ज्ञातमतो मूर्खळक्षणानि वदति । अज्ञ इति । यः केवळं न जानाति सोऽज्ञः मूर्खं इत्यर्थः स तृ शिष्टेन युक्तायुक्तमुक्तम् तच्छृणोति तथेव करोति, अतः सुखेन आराधितुं वशीकर्तुम् शक्यः । यस्तुविशेषं युक्तायुक्तं जानाति स विशेषज्ञः । कदाचित् प्रमादादयुक्ते कर्माण प्रवृत्तः सन्वपरेण निवारितथेच्छृणोति सच सुखतरमतिसुखेनाराच्यते । परन्तु उभयेर्धिक्क्षणोऽज्ञो न भवति पूर्णज्ञाताऽपि न भवति शास्त्रेष्वपि प्रवृत्तिनभवति बहुश्रुतन्तया स्वस्मिन् पण्डितंमन्यतया परस्य वचनमपि न स्वीकरोति किश्चित् ज्ञानळ्येन दुर्विद्रयक्षोगिवष्टस्तं वशीकर्तुम् चतुर्मुखोव्रह्याऽपि न शक्तः तार्हे इतरेषां काकथा । आर्यावृत्तिवदम् ॥ ३ ॥

भाषा टीका—मूर्खका पसन करना सहज है, ज्ञानीका पसन करना उ-ससे भी सहज है, परन्तु जो पुरुष अल्पज्ञानके मदसे भरे हैं उनको ब्रह्माभी पसन नहीं करसके ॥ ३॥

दोहा—सुखकर मृढ रिझाइये, अति सुख पण्डित लोग । अर्छदग्ध जड जीवकों विधिहुन रिझवन जोग॥ ३॥

> प्रसहाँ मौणिमुर्देरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रांकुरात् । समुद्रमिष संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ॥ मुजैङ्गमिष कोषितं शिरौस पुष्पवद्धार्रेयेत् । मुँ तुँ प्रतिनिविष्टमूर्येजनिचसमार्राधयेत् ॥ ४॥

सं े टी इदानीम् श्रोकद्वपेन मूर्खजनानाम् चित्तस्पाराधनाभावं सदद्यन्तं वर्ण्यते । प्र-तिरोति । मकरो नामसपविदीपस्तस्य पन्तदेष्ट्रांकुरस्तीसन्मृभाः समाणः प्रसाः महास्कीण नि ब्कासितुं शक्यो भवेत् । मकरमुखे मणेरभावो वर्तते किन्तु महताप्रयत्नेन सोऽपिसाध्योभविष्यति । तथा च प्रचलन्तीनामूर्मीणां लहरीणां मालाः समुदायास्ताभिराकुलं समुद्रमपि वाहुभ्यां सन्तरेत् ।

वाहुभ्यां समुद्रतरणमसम्भवमित किन्तु उपायेन तदिष सुगमम्भवित । तथा च कोषितं भुजङ्ग सर्पे शिरिस पुष्पवद्धारयेत् । एते अघटिताः दृष्टान्ताः कालेन भविष्यन्ति परन्तु प्रतिनिविष्ट भाविष्टचित्तः तस्य मूर्खे जनस्य चित्तं न आराधयेत् , आराधितुं न शक्य इत्यर्थः । पृष्वीवृत्तम् ॥॥॥

भा॰ टी॰—मगर की डाढोंमें से मणिका निकालना सहज है, प्रचण्ड लहरों के आवेगसे चश्रक समुद्र को तैरकर पार करना सहज है, कोपसे भरे सर्पको शिरपर पुष्पके समान धारण करलेनाभी सहज है किन्तु मूर्सका मन जिस वस्तु पर जम गया है उससे हटाना कठिन है ॥ ४॥

लम गया हु उससे हुआ स्वार प्राप्त प्राप्त स्वार हुआ स्वार प्राप्त स्वार प्राप्त स्वार प्राप्त स्वार प्राप्त स्व लिं बेच मृगतृष्णिकासुं सिटिंटं पिपासार्दितः ॥ कृद्गिचिद्देपि पर्यट्ठिंट्ड्इशिविधामासीद्येत् । नै तुँ प्रतिनिविष्टमूर्वर्जनिचत्तमाराधियेत् ॥ ५

सं॰ टी॰—लभेतेति । सिकतासु वालुकासु, तैलं यत्नत प्रयासेन पीडयन् सन् कदा-चिछ्ठभेत । तथाच पिपासार्दितः तृषातःसन् मृगतृष्णिकासु सिल्लिमुदकं कदाचित् पिवेत् । कदाचित् पृथ्वाः पर्यटन्सन् शशस्य विषाणं शृंगम् प्रामुयात् । एवमघटितघटनम् भविष्यति किन्तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनस्य चित्तं न आराधयेत् ॥ ५ ॥ छन्दःपूर्वोक्तम् ।

भा० टी० यत्नपूर्वक पेलनेसे रेतमें से तैल निकालना सम्भव है, मृग तृष्णासे प्यासेकी प्यास बुझाना सम्भव है. दूढनेसे खरगोशका सींग भी मिल-सक्ता है परन्तु मूर्खका मन जिस वस्तुकी ओर झुक गया है उससे हटाना सम्भव नहीं है ॥ ५॥

छ्प्य — निकसत वारू तेल जतनकर काढत कोऊ। मृगतृ-हणाको नीरिपये प्यासो है सोऊ। लहत शशाको शृंग माह मुखतें मणि काढत। होत जलियके पार लहर वाकी जब वाढत रिसभरे सरपको पहुप ज्यों अपने सिर पे धर सकत। इठभरे महासठ नरनकों कोऊ वसनहिं कर सकत॥ ॥ ॥ ५॥ महासठ नरनकों कोऊ वसनहिं कर सकत॥ ॥ ॥ ५॥ व्यालं बालमृणालैतन्तुभिरसी' रोहुँ समुज्जृम्भते'। र्छेतुं वज्रमणीव्छिरीषकुर्सुमप्रान्तेन सन्नह्यते'॥ माधुर्य' मधुबिन्दुनी रचिर्तुं क्षाराम्बुंधेरीहते'। नेतुं वाञ्छेति यें:खलान्पेंथि संतां सूक्तः सुधास्यंदिभि ।६।

सं० टी०—मूर्खजनानां सन्मार्गे प्रवेशोऽति दुर्छभ इसाह । व्यालिभिते । असी व्यालं गजं वालमृणालतन्तुभिः कोमलकमलतन्तुभीरोद्धमवरोद्धं वाञ्छति । तथाच वज्रमणीन् हीरक-मणीन् शिरीपकुसुमप्रान्तेन शिरीपपुष्पाप्रेण छेत्तुं सन्छिदी कर्त्तुं सन्नह्यतनुयुक्तो भवति । तथाच क्षाराम्बुधेः क्षारसमुद्रस्य मधुविन्दुना माधुर्य रचिवतुं कर्त्तुमीहते चेष्टते, यः खलान् दुर्जनान् सतां पिधे सुधास्यन्दिभिरमृततुल्यैः सूक्तैर्वािभर्मेतुं वाञ्छति ॥ शार्दूलविक्रीडितवृत्तमिदम् ॥ ६ ॥

भा० टी०—वह मनुष्य कमल की कोमल ढंढीसे हाथीको बांधना चाहता है, जिरीप के फ्लकी पंखरीसे हीरेको वेधना चाहता है, और मधु की एक वृन्दसे खारे समुद्रको मीटा करना चाहता है, जो खलोंको अपने अमृततुल्य वाक्योंसे सत् मार्ग में लोने की इच्छा करता है ॥ ६ ॥

छन्द्—कमल तन्तुसों वांधि गजिह वसकरन उमाहत। सिरस पुहुपके तार वज्रकों वेध्यो चाहत॥ वृंद सहतकी डार उदिध को खार मिटावत। तैसेही हित वैन खलनके मनिहें रिझावत॥ ६॥ स्वायत्तैमेकान्तगुणं विधात्रा, विनिर्मितं छाद्नमज्ञतायाः॥ विशेषतः सर्वविद्ां समांजे, विभूषेणं मीनंमपण्डितांनाम्॥ ७॥

सं० टी०—अधुना मूर्बस्य मूर्बतायाः छादनोपायमाह । स्वायत्तामिति । अङ्गतायाः मौर्स्वस्य छादनमाच्छादनं मौनं विधात्रा ग्रह्मणा विनिर्मितमुत्पादितं । कधमूतं मौनं स्वायत्तं स्वाधीनं, पुनः कथमूतं, एकान्ताः गुणाः । उत्कर्षाः यस्मिस्तत् एकान्तगुणं । तन्मौनं विशेषतः विशेषण स्विविदां स्विद्यानिनां समाजे समृहे अपिण्डतानां मूर्खाणां विभूपणं भवति । इह मूर्बस्य अङ्गताच्छा-दने केवछं मौनमेव उपायोऽस्तीति भावः । वृत्तमिन्द्रवजा ॥ १ ॥

भा० टी०—विघाताने मौन अर्थात चुप रहनाही अज्ञानता का टकना वनापा है, यह मनुष्यके आधीन है तथा इसमें औरभी अनेक गुण हैं। यही ज्ञानि-योंकी सभामें अज्ञानियोंका आभूषण है॥ ७॥ दोहा—सज्जन मन वशकरनकों रच्योविधाता मीन।
क्रनहूको आभरन मीन महासुख भीम॥ ७॥
यदा किञ्चिज्जाेऽहें द्विप ईव मदान्धः समभवम्।
तदा सर्वजाेऽ 'स्मीत्यभवद्वें लिप्तं ममें मनैः॥
यदा कि जित्वित्वे शिक्षद्वधजनसँकाशादवगतम्॥
तदा में के जित्वित्वे शिक्षद्वधजनसँकाशादवगतम्॥
तदा में के जित्वित्वे शिक्षद्वधजनसँकाशादवगतम्॥।।।।।

सं० टी०—यदेति । यदा यिसन् काले किंचिज्जोऽहं तदा द्वाम्यां शुण्डतुण्डाम्यां पिन-तीतिद्विपोगजः । स इत्र मदेन अंघड्डित मदांधः समभवं जातः, तदा तिसन् काले अहं सर्वज्ञोऽ-स्मीति मममनोऽविलेतं गर्विष्टमभवत् । तदुपिर यदा वुधजनस्य पिण्डतजनस्य सकाशात् संसर्गात् किंचित् किंचित् ज्ञानं अवगतं प्राप्तं तदा अहम् मूर्खोऽस्मीति ज्ञातम् पूर्व यो मे मम मदः गर्बोऽ-भवत् सोऽपि ज्वर इव व्यपगतः । शिखरिणी वृत्तमिदम् ॥ ८ ॥

भा॰ टी॰—जन, मुझको थोडासा ज्ञान हुआ तन में हाथी की तरह मदसे अंधा होगया, और यह समझनें लगा कि ज्ञानमें मुझसे कोई अधिक नहीं है परन्तु जन निद्वानों की संगतिसे मुझको कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ तन मुझको ज्ञात होगया कि मैं मूर्ख हूं और मेरा मदज्वर के समान उत्तर गया॥ ८॥

छप्पय—जब हों समझों नैक तबहि सर्वज्ञ भयों हो । जैसे गज मदमत्त अंधता छाय गयो हो ॥ जब सतसंगतिपाय कछुकहों समझन लाग्यो । तबहि भयो अति मूढ गर्वगुणको सब भाग्यो॥ ज्वर चढतचढत अतिताप ज्यों उतरत सीतल होत तन । त्योंही मनको मद उतरिगो लियो शील सन्तोषपन ॥८॥

कृमिकुलैचितं लालौक्किनं विगहिं जुगुप्सितम्। निरुपमॅरसं प्री त्या खादेन्नरास्थि निरामिषम्॥ सुरपतिमैंपि श्वीं पार्श्वस्थिं वि'लोक्य ने शैंक्कते। नहिं गणैयति कुँद्रो जैन्तुः परिमहेंफल्गुताम्॥९॥

सं टी - इदानी क्षुद्रिविषये छितं जनं श्वद्यान्तेन निन्दिते। कृमिकुलेति । यथा कृमिकुलेभितं स्यातं लाख्या किन्नमाई विगर्हि अपवित्रमतएय जुगुप्तितं निन्दां, निर्गता उपमा यस्य एतादृशो ये। रसः तं निरामिषं मांसरिहतं नरास्थि प्रीत्या खादन् श्वा पाश्वस्थं. समीपस्थमपि सुरप-तिमिन्द्रम् विलोक्य न शंकते तथा क्षुद्रः नीचा जन्तुः प्राणी, परिप्रहस्य फल्गुतां निःसारतां नगणयति न मनुते । हरिणीवृत्ताभिदम् ॥ ९ ॥

भा० टी०—जैसे कुत्ता कीढों के समूहसे भरी हुई, लारसे भोगीहुई, हुगेन्ययुक्त, निन्दित, निरस, और मांसरहित हुड़ी को पीतिसे खातेसमय पास खढे हुए इन्द्रको भी देखकर जंका नहीं करता है वैसेही क्षुद्र जीव जिस पदार्थ को प्रहण करलेताहै उसकी निःसारता पर ध्यान नहीं देता अर्थात् उसको श्रेष्ठ ही समझता है ॥ ९ ॥

कुण्डलिया—कूकर सिर कीरापरे गिरे वदन तें लार । बुरो वास विकरालतन बुरो हाल वीमार ॥ बुरो हाल वीमार हाड सूखेकों चावत । सुरपित हूं की शंक नैक हूं करत नसावत ॥निठुर महा मन मांहि देख घुर्रावत हूकर । तैसेही नर नीच निलज डोले ज्यों कूकर ॥ ९ ॥

शिरं शाँवी स्वर्गीत्पंतित शिरंसर्र्तित्वितिधरम् । महीधौंदुत्तुङ्गाद्वीनिमवैने श्रौ पिजलीधिम् ॥ अधो गङ्गा से ये पदमुपेगता स्तीकमथवी । विवेकभ्रेष्टानां मवैति विनिपातः शतमुँखः ॥ १० ॥

सैं० टी०—यः पुरुष उत्तमपदाद्रष्टः सन् अधः पतित स पुनः उर्चपदम् न प्राप्नोतीति गङ्गाद्रष्टान्तेन द्योतपति । शिर इति । स्वर्गात् गङ्गा विष्णुपादोदसमादौ शार्वशार्वो भहादेवस्त-स्यदं शार्वे ग्रिसे मस्तकं पतित, तत् पश्चात् शिरसः श्चितिषरं हिमालयपर्वतं पतित, उत्तुङ्गात् महीं धारयतीति महोधः पर्वतस्तात् अवीन पृथ्वी पतित, अवनेश्वापि जलीषे समुद्रं पतित, एव-मियंगङ्गा अधोधः स्तोकमल्पं पदं स्थानं उपगता प्राप्ता । अथवा विवेकमृष्टानां विचारहीनानां शत-मनेकानि मुखानि वदनानि यस्य तारशो विनिपातोऽधःपतनं गङ्गाजलबद्भवतीत्त्यर्थः । विवेकशृन्याः पुरुषाः सर्वदा नीचं पदं प्राप्नुवन्ति, तेपां नान्यागितिरिति भावः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ १०॥

भा०टी० यह गङ्गा प्रथम स्वर्गसे शिवजीके मस्तकपर गिरी, फिर वहांसे ऊंचे पर्वतपर, और पर्वतसे पृथ्वीपर, और पृथ्वीसे समुद्रमें, इस भांति कमसे नीचेही गिरती गई, इसी तरह जिन पुरुषों को किसी प्रकारका ज्ञान नहीं रहा, वे सर्वदासे सौ सौ प्रकारसे नीचेही गिरते जाते हैं ॥ १० ॥

दोहा—ईशशीश तिज स्वर्ग तिज गिरवर तजे उतह । अवनी तिज जलिधाहि मिली पदसोंपर मुख गङ्ग ॥१०॥

शक्यो वारौंयतुं जलेने हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपे । नागेन्द्रो निशितांकुशेन समँदो दण्डेने गोगर्दे भी॥ व्योधिर्भेषजैसङ्ग्रहेश्र्ये वि विधिर्मन्त्रप्रयोगिविधम् । सर्व स्योषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्कस्य नास्त्योषधम् ॥११॥

सं० टी० सर्वरोग निरसनोपायो लोक शास्त्रच विहितः किन्तु मूर्खस्य मूर्खत्वनाशको पायः कुत्रापि नास्ति इत्याह। शक्य इति "हतं भुंक्ते " इति हुतभुगिन्नः जलेन वारिणा वारियतं शक्यः। तथा " सूर्यातपं उष्णत्वं छेत्रण वारियतुं शक्यः। तथा मदेनसह " समदो नागेवं गजराजः निश्चितेन तीक्ष्णेनाङ्कशेन वारियतुं शक्यः। तथा गौरुच गर्दमश्च तौ गोगर्दभौ दण्डेन तथा व्याचि, भेपजस्यौपधस्य संग्रहेः सेवनः। तथाच विषं विविधैर्मत्रप्रयोगेः वारियतुं शक्यं एवं सर्वस्य शास्त्रविहितमौपधमस्ति परंतु मूर्खस्य मूर्खत्विनरसनरूपमौपधं कुत्रापि नास्तीति शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमदिम् ॥ ११ ॥

भा० टी० जलसे अग्निका रोकनासम्भव है, छत्रीसे ध्रका निवारण करन सम्भव है, मतवाला हाथी भी अकुंशसे वशमें हो सक्ता है, गौ गर्दभ आदि चौपायें को दंढ देकर वशमें कर सक्ते हैं, रोगको विविध मकारकी औपघोंसे द्र करन सम्भव है और मंत्रदारा विष उत्तर जाता है इस मकार प्रथ्वीपर सब वस्तुओं की शास्त्रोक्त औपिये हैं. परन्तु मूर्जुताकी कोई औपिय नहीं है.॥ ११॥

छण्य-मिटे छत्रसों धूप और जलअग्नि युझावे ॥ तीखे अंकुश मार मन गजवसमें लाव ॥ दंड दिये तें दुष्ट वेल अरु गदहा मुख्य ॥ आपधि विविध प्रदान व्याधि खोवे चित तृ रख ॥ लिखे अनेकन मंत्र हरहिं विषताजु सवनकी ॥ पे नहिं औषध एक मुर्खता दृहे कुत्रनकी ॥ ११ ॥

साहित्यसंगीतकलाविहीर्नः सौक्षात्पर्शुः पुच्छविषाणैहीनः ॥ तृणं नं खाँदन्नपि जीवमानर्रतं द्वार्गीधेयं पर्रमं पश्नीम् ॥१२॥

सं० टी०—साहित्यसंगीतकलाविहीनः पुरुषः साक्षात् पशुरित्याह । साहित्येति । साहित्यं काञ्यालंकारादि । संगीतं गानादि । कलाः शिल्पादयः । एतेर्यो विहीनःस साहित्यसंगीतकला-विहीनः एतादशः पुरुषः पुरुद्धप्राविषाणञ्च पुरुद्धिषपणे ताभ्यां होनो रिहेतः साक्षात पशुरेव । दिणभक्षणं पशुनां धर्मस्तिहि सुतो नायं खादतीत्याह । तृणभिति । तृणं न खादन्भक्षयन्तिष जीवमान इदं तु इतरपश्नां परममुत्कृष्टं भागध्यमद्दष्टं मनुष्यमात्रेण धर्मशास्त्रमवश्यमाकलनी-पमिति भावः । उपजातिवृत्तमिदम् ॥ १२ ॥

भा० टी०—जिस मनुष्यने साहित्य और संगीतशास्त्र नहीं सीखा वह विना पूंछ और सींगका साक्षात् पशु है, तृण खाये विनाही जीता है यह उस पशुका परम भाग्य है।। १२॥

कुंडिलिया—गीत और साहित्यमें जो न लहे कलुभेद ॥ ताहि देखके होत है मेरे चित अतिखेद ॥ मेरे चित अतिखेद देखकर वाकी सूरत ॥ सींगपूंछ विन फिरै मत्तपशुकीसी मूरत ॥ विना घास जीवत वहे यही कुटिल है नीत ॥ ऐसे नरसें और पशु हैं उत्तम अनुरीत ॥ १२ ॥

येषां नै विद्यों ने तैपो न दाने । इति ने शिक्ष ने गुणो ने धेमिः॥ ते मर्त्यकीके भुवि भारभूर्ती। मनुष्येरूपेण भृगाश्चरन्ति ॥ १३॥

सं० ट्रें ०—विद्यादिधर्महीना नरा मनुष्यरूपेण मृगा इव भूमी विचरन्ति, इत्याह । येपामिति । येपां विद्या व्याकरणन्यायादिर्न, तपे। वित्यापासि न, दानं न, झानं न, शीलं सद्वृत्तं न "शीलं स्वभावे सद्वृत्तं " इत्यमरः । (सत्यादिः) गुणो न, धर्मो न, एवंभूता ये मनुष्यास्तेऽस्मिन् मर्त्यलोके भुवि भारभूताः सन्तो मनुष्यरूपेण मृगाः पशव इव " मृगः पशो मुरंगे " इति भेदनी । चरन्ति विचरन्ति । विद्यादिसदाचरणहीनाः पुरुषाः पशुसदशा इति मावः । पशुत्विनरसनार्थः विद्या अवश्यमेव पठनीया ! उपजातिवृत्तिमदम् ॥ १३ ॥

भा० टी०—जिन मनुष्योंको न विद्या है, न तप है, न दान है, न जान है, और न जिनमें शीछ, गुण और धूर्भ है, वे इस पृथ्वीपर भारक्षप हैं, वे मनुष्य-रूप धारणकर पशुके समान विचरते हैं ॥ १३ ॥

दोहा--विद्यादान न ज्ञान तप शीलधर्म गुणहीन ॥

विचरिं मिह नररूप पशु भूमिभार अतिदीन ॥ १३ ॥ वैरं पर्वतदुर्गेषु आन्तं वनंचरेः सहं ॥ नं मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभैवनेष्वपि ॥ १४ ॥

सं टी॰—पर्वते वनचरै: सह श्रमणं श्रेष्टं किन्तु मूर्वजनसम्पर्कः स्वर्गेऽश्रुचिते। न, इत्याह । वरिभिति । पर्वतदुर्गेषु वनचरैः व्याव्यादिभिःसह श्रान्तं श्रमणं वर्मुत्कृष्टं, परन्तु मूर्खं जनसम्पर्क इन्द्रभवनेष्विप मास्विति । अनुष्टुव् वृत्तिमदम् ॥ १४ ॥

भा॰ ठी॰—पर्वतों और वनोंमें वनचरोंके संग विचरना श्रेष्ठ है परन्तु मूर्त्वमनुष्यका संग स्वर्गमेभी दुरा है ॥ १४ ॥

दोहा—वनचरसंग रहवा सुखद वनपर्वतके मांहि । विकास स्वर्गह् दुखयुत संशय नांहि ॥ १४ ॥

इत्यज्ञनिंदाप्रकरणम् ।

शास्त्रोपस्कृतशॅब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागर्मा । विख्याताः कवयो वसान्ति विषये यस्य प्रभोनिर्धर्नाः ॥ तंजाङ्ये वसुधाधिपस्य कवयो हैं। विनीपिश्वरीः ॥ कुत्स्योःस्युः कुपरीक्षेका हि भणेयो येर्धतः पातितौः १५

सं टी०—यस्य राज्ञो देशे कवया निर्धना वसन्ति स राजा मूर्ख इत्याह । शास्त्रिति । व्याकरणाभिधानादिभिः शास्त्रैरुपस्कृताः शिक्षिताः शब्दास्तैः सुन्दरा गीर्वाणी येषान्ते । तथा च शिष्येभ्यः प्रदेया दत्ताः पाठिता आगमा वेदशास्त्राणि येस्ते । तथा च सर्वलेकेपु विख्याताः प्रसिद्धाः कवयः कवित्वं कुर्वाणाः । एवंभूता विद्वांसो यस्य प्रमोर्विपये देशमध्ये वसन्ति अथ च निर्धना धनरिहताः । राजा तान्त्रेव जानाति तेषां परामर्शे न गृह्णाति, तत् वसुवाधिपस्य राज्ञो जाड्यं मौर्छ्यं । कवयस्तु मुधियस्तु अर्थ विनापीस्त्रराः समर्थाः । यथा मणयो वहुमूल्यास्ते कुपरी- क्षकिरहात्वा अर्वतो मूल्यतः पातिताः न्यूनमृत्याः कृताः तर्ह्ययं दोषः परीक्षकाणां न तुःमणीनां ।

परीक्षकाः फुत्त्याः स्युः कुत्तिता एव न तु मणयः । ये भूपतयः सन्तस्तादृशानां कवीनां स्वरूपं न जानन्ति ते मणिमूल्यं यथार्थमजानन्तः कुपरीक्षका इव निद्या इत्यर्थः । तस्मात् राज्ञा कवयोऽ-वस्यं आदरणीया इति भावः । शार्दूळिविकीडितृवृत्तिभिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०—जिनकी वाणीको शास्त्रोक्तशब्दोनें सुन्दर कियाहै, और जिनकी विद्या शिष्योंके पढाने योग्य है, ऐसे मिसद्ध किव जिस राजाके देशमें निर्धन रहतेहैं वे राजा मूर्ल हैं, कविलोग तौ विनाद्रव्यकेही श्रेष्ट हैं। तथा वे राजा उस जौहरीकेसमान मूर्ल हैं जो मिणको न पहिचानकर उसका मूल्य घटातेहैं॥ १५॥

छप्पय—सब यन्थनको ज्ञान मधुर वाणी जिनके मुख। विनिन्त प्रति विद्या देत सुजसको पूर रह्यो सुख। ऐसे कवि जिहिं देश वसत निर्धनता लहि अति। राजा नांहि प्रवीणभई याही ते यह गति॥ वे है विवेक सम्पति सहित सब पुरुषनमें अतिहि वर। घट कियो रतनको मोल जिन तेई जो हरीकूरनर॥ १५॥

हर्नुर्याति ने गोचैरं किँमपि दां पुष्णांति येत्सर्वदां ॥ ह्यंथि भ्येः प्रतिपाँचमानमानिदां प्राप्तांति वृंदिं पराम् ॥ कर्ल्पाते प्वेपि ने प्रयोति निधनं विद्यारिक्यमंतर्धनम् ॥ येषां तान्प्रेति मोनमुज्झैत क्पोंः कैस्ते सहें स्पैर्धते॥१६॥

सं० टी०—राज्ञा कवयः सर्वदा आदरणीयाः नतु अहंकारेण निर्भत्सनीया इति श्लोकहृयेनाह । हर्तुरिति । मो नृपा राजानः ! येपां विद्याख्यमन्तर्धनं वर्त्तते तान्प्रति मानमहंकारमुज्ज्ञत त्यज्ञत । कथंभूतं विद्याख्यं धनम् । हर्तुस्तस्करस्य यद्गोचरं न याति तस्य दर्यं न भवति ।
पनः कथंभूतं किमप्यनिर्वचनीयं शं सुखं पुष्णाति पुष्टिं प्रापयति । पुनः कथंभूतं । सर्वदा
सर्वकालेष्विप व्यर्थिम्यः शिष्येभ्यः प्रतिपाद्यमानं दत्तं परामुत्कृष्टां वृद्धिं प्राप्नोति । पुनः कल्पान्ते
प्विप निधनं नाशं न प्रयाति न प्राप्नोति । एतादशं येपामन्तर्धनं तैःसह कःस्पर्धते स्पर्धी करोति ।
न कोऽपील्यर्थः । शार्दूलिकािंडतं वृत्तमिदम् ॥ १६ ॥

भा० टी०—जो चोरको नहीं दीखसक्ता, जो सदैव मुखकी वृद्धि करताहै, जो जिज्ञासुओंको देनेसे परमवृद्धिकोमाप्तहोताहै, तथा कल्पान्तमें भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसा विद्यारूपी गुप्तथन जिनकेपास है उनसे है राज्य को । कभी अभियान मत करो- क्योंकि उनके समान इस जगत्म ५०० को न के । व १६।

हायम् — चोर सकत नहि चोर भोर निशि पुष्ट करत हित। क्यिन्हें को देत होत क्षण क्षणमें अगणित। कवहं पिनसत नहीं नवन विचा स गुत्रधन। जिनके ये सुख साज सना निन्दी प्रमान मन॥ गजाधिराज हात्रपति ये पती अधिकार की । जनते निहार हम फेरवो यह तुमको है उचित नहि॥१४४

तीयनपरमांथांनाण्डितानमांवमंस्थां। रत्यांवर्व त्यां त्यांमां नेतें तोनसंस्कोदि॥ योगनवमद्देयवादयांमगण्डस्थलानाम्। योगनि विमनिन्तुवर्णि वारणानीम्॥ १७॥ अम्मोजिनीवनिवाँसविलासमेवं। हंसस्य हन्तिं निर्त्तरां कुपितो विधाता ॥ निर्द्वस्यं दुग्धजलमेदंविधो प्रसिद्धीम्। वेदग्ध्यंकीर्तिमैपहर्तुमैसो समैर्थः॥ १८॥

सं० टी०—शोपाधिकगुणान् निवर्तायेतुं छोकः समर्थः किन्तु स्वामाविकगुणं निवर्त-पितुं न कोऽपि समर्थ इति हंसदृष्टान्तेन द्योतयित । अम्मोजिनीति । यो यस्य स्वामाविकः सर्गुणस्तं गुणं न कोऽपि हर्तुं शक्तोति । अत्र दृष्टान्तः । अम्मसो जाताः कमिछन्यस्तासां वनं तत्र निवासो वसितस्थानं तेन विखसदम्भ एतादृशं हंसस्य विलासं विधाता ब्रह्मा नितरामस्यन्तं कुपितश्चेद्वि-लासमेव हान्ति न तु दुग्धजलयोभेदिविधो यत् प्रसिद्धं वैदग्ध्यं चातुर्य्यं तस्य कीर्तिस्तांहर्तुं समर्थः । तर्हि इतरेषां का वर्ता । वसन्ततिलकावृत्तमिदम् ॥ १८ ॥

भा॰ टी॰—हंसपर यदि विधाता कोप करे तो उसका कमलके वनोंका निवास और वहांका विलास नष्ट करसक्ताहै; परन्तु उसके दूध और पानीके अलग करनेकी मसिद्ध कीर्तिको नहीं नष्ट करसक्ता; अर्थात् उसके गुणोंको नहीं छीनसक्ता ॥ १८॥

सोरठा—कमलन डारै खोय कोप करै विधि हंस पै। पय पानी संग होय जुदे करे ले सकत नहि॥ १८॥

केयूरों ने विभूषयंति पुरुषं हारा न चंद्रोज्ज्वेला। ने स्नानं ने विलेपेनं ने कुर्सुमं नीलंक्त्रती मूर्डजी:॥ वर्ण्यिकी समलंकेरोति पुरुषं यो संस्कृती धार्यते। क्षीयेति खर्लुं भूषणीनि सतते वाग्भूषेणं भूषणमें॥१९॥

सं० टी—केयूरादयोऽलंकाराः पुरुषं न विभूपयन्ति किन्तु वागलंकारो हि तस्योत्तमोऽलंकार इसाह । केयूरेति, केयूरा बाहुभूपणानि, चन्द्रवदुञ्ज्वला मुक्ताफलानां हाराः, शुद्धं स्नानं, विलेपनं गंधादिकं, कुसुमं पुष्पं च अलंकताः सज्जीकृताः धूपिता मूर्यजाः केशाः ऐते पदार्थाः पुरुषं न भूप-यन्ति । यदा मोर्ल्यं पुरुपं तदिभिः किभूपणं भवति । तर्हि कि एका वाक् सम्यक्प्रकारेण अलक्तरोति शोभयति, साऽपि वाक् या संस्कृता व्याकरणादिशास्त्रसंस्तारयुक्ता पुरुषेण धार्यते ।

सिनमत्र निवाहत ॥ धनसंचय फल हीन होय विद्याजु अवूषण। लजायुत जो होय ताहि निहं चिहये भूषण ॥ २१ ॥ दाक्षिण्यं स्वंजने द्याँ परजैने शाँठ्य सर्दां दुर्जने। प्रीतिः साधुर्जने नैयो न्यजैने विद्वजैनेष्वार्जवर्म् ॥ शोर्थे शत्रुर्जने क्षमाँ गुरुर्जने नारीर्जने धूर्ततीं। येथे चेवें पुरुषीः कलासुँ कुशलैंस्ते ध्वेवें लोकस्थिंतिः॥ २२॥

सं० ठी०—अधुना छोकास्थिति द्योतयित । दाक्षिण्यमिति । स्वजने पुत्रकलत्रादी दाक्षिण्यमोदार्थ्यं "दक्षिणे सरलो दारावित्यमरः" । परजने दया क्रपा "क्रपा दयाऽनुकम्पा स्यादित्यमरः" । दुर्जने शठमनुष्ये सदा शाठयं शठता, । नृपजने राज्ञि नयो नीतिन्यायः, । विद्वजनेषु पिण्डतेष्वार्जवमृजुत्वम् । साधुजने प्रांतिः । शत्रुजने शौर्ये शूरता । गुरुजने मान्यजने क्षमा । नारीजने धूर्तता । एवमनेन प्रकारेण ये पुरुषाः कलासु कुशला दक्षास्तेष्वेव लोकानां स्थितिः मर्यादापालनम् । वृत्तं पूर्वोक्तमेव ॥ २२ ॥

भा० टी०-स्रीपुत्रादिपर उदारता, परजनोंपर द्या, दुर्जनके संग शहता, भलोंके संग भीति, राजसभामें नीति, विद्वानोंके संग नम्रता, शत्रुके मित श्रूरता, वहेलोगोंसे क्षमा, और स्नियोंके साथ धूर्तता, जो पुरुष इन सब कलाओं क्रिशल हैं उन्हींसे लोककी मर्यादा है ॥ २२॥

छप्पय—सजनसों हित रीति दया परजनसों भाषहु । दुर्जन्ति शठभाव प्रीति सन्तन प्रति राखहु । कपट खलनसों राखि विनय राखों वुधजनसों । क्षमा गुरुनसों राख शूरता वैरीग्णसों । धूरतता राखि युवतीनसों जो तू जग विसवो चहे । अति ही करालकलिकालमें इन चालनसों सुख लहे ॥ २२ ॥

करालकलिकालमें इन चालनसों सुख लहें ॥ २२ ॥ जौडयं धियो हरेंति सिञ्जाति वाचि सत्यम् । मानोर्झातिं दिशाति पापंमपाकेरोति ॥ चेतिः प्रसाद्यति दिक्षें तैनोति कीर्तिम् । स.संङ्गतिः कथयें किं ने केरोति पुंसाम् ॥ २३ ॥ सं० टी०—इदानी सत्सङ्गतेः प्रभावं वर्णयंति । जाड्यमिति । सत्सङ्गतिः साधु-जनानां समागमः वियः बुद्धेजीडयं मन्दतां हरित, वाचि वाण्यां सत्यं सिंचति, मानस्योन्नितं दृद्धि दिशति ददाति, पापमपाकरोति दूरीकरोति । चेतिश्चतं प्रसादयित प्रसन्ततां नयति । दिक्षु कीर्ति यशः तनोति विस्तारयित । एवंच सत्सङ्गतिः पुंसां किर्कि न करोतीति कथ्य वद वसन्त-तिळकावृत्तमिदम् ॥ २२ ॥

भा० टी०—सज्जनोंकी संगात बुद्धिकी मन्द्रताको नाश करतीहै, वा-णीको सत्यताकी धारासे सींचती हैं, मानको बहातीहै, पापको दूर करतीहै, वित्तको मसन्न रखतीहै, और चारोंओर यशको फलातीहै, फिर बताओ यह मनुष्यको क्या २ लाभ नहीं पहुंचाती॥ २३॥

दोहा—अडताई मितकी हरत पाप निवारत अह । कीरित सत्य प्रसन्नता देत सदां सत्सङ्ग ॥ २३ ॥ जयन्तिं ते सुकृतिनो रसित्दाः कवीश्वराः ॥ नांरितं येषां यदाःकाँये जरामरणंजं भयम् ॥ २४ ॥

सं० टी०—अधुना रसिसद्रकवीधराणां सर्वेत्वर्पत्वमाह । जयन्तीति । रसेषु मृहारा-दिपु सिद्धाः परिवृणीः सुद्धतिनः पुण्यवन्तः "सुकृती पुण्यवान् धन्य" रत्यमरः। ते कर्दाधारः कविश्रेष्टाः जयन्ति सर्वेत्वर्पेण वर्त्तन्ते । ते के, येषां यशःकाये वीर्तिरूपदेहे जरा च मरणं च ताभ्यां जातं भयं नास्ति । अनुष्टुवृक्षत्तिमदम् ॥ २४ ॥

भा विश्न जिम होनेसे पुण्यात्मा कवीश्वरीकी जिनने रसीको मिद्र किया, बीर जिनकी यशरूपी कायाको बुटापे और मृत्युसे भग नहीं है।। २४॥ दोहा-सबसें ऊंचे सुकवि जानत रसकी सोत।

जिनके जसकी देहको जरामरण नहि होत ॥ २४ ॥ स्र्रंनुः सञ्चरितः सँती त्रियतमाँ स्वांमी त्रसादोन्मुर्खः । स्निग्धं मित्रँमवर्चकः परिजंनो निः हेश्लेश्वं मर्नः आकारो स्विंशं स्विंशं विर्मवो विद्यावदीतं मुर्खम् ।

तुंष्टे विष्टपहीरिणीप्टदहरी संप्राप्यते देहिनी ॥ २५॥

सं० दी०—भगवत्प्रसादादेव सञ्चिरतादियुक्ताः पुत्राद्यो भवन्तित्याह । सूनुरिति । पुत्रः सञ्चिरतः सहृतः । अतिशयेनिप्रिया प्रियतमा सती । स्वामी प्रसादे प्रसन्नतायां उन्ने उ यस्येति प्रसादोन्मुखः । स्निग्धं स्नेहयुक्तं मित्रम् । अवंचकः परिजनः स्वकीयजनसमुदायः । नि छेशामाधिरिहतं स्वस्थं मनः । आकारो रुचिरः । स्थिरश्च विभवः ऐश्वर्थं । विद्ययाऽवदातं से मुखमिति । ऐते पदार्था विष्टपहारिणि स्वर्गवासिनीष्टदहरौ नारायणे तुष्टे प्रसन्ने सित परिजेण प्राप्यन्ते ॥ शार्द्छविक्तीडितं वृक्तमिदम् ॥ २५ ॥

भार्ंदी ॰ सपूतलडका, पितत्रतास्त्री, इंसमुखस्वामी, प्रेमीमित्र, कुटुम्बी, क्रेशरिहत मन, सुन्दरस्वरूप, स्थिरसम्पत्ति, और विद्यासे शोभित मुन्दे से सब उस मनुष्यको प्राप्तहोतेहैं जिसपर सम्पूर्णमनोरधोंका देनेवाला स्वर्म वासी ईश्वर प्रसन्न हो ॥ २५ ॥

छप्पय—पुत्रमिछैंसचरित नारीह सतीसुहावन । स्त्रामी हँसमुख मिछै मीत्रह प्रीतिनवाहन ॥ परिजन छलसों हीन कलहिन मन सुखकारी ॥ आनन सुन्दर मिलै अचल लक्ष्मीह भारी ॥ सब शोभाकी खान मिलै विद्यामुख मंडन ॥ होंहि प्रसन्न रमेश सकल अघओघ विखंडन ॥ २५ ॥

प्राणाघातांत्रिद्यत्तिः परधनैहरणे संयमः सत्यवाक्यम् । काँछे शक्तया प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ॥ तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषुँ चे विनर्थः सर्वभूतानुकभ्षा । सामान्यः सर्वर्शास्त्रिष्वनुपर्हतविधिः श्रेयंसामेषंपंथाः ॥२६॥

सं टी०—प्राणावातादिति । प्राणस्य भारमनोऽन्यस्य वा भावातो हनवं तस्मानि वृतिः । परधनहरणे संयमिश्चतस्य नियमनं । सत्यनाक्यं यथार्थवचनम् । योग्यकाळे शक्त्या दानम् । परेपां युत्रतिजनकथासु मृक्तभावस्तृष्णामावः । तृष्णाळक्षणं स्नेतत्तस्यविभङ्गः भाशाप्रवाहं निवर्तनम् । गुरुपु विनयो नम्नत्वम् । सर्वभूतेष्वनुकम्पा छपा । ऐते पदार्थाः सर्वशास्त्रिपु सामान्यतो वाहुत्येन अनुपहतविधिः न त्यक्तो विविर्मर्यादा एवंभूतः श्रेयसां पुण्यानामेषः पन्याः मार्गः प्रोक्तः स्वयरावृत्तिमिदम् ॥ २६ ॥

भा० टी॰—जीवहिंसा न करना, परधनहरण न करना, सत्यवोलना, सम-यपर यथाझक्ति दान करना, पराईस्त्रियोंकी कथापर ध्यान न देना, तृष्णाके भवाइको तोडना (लोभको छोडना) बडेलोगोंसे नम्रता करना, भाणिमात्रपर दया करना, और शास्त्रानुसार विधिपूर्वक कार्य करना, ये सब मनुष्योंके कल्या-णके मार्ग हैं ॥ २६ ॥

छप्पय — तजे प्राणकी घात और परधन निहं राखे। पर-युवतीकों त्याग वचन झूंठे निहं भाखे। निजहाथन जुित दान, देत तृष्णाकों रोकत। दया सवनमें राख गुरुनके चरनन ढोकत। यह संमत है श्रुति सुमृतिको सवकों सुखदायक सुभग। जेचलत धीरते धन्यहै उनहींसो जगभगत जग॥ २६॥

> प्रारम्येते नै खलुं विष्ठभयेने नीचैः। प्रारम्यं विष्ठविहर्ता विरमन्तिं मध्याः॥ विष्ठैः पैनेंः पुनैरिपे प्रतिहन्यमानीः। प्रारम्ये चोत्तमजनी नैं परित्यजैन्ति॥ २७॥

सं टी०—इदानीं उत्तममध्यमाधमपुरुपाणां कार्यारम्भे वैचित्रयं वर्णयति । प्रारम्य इति । नीचैः क्षद्रैर्विष्ठमयेन यिकिचित्कर्म न प्रारम्यते नानुष्टेष्यते । मध्यमा आदौ प्रारममं कृत्वा पश्चात विष्ठेन विहता वाधिताः संतः कार्यं तथैव परित्यजन्ति । उत्तमजनास्तु यदारम्धं कार्यं पुनः पुनः विष्ठेन प्रतिहता अपि नपरित्यजन्ति । वसन्तितिङकाष्ट्रचमिदम् ॥ २७॥

भा० टी०—नीचमनुष्य विश्वके भयसे कोई काम आरम्भही नहीं करते, मध्यमपुरुष कार्यको आरम्भ तौ करदेवेहें पर विश्व होतेही छोड़देवेहें, परन्तु उत्तमपुरुष वारम्यार विश्व होनेपरभी जिसकार्यको प्रारम्भ करतेहें उसे पूरा-कियेविना नहीं छोडते॥ २७॥

छुप्य—करहिंन काज आरंभ विष्ठभय अधम अनारी। मध्य-म काजिह छेड विष्ठभय देंहिं विसारी ॥ उत्तम त्यागिह नाहिं करे जो काज अरंभा ॥ परें अनेकन विष्ठ तदापि रहें अडिगअथंभा । धनजन वैभव पाप रहें ऐसे जनसूरे। दें मूंछन्पे ताव फिरें जग सब सुख पूरे ॥ २७ ॥ असन्तो नांभ्यैथ्याः सुहद्पि न याच्यः कृशधनः। प्रियां न्याय्यां देतिर्मिलिनेमसुभक्तेऽप्येसुकेरम्। विपेधुच्चैः र्थियं पेदमनुविधयं चे महताम्। सैतां के नोदिष्टं विषमेंमसिधारात्रतमिद्म् ॥ २८॥

सं. टी० — अधुना सत्पुरुषाणां स्वाभाविकगुणान् दर्शयित । प्रियेति । असन्तो दुष्टाः नाभ्यध्याः न याचनीयाः । कृशधनोऽल्पधनः सुदृद्धि नयाच्यः । सर्वेषां प्रिया न्याय्या विष्युत्तां वृतिः । असुमङ्गे प्राणमङ्गेऽपि मालेनं पापमसुकरं नैव करोति । विषद्यापत्तो उच्चैः स्थयम् । महत्यरे स्थितो भवति स्वगोरवं न त्यजति । महतां पद्मैनुविधयं । यथा महान्तः स्वपदे स्वस्थाने महत्वेन स्थिताः तथायमप्यनुकरोति । इति विषममसिधाराव्रतं नैष्टिकवृतं सतां केनोदिष्टमुपदिष्टं न केनापि । अयं सतां स्वामाविको गुण इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तांभदम् ॥ २८ ॥

भा० टी०—अच्छेमनुष्योंको न्यायसे मेम होताहै, और वे पाण जाने परभी बुरे काम नहीं करते । दुष्टमनुष्यसे और स्वल्पधनवाछे मित्रसेभी कैसी ही विपत्ति क्योंनपडे नहीं मांगते, और अपने गौरवको ऊचपदसे नहीं गिरने देते। यह नहीं जानपडता कि तलवारकी धारसेभी कठिन यह व्रत किसने इनको सिखाया है ? ॥ २८॥

कुण्डित्या—मांगत नांहि न दुष्टसों छेत मित्रकों नांहि। प्रीति निवाहत विपदमें न्यायवृत्ति मन माँहि। न्यायवृत्ति मन माहिं उच्चपद प्यारों जिनकों। प्राणन हं के जात अकृत नहिं भावत तिनकों। खद्भुधारवत धार रहे कोहं नहि त्यांगें। सन्तन-कों यह मंत्र दियों कोने विन मागें॥ २८॥

॥ इति विद्वत्मशंसा ॥

अथ मानशौर्यपशंसा ।

W.

क्षुत्क्षांमोऽपि जराकृँशोऽँपि शिथिलप्रांयोपि कृष्टां दर्शा-। माप्नोऽपि विपन्नद्वीधितिरंपि प्रौणेषु नर्श्वंत्स्वपि ॥ मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलयासिकवदस्पृंहः। ैकिं जीणे तृणेमेति मानमहतीं मयसर्रः केसैरी॥ २९॥

सं. टी॰—अतिहीनदशामापन्नोऽपि मानी पुरुपः स्वमाननाशकं किमपि कार्यं न करोतीति सिंहान्योक्त्या ध्वनति । क्षुत्क्षामेति । क्षुत्क्षामोऽपि क्षुध्या क्षामो हीनसत्वोऽपि, जरया, करोतिति सिंहान्योक्त्या ध्वनति । क्षुत्क्षामेति । क्षुत्क्षामोऽपि । विपन्नदीधितिरपि, निस्तेजाअपि । गणेपु नश्यत्विषे मरणसमयं प्राप्तोपि । एवं जाते सित क्षुधानाशार्थं केसरी सिंहः कि जीर्ण गणमत्ति मक्षयति । कथंमृतः केसरी महान्तश्चते इभेन्द्राश्च तेषां विभिन्ना विदारिताः कुम्भाः गण्ड-थट्यानि तेषां ये मांसकवट्यास्तेषां प्राप्तास्तेषु वद्दा स्पृहा येन । पुनः कथंमृतः मानेनाभिमानेन वहान्तस्तेषांमध्येऽप्रेसरोऽप्रगण्योऽहंकारयुक्तः । एवं सिंहवदहंकारवान् पुरुपार्थी पुरुषः क्षुद्रकार्यं वावटम्बते । शार्द्वविक्रीडितवृत्तमिदम् ॥ २९ ॥

भा. टी०—भूखकेमारे हुईछ, शक्तिहीन, बुढापेसे दुःखी कष्टकी दशा को प्राप्त तेजहीन और महान्युरुपोंमें अग्रगण्य सिंह प्राण जानेवाले हों तौ-गी मदवाले हाथीके मस्तकको फाडकर मांस खानेकी इच्छा रखताहै, सूखी घास बानेकी नहीं । इस श्लोकका अभिप्राय यहहैं कि चाहै जैसी विपत्ति क्यों न हि उत्तम पुरुप नीचकर्भ कभी नहीं करते ॥ २९ ॥

कुण्डिटिया—नाहर भूखों उदर क्रश वृद्ध वयस तनक्षीण। शिथिल प्राण अतिकप्टसों चिलवेही मेंलीन। चलवे ही में लीन जि साहस निह छाँडै। मदगज कुम्भविदार मांसभक्षण मन-गाँढै। सृगपति भूखों घास पुरानों खात न जाहर। अभिमनिन में मुख्य शिरोमणि सोहत नाहर॥ २९॥ सं० टी०—कुसुमेति । कुसुमानां पुष्पाणां स्तवको गुच्छस्तस्येव प्रशस्तं मने।ऽस्य मनिति त्यां द्वे गती स्थितीस्तः, के ते प्रकाराः यथा ग्रहीतिर सित पुष्पस्तवकेन सर्वछोकस्य मूर्धि मस्तके अवशीयित अथवा वने विशीर्येत । तथा मनिस्तनः हितोपदेशकरणेन पूज्या भवन्तीत्यन्यथा तृष्णी मवितष्टन्त इति ज्ञातन्यम् । अनुष्टुव्वृत्तमिदम् ॥ ३३ ॥

भा॰टी॰—श्रेष्ठपुरुपोंकी गति फूलके गुच्छेके समान दोपकारकी है, कि या तो वे सवलोगोंके शिरही पर विराजते हैं अथवा वनमेंही सूखकर नष्ट हो जाते हैं।। ३३॥

दोहा--पहुप गुच्छ सिरपे रहे के सूखे वन माँहि। मान ठोर सत् पुरुष रहिके सुखदु:ख घन मांहि॥३३॥

संत्यन्येऽपि वृहस्पातित्रेश्वतयः संभाविताः पर्ञ्वेषारतीनेत्रत्येषं विशेषविक्रमेरुची राहुं ने वेरायंते ॥ द्वावेवं येसते दिनेश्वर्राने-शाप्राणेश्वरो भाँसुरो आर्तः पैर्वणि प्रवेय दानवंपतिः शीपीवशेषीकृतः ॥ ३४॥

सं० ६१०—युगः समानपराक्रमान् पीडयन्ति अल्पवीर्यान् नेति राहुदृष्टान्तेन ध्वनिति । सन्दिति । युद्धानिप्रस्तयः पञ्च वा पङ्चा पञ्चपाः सम्माविता महान्तःसन्ति । तान् प्रस्पेषे राहुः विशेषिवज्ञस्ति । तन् प्रस्पेषे ने वेरं करेति । प्रविषे दिनधरः सूर्यो निशाप्राणेशस्थान्यः स्मे हिंदे राम्ति नेजन्यस्यविद्यानेते । क्यंस्ति राहुः दानवपतिः शोषीवशिषास्तः अतो श्रातः। किगुलं विशेषाः स्वदेशेः स हत्त्वये प्रति नृ निःशेषम् । शाद्धायिक्षां दित्रवृत्ति । १४ ॥

भा० टीट—प्रगत्नपर्या विशेष इच्छा कर्नवाला दानवींका पाने या राष्ट्र इहस्पति आदि अन्य पांच या छ प्रदोंसे वेर नदीं करता, केवल सिर्माप्रदी पर लिहरम्भी दह अदिनेह गर्मवेदाले सुर्प और चन्द्रमाफोडी अमावास्था और पूर्यमासीको लावन प्राप्तवित इसका अभिनाय यह हैकि सुर्वीर अपने वरावरः दन्हीकाई साप्ता कर्नेह निदेलको नहीं सर्वान है॥ ३४॥ कुण्डिल्या—राजानिशि अरु दिवसकों रिव शिश तेजनि-ग्रान। पांची यह इनसम नहीं ताते तजे निदान ॥ ताते तजे नि-ग्रान आन इनहीं सो अरुडत। रह्यो लीसको राह चाहकर जवतव ग्राकडत। ऐसेही नरधीर मरतह करत सुकाजा। गिरत पडत रण-गाँहि सुभट पहुंचत जहां राजा॥ ३४॥

वहित भुवनिश्रेणीं शेषैः फणौकणकस्थितां कमर्ठ- पितना मँध्येष्टछं सदा सं विधार्यते॥ तैमिपि विक्रिते क्रोडींधीनं पैयोधिरनींदरार्द्हह महितां निःसी मानिश्चरित्रविधृतयः॥ ३५॥

सं० दी ० — बहतीति । शेषो नागः भुवनस्य संसारस्य श्रेणी पंक्ति पाणामान्यमध्याः हणामण्डलस्थितां वहति धारयति । स शेषः कमठपतिना कृषेण मध्यप्रष्टं मुष्टमध्य सदा धार्यते । तं कृषे पपोनिधिः समुद्रोऽनादरात् जोडो घराहरतद्धीनं पुरुते । एवं महतां चरित्रविभृतयः ऐध्ययेणि नेःसीमाना मर्यादामतिकान्ता अतिशायताः अनेन महतां सामर्थ्यं निःसीमापरिणितमितिम् चित्रप् । इरिणीष्ट्रचिमदम् ॥ ३९॥

भा टी०—चौदह भुवनांकी पंक्ति शेपजी अपने पानापर धारण गरते हैं, और उनशेपजीको कच्छप अपनी पीठपर धारण करता है, तथा हम कच्छप अपनी पीठपर धारण करता है, तथा हम कच्छप समुद्र अनादरसे वराहजी (सृहर) के आधीन करिद्रया है, इसमे यह सिद्ध होता है कि महज्जनोंके चरित्रजी विभृति असीम है।। ३५॥

हुप्य—धरी धराकों शिस शेप अति करये। पराक्रम । शेप सिंहत सवभूमि कमठ धर रखी विनाश्रम । कमठ शेप और भूमि-भार वाराह रखी धर । इन सविहनकी भार एक जलके आधि-तकर । एक एकसें। विक्रम अधिकही करत दहे अङ्क्तसुङ्कि । तिनके चरित्र सीमाराँहेत अति विचित्र राखत सुवृत्ति ॥ ३५॥

र्वरं पक्षंच्छेदः समदमघवन्मुक्तंकुिछज्ञप्रहारेत्व्यच्छवहर्छ दहनोद्वारगुरुभिः ॥ तुपाराद्रेःस्नोरहर्ह पितेरि हेर्द्याव-वशे भैचासी संपातःपर्यसि पर्यसां पत्युरुचितः॥ ३६॥ सं. टी०—हेशाकान्तं पितरं त्यक्त्वाऽन्यत्र स्वप्रागरक्षणार्थं गन्तुं नोचितमित्याद्। तुगव देहिमालयस्य सूनोः पुत्रस्य मेनाकस्य समदमववन्मुक्तकुलिशप्रहारिमदेन युक्तो भववानिन्दर् मुक्ताः कुलिशप्रहारास्तैः पक्षच्छेदः वरं श्रेष्टः कथंमृत्वेरुद्गच्छन्तो ये वहलदहनस्योद्वारार्ति गुरुभिरवंभृतैः खङ्गप्रहारैः। कस्मिन् सित्। पितरि हिमादी हेशविवशे पक्षच्छेदेन हेश युक्ते सिति तं पितरे त्यक्त्वा पथसां पत्युः समुद्रस्य पयस्युदके संपातः भयेन पतनं नोचितं व योग्यम्। शिखरिणीवृक्तमिदम्॥ ३६॥

भा० टी०—पदमं भरेहुए इन्द्रके चलाये हुए वज्रक्षे कि जिसकी अप्तर्श ज्वाला अत्यन्त कठिन है मैनाकका मरजाना अच्छा था, परन्तु उसको उक्ति नहीं थाकि अपने पिता हिमाचलको लेशविवश छोडकर समुद्रमें कृदकर अपन पंख बचावै॥ ३६॥

कुण्डिलिया—हिमगिरि सिर धुनके कहे कहा कियों मैनाक। सिहवों हो निजसीसपे इन्द्रवज्रपरिपाक । इन्द्रवज्रारि । अग्निज्वालामें जिदवों । नीकों हो सब मांत उहां स उप है मिरवो । दुरयो सिन्धुके माँहि कहों कोलों वहें हैथिर। निष् ज लजायों मोहि पिता नाहि जान्यों हिमगिरि॥ ३६॥

थेदचेतेनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वकित सर्वितुरिनकांतैः। तेत्रेजस्वी पुरुषः परकेतिविकृतिं कैथं सहैते ॥ ३७॥

सं टी ० — तेजस्वीपुरुपः परकृतिविक्वति नसहत इति इनकान्तदृष्टान्तेन वदिति। यदचेतनोऽिप चेतनारिहतोऽिप इनकान्तः सूर्यकान्तः सर्वितुः सूर्यस्य पादैः किरणे स्पृष्टः सन् प्रज्यव्यति। एवं सित सचेनस्तेजस्वी पुरुषः परकृतां विक्वति विकारं कथं सहते नति इत्यर्थः। आर्योवृत्तिविदम् ॥ ३७॥

भा० टी०--जब सूर्यकान्तमणि अचेतन होनेपरभी सूर्यके किरणर्व्या पांवके स्पर्शसे जल उठता है तो सचेतन तेजस्वी पुरुप दूसरोंके अनादरको के सहसक्तेहैं ॥ ३७॥

दोहा—वचन वाणसम अवण सुन सहत कौन रिस लाग।
स्रज्ञपद परिहारतें पाहन उगलत आग॥ ३७॥
सिंहःशिशुरेपि निर्पतित सदस्रिनिनकपोलभित्तिषुंगजेषुः
प्रकृतिरियं सर्त्ववतां नै खेलु वैयस्तेर्जसो हेर्तुः॥ ३८

सं० टी०——सत्पवतां तेजसो हेतुः प्रकृतिरेव वयो नेति सिंहशिशुद्धान्तेन बदति । सिंहति । शिजुरिप सिंहो मदेन मिलनाः कपोलीभत्तयो येपां तेपु गर्जेषु निपत्तति । इयं सत्ववतां प्रकृतिःस्वभावः । यतो खन्तु निध्येन तेजसो हेतुः वयो नेत्यर्थः । आयीवृत्तिभिदम् ॥ ३८॥

भा० टी०--सिह्दा बचाभी मद्से मान्नेन कपोर्लोबाले हाथियोपरही झपटताहे क्योंकि तेजस्वियोंका यही स्वभाव है। निश्चय जानो कि तेजका हेतु अवस्था नहीं है॥ ३८॥

दोहा--दृट सिंह शिशु करिनिकर विचलावै क्षणमांहि । तेजवानकी प्रकृति यह तेजहेतु वय नांहि ॥ ३८ ॥ इति सानशौर्धप्रशंसा । ॥ अथ द्रव्यप्रशंसा॥

जोतियांतुं रसातेलं गुणगॅणस्तर्स्याप्यधो गर्च्छता च्छीलं शेलंतटात्पत्रत्विभिजेनः सन्द्रह्यतीं वन्हिना॥ शीथें वेरिणि' वर्ज्जभाश्चा निर्पतत्विथींऽस्तु नैः केवेलं थेनेकेनें विनी गुणास्तृणलवेंत्रायाः सेमस्ता हेंमे॥३९॥

सं टी॰—इदानी द्रव्यप्रशंसा वर्ण्यते । जातिरिति । जातिः स्वजातिः रसातलं यातु गच्छतु । गुणाः सद्गुणास्तेषां गणः समुदायो रसातलस्वाप्यधो गच्छतात् । शीलं सद्वृत्तं शैलः तटात् पर्वततटात् पततु । अभिजनः कुलं " तन्तितर्गीत्रजनन कुलान्यभिजनान्ययो " इसमरः विन्दात द्यताम् । शोर्थेण याचितुं न शक्यतेऽतस्तद्देरिणि शोर्थे तिस्मन् वज्रमाशु शीप्रं निपततु । एवं सर्वस्य हानिर्भवतु परन्तु नोऽस्माकं केवलं मुख्योऽथी द्रव्यमस्तु किमर्थ येनैकेनार्थेनावेना पूर्वोक्त-गुणास्तृणळवप्राया भवन्ति । शार्थ्लिकीडितवृत्तमिदम् ॥ १९ ॥

१९१० टी०--चाहै जाति रसातलमें जाय, सब उत्तमगुण उससेथी नीचे चले जाँय, बीलता पर्दतसे गिरकर नष्ट होजाय, झुल्डे लोग अग्निसे जलजाँय, और शूरतारूपी शहुपर बज्ज गिरपडे (इनसे हयको झुळ प्रयोजन नहीं) हमको - तौ केवल एक द्रन्यसे प्रयोजन हैं, जिसकेदिना सब गुण दृणके समान हैं॥३९॥

छप्पय—जाति रसातल जाहु गुण ताहूके तर। परी शील-पर शैल अग्निमें जरी सुपरिकर। स्रातनके शीश बज्न वैरिनिकी वरसहु। एक द्रव्य बहुआंति रैंन दिन घन ज्यों सरसहु।जिहियिन सकल गुण तृणिहि सम कछुकारज नहि करसकिहैं। कंचन अर्थ सवसोंजसुख विनकंचन अकवकाहि॥ ३९॥

तानिन्द्रियोणि सकैछानि तंदेव कॅर्म सां वुर्दिष्प-तिहैता वैचनं तेदेवें ॥ अथेप्मिणा विरहितेंः पुरुषेंः सें एवं त्वैन्यः क्षणेनें भवैतीति विचित्रेंमेतत् ॥ ४०॥

सं० टी०—अधुना श्लोकद्वयेन द्रव्यस्य श्रेष्टतं वर्णयति । सामर्थ्ये सित यानि प्रि गिनिद्रयाणि आसन् तान्येव सिन्त । तदेव कर्म । वृद्धिरिप सेव कीदृद्ध्यप्रतिहता नाहां न प्रता। वचनमिप तदेव वक्तृहािक्तः । एवं सर्वथा पूर्वे यदासीचदाित परन्तु एकोऽर्थो द्रव्यं तस्योष्मा तेति विरहितः शून्यः स एव पुरुपः क्षणेनान्यो भवतीित एतत् विचित्रमाश्चर्यम् । अवस्यं द्रवं सम्पादनीयमितिभावः ॥ वसन्तितिङकावृत्तम् ॥ ४० ॥

भा० टी०-सन इन्द्रियांभी नहीं हैं, सन न्यवहारभी नहीं हैं, दुिंध्भी पिहलेकेसच्या प्रवल है, नचनभी नहीं है, परन्तु नहें आश्चर्यकी नात है की विना धनके नहीं मनुष्य क्षणभरमें औरका और होजाताहै॥ ४०॥

दोहा-वही इन्द्री वही कर्म है वही वुद्धि वह ठौर ॥ धनविहीन नर क्षणएकमें होत औरते और ॥ ४०॥ यस्योस्ति विनें सें नेरः कुंळीनः सं पण्डितः सं श्रुतिं-वान् गुणेंझः ॥ सें एवें वक्तीं सें चें देंदीनीयः सेंवें

गुर्णीः कार्ञ्जनमार्श्वेयन्ति ॥ ४१ ॥

सं० टी०-यस्य पुरुषस्य वित्तं धनमस्ति स नरः कुलीन एव। स एव पण्डितः स एव श्रुत वान् शास्त्रज्ञः, स एव गुणज्ञः गुणज्ञाता, स एव वक्ता। स एव दर्शनीयः द्रष्टुं योग्यः। एर सर्वे गुणाः कांचनं सुवर्णभाश्रयान्ति। उपजातिर्कृतम्॥ ४१॥

भा० टी०— जिसकेपास धन है वही मनुष्य कुलीन, पण्डित, गुणी, वक्त और देखनेयोग्य होताहै, इससे ज्ञात होताहै की सवगुण सुवर्ष (धन) केई आश्रित हैं॥ ४१॥

दोहा—सोई पंडित वक्ता गुणी दर्शनयोग दुर्खन ॥ जाके दिंग है लक्ष्मी संव गुण तिहिं आधीन॥ ४१॥ दौर्मनेत्र्यात्रृंपतिर्विनरैयति यँतिः संगीत्सुतो छाठँना हिप्रीऽनध्येयनात्सुँछं कुर्तनयाच्छीछं खळो-पासेनात् ॥ ईहीर्मधीदनवेक्षणाद्पि कृषिः स्नेहैंः प्रवासाश्रयान्मेत्री चौप्रणैयात्समृंदिरनैयात्यौंगा रप्रैमादाद्यनम् ॥ ४२॥

स० दी०—दोर्मञ्यादिति । नृपतिर्भूपालः दोर्मञ्यात् दुष्टप्रधानानुरोधात् विनश्यिति नाशं प्राप्तोति । यतिः सन्यासी संगात् ख्यादिसंसर्गात् विनश्यिति, सृतः पुत्रो लालनात् विनश्यिति, विप्रेश व्राह्मणोऽनध्ययनात् विद्याध्ययनं विना नष्टेश भविति, कुळं कुतनयात् कुमार्गगामिसुनतात् विनश्यिति, । शीळं सहृत्तं "शीळं स्वभावे सहृत्ते" इत्यमरः । खळीपासनात् दुष्टजनोपा-सनात् विनश्यिति, होर्छज्जा मद्यान्मदिरापानात् नश्यिति, कृपिरनेवक्षणात् वारम्यारमनवळीकनात् विनश्यिति, स्वहिः प्रीतिः प्रवासात् चिरकाळविदेशनिवासाद्विनश्यिते, मैत्री चाप्रणयात् अविनयात् विनश्यिते, समृद्धिरैश्वर्यमनयादन्यायात् नाशं प्राप्तोति, धनं प्रमादात् व्यर्थव्ययात् नष्टं भविते । तस्मान्नृपादिभिर्दृष्टप्रधानाद्यनुसेवनं न कर्तव्यमितिभावः ॥ शार्दूळविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

भा० टी०--बुरे मंत्रियोंसे राजाका नाश होताहै, संगतिसे तपस्वी भ्रष्ट होजाताहै, वहुत लाड प्यारसे पुत्र विगडजाताहै, विद्या न पढनेसे ब्रा-सणका और कुपूतसे कुलका नाश होजाताहै; दुर्जनोंकी सेवा करनेसे शील-ता और मद्य पीनेसे लजा जातीरहतीहै, विना देखभालकिये खेती और वि देशमें रहनेसे स्नेह नष्ट होजाताहै। नस्रता न करनेसे मित्रता, अनीति करनेसे ऐश्वर्य और असावधानतासे न्यय करनेसे धनका नाश होजाताहै ॥ ४२॥

छप्य--कुत्सितमंत्री भूप सन्त विनसत कुसंगतें। ठा-डलडाये पूत गोत कन्या कुढंगतें। विनविद्यातें विप्र शील खल संग लियेतें। होत प्रीतिको नाश वास परदेस कियेतें। वीन-ता विनाश मदहाससें। खेती विन देखे हगन । सुख जात अनय अनुरागतें, अतिप्रमादतें जात धन ॥ ४२ ॥ दोनं भोगो नौदास्तिसी गर्तयो भवान्ति वित्तस्य॥ योनं दर्वित ने भुक्तें तस्यै तृर्तीया गितिर्भविति ॥ ४३ ॥ सं टी॰—दानमिति।दानं भोगो नाहाः। एताः तिन्ते वित्तस्य धनस्य गतये। न्हीं यः पुरुषो न ददाति न च भुक्ते भोगं न कुक्ते तस्य वित्तस्य तृतीया गतिर्नाहो भवति। इ द्धनवता पुरुषेण दानं भोगश्चावस्यमेव कर्तत्र्य इति तात्पर्यम्। आर्थावृत्तिनदम्॥ ४३॥

भा० द्वी०--दान, थोग और नाश यहड़ धनकी तीन गति हैं, वह न तो भोगा जाय, और न दिया जाय ती उसकी तीसरी गति होती है, व नाश होजाताहै ॥ ४३॥

सोरठा—दान भोग और नास तीन होत गति द्रव्यकी। नांहिन देको वास तहां तीसरी वसत है॥ ४३॥

मेणिःशाणोङ्घीढः समरविजयी हेतिनिहैतो महैं- शिणो नार्गः शरादि संरितः श्यानपुँ छिनाः ॥ कळौशेषश्चन्द्रेः सुरतभृँदिता वाळळळना तीनस्रौँ शोभेंते गळितविभैवाश्चौं थिषुँ न्यौः ॥ ४४॥

सं टी० मिणिरित । शाणेन निकपपापाणेनोर्हाढ टिहाखितः क्रशिकृतो मिणि हिताभिरायुधैर्निहतः क्रतक्षतः समरे विजयशोलो योद्धा, मदेन क्षीणो नागो हस्ती, श्रा स्थानानि शुष्काणि पुलिनानि जन्निर्मुक्ततटानि यासां ताः सरितो नद्यः । कल्या पोडशेमि शेपोऽवशिष्टश्चन्द्रः । सुरते मृदिता चुम्चनालिङ्गनाचुपमिद्तांगी वाला नवयोवना पोडशिक्ये स्त्री । एवमिथिपु याचकेपु गलितः संक्रान्तः विभवः समृद्धिर्येपाते नृपाश्च । तनिन्ना तनोः क्रि भावस्तिनमा कार्स्य तेन शोभन्त इत्यन्वयः । शोभारूपैकधर्मादीपकालकारः ॥ शिखरिणीर्हित्ता ॥ ४४ ॥

भा॰ टी॰--सानसे खरादा हुआ मणि, समरमें शखोंसे घायल कियाह शूर, मदसे उतरा हुआ हाथी, शरदऋतुकी श्लीण नदी, द्वितीयाका चन्द्रमा क केलिमें मर्दनकीहुई नवयौवना वाला खी और अतिदान करनेसे दरिद्री रा इन सबकी दुर्वलताहींसे शोभा है ॥ ४४॥

कुण्डलिया—छोटी हू नीकी ँठमै मणि खरपाण चढीसु वीरअंग कटि शस्त्रसों शोभा सरस वढीसु।शोभा सरस वढी अंग गज मदकर छीनहि। द्वैज कला सित सोह सादि सरि जिमिही नहिं। सुरत दलमलीनार ल<mark>हत सुन्दरता मोटी।</mark> अर्थिनकों धन देत घटी सो नाहिं न छोटी॥ ४४॥

परिक्षीणः कश्चित्रपृहंयति यवानां प्रस्तिये सं पश्चात्तंपूर्णो गणयेति धरित्रीं तृणसमीम् ॥ अतिश्ची-नेकान्त्यों इरुटें घुतयार्थे पुं धनिनीं मर्वस्था वस्तूंनि प्रथयेति चे संकोचयेति चै ॥ ४५॥

सं० टी०—यस्तृनां गुरुत्वलयुव्वहेतुरबस्थाभेदो नान्य इत्याह । परिक्षीणिति । कश्चित् पुरुदः क्षीणो दरिद्रः सन् यथानां प्रस्तये तुपाय स्पृहयति स्पृहां करोति । स एव पश्चादमे लक्ष्म्या सम्पृणेः सान्निमां धरित्रीं तृणसमां तृणतुल्यां गणयति । अतो धनिनामनैकांत्यादेकस्थितेरभावा-द्यस्थाऽर्थेषु प्रयोजनेषु गुरुल्युतया वस्तृनि प्रथयति संकोचयति च । यदा कालेनावस्थाया गुरुत्यं भवति तदा गुरुत्वमेवाङ्गीकरोति । एवं काल्याद्यस्थार्थाभेदो भवति । शाविश्वारिगीवृत्तमिदम् ॥ ४९ ॥

भा॰ टी॰—जिन कोई मनुष्य दिखी होताहै तन तो नह केनल एक अंजिल जोकि इच्छा करताहै, परन्तु नहीं मनुष्य जन सर्वसम्पन्न अर्थात् धनी होजाताहै तन एथ्वीको तृणसमान समजता है, इसलिये येहि दौनों चंचलअनस्था मनुष्पको गुरु और लग्नु बनाती हैं तथा वरस्तुओंको फैलाती और समेटती है ॥ ४५ ॥

छप्टय—होत वहै धनहीन तवे अंजिल जो मांगत ॥ धन पाये वैराग्यताहिसहि तृणसम लागत ॥ दशा यहीं दोन रिहं लघु अरु दीर्घ वनावे। कराहें नीचको ऊंच ऊंचकों नीच ज-नावें ॥ कवहुं करें संकोच कवहुं तिनको विस्तारें ॥ धन्य धन्य वे धीर हुहुं न जो एक निहारें ॥ ४५॥

राजेन्द्रधुक्षंसि येदि क्षिंतिधेनुमेनौं तेनायँ वत्सिमिवैं लोकंमिं पुषाणे॥ तेस्मिश्रीं सम्यैगिनैदां परिपोप्यैं-माणे नानाफेलेः फलेति कल्पैलतेवैं भूमिः॥ ४६॥

सं ० २१०—इदानीं राज्ञा भूमिपाछनप्रकारमाह । राजन्निति । हे राजन् । यथेनां क्षिति-धेनुं पृथ्वीरूपां धेनुं दुनुक्षसि दोग्नुभिच्छिसे । तेन दोहनेनाद्याधुनेमं छोकं प्रजां वसमित्र पुपाण पोषयेति । तिरमन् छोके वत्से सम्यक् परिपाण्यमाणे सतीयं भूमिः कल्पछतेयानिशं सर्वकाछं न फर्छः फर्छति फर्छ ददाति । वसन्तितिङकावृत्तिमदम् ॥ ४६ ॥

भा० टी०--हे राजन् ! यदि तुम पृथ्वीक्त्पी धेनुको दृहा चाहतेही प्रजाक्त्पी वछडेको तन मन धनसे पाछन करो, यदि उसका पाछनं भर्छीम कियाजायमा तो पृथ्वी कल्पवृक्षकेसमान अनेकप्रकारके फल देगी ॥ ४६॥

दोहा--धेनु धराको चहत पय प्रजा वत्स करि मान। याको परिपोषण किये कल्पवृक्ष सम जान॥ १६॥

सत्यान्तौ चै परुषाँ त्रियवादिनी चै हिंसाँ दर्या-लुरोप चौर्थपेरी वदान्यौ ॥ नित्यवैयया प्रचुरिन-त्यधनागमा चै वेश्यांगनेव न्पैनीतिरनेकरूपा॥ ४७।

सं० दे (०— अधुना नृपनीतिर्वेश्याङ्गनेवानकरूपेत्याह । सत्येति कुत्रि विद्ययं सर्वत्र वक्तव्यम् स्वत्र वक्तव्यम् स्वत्र वक्तव्यम् स्वत्र वक्तव्यम् स्वत्र वक्तव्यम् स्वत्र वक्तव्यम् स्वत्र विद्यत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यत्यः स्वत्यः स्व

भा॰ टी॰—राजनीति वेश्याके समान अनेकप्रकारसे वर्तती है, कहीं हैं सत्प होतीहै, कहीं असत्य होतीहै, कहीं कठोर और कहीं पियभापिणी हो है, कहीं हिसक और कहीं दयालु होतीहै, कहीं कृपण और कहीं उदार होती कहीं अधिक द्रव्यव्यय करनेवाली और कहीं बहुत संचय करनेवाली होती है॥४७

छप्य — सांची है सब भांति सदा सब वातिन झूठी। कव रोससों भरी कबहु प्रिय बनै अनूठी। हिंसाको डर नाहि दयाह प्रग दिखावत। धन छैवेकी वान खर्चह धनको भावत। राखत इ भीर बहु नरनकी सदा सवांरत रहतबह। इह भांतिरूप नार रचत गनिकासम नृपनीति यह॥ १७॥

विद्यो कीर्तिः पार्छनं ब्राह्मणानां दीनं भोगी भित्र-संरर्ज्ञणं च ॥ येपीमेते पड्गुणा नै प्रवृत्तीः 'कोऽर्थ'-स्तेपां 'पार्थिवोपार्श्वयेण ॥ ४८॥ सं ० द्वि — "विद्यादिपट्गुणैविना मनुष्याणां नृपाश्रयो न्यर्थः" इत्यञ्चना वदिति । विद्या, विर्वशः, ब्राह्मणानां पाळनं रक्षणं, दानं, भोगः, विपद्ग्यो मित्राणां संरक्षणं, एते पूर्वकथिताः र्गुणा येपां न प्रवृत्ता न प्राप्तास्तेपां पार्थिवस्य नृपस्योपाश्रयेणाश्रयेण कोऽर्थः कोऽपि न । किनीवृत्तामिदम् ॥ ४८ ॥

भा॰ टी॰—विद्या, यश, ब्राह्मणोंका पालन, दान, भोग, और मित्रोंकी हा करना, जिनमें यह छ ग्रण विद्यमान नहीं हैं उनको राजाकी सेवा करनेसे या मिलसक्ताहै ॥ ४८ ॥

ोहा--विद्या यश द्विजपालना दान भोग सन्मान ।

नृपसेवा इन छः विना निष्फल जान सुजान ॥ १८ ॥ यैद्धात्रों निजभालपैटलिखितं स्तोकें मेंहद्वाँ धँनं तित्रांप्तोति मरुस्थेलेऽपि" नितेरां मेरों तितो नीधिकभी ॥ तिद्वीरों भी वित्तवत्सु कृपेणां होतिं वृथीं मीं कथीं। कूपे पैर्च्य पैथोनिधावैपि घेंटो रोह्माति तुलैयं जलमें ॥ ४९ ॥

सं० टी०—"विधात्रा यत् स्वभाळपष्टिलिखितं तितोऽधिकं कोऽपि न प्रामोति" इति घट
प्रान्तेन बदित । बद्धोत्रेति विधात्रा बहाणा यित्रेजे स्वकीये भाळपट्टे स्तोकमल्पं वा महद्वातुष्ठमं दिलिखे
दिव पुरुषो मरुस्थळे निर्जलदेशे भेरी च सुवर्णाद्री नितरां निश्चयेन प्राप्नोति । अतस्यं धीरो भय ।
वेत्तवस्सु द्वयाख्येषु कृपणां दीनां शुक्षं वर्तनं जीवनं वा द्या मा द्याधाः मा कुरु। अत्र एटान्तः ।
इय । कृषेऽधवा पयोनिधी समुद्रे घटः तुल्यं स्वप्रमाणानुसारं जलं मृह्यति । शाईलिविजीदितं
दिमिदम् ॥ ४९ ॥

भा० टी०—थोडा अथवा बहुत जितना धन विधाताने भाग्वमें लिख-दियाँह वह अवश्यक्षी निर्भल और शून्यस्थानोंमेंभी मिलजायगा, परन्तु उससे अधिक जो छुमेर पर्वतपरभी चलेजाओं तो न मिलेगा, इसल्चिये धर्य धारण करो और धनीके निकट हथा अपनी दीनताको प्रगट मत करो। देखो । कुएमें और समुद्रमें घडा समानहीं जल भरताहै ॥ ४९॥

होहा--भालिक्यो विधिना सुवह घटे वहे कहु नांहि। गुरधर कञ्चन मेरुसम जान लेहु मनमांहि॥ ४९॥

र्वंभेवं चातर्काधारोऽंसीतिं केषां नै गोर्चरः॥ किँमम्भोदंवरास्मौकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्ष्यंसे॥ ५०॥

सं० दि ० - मेवं प्रति चातकस्योक्तिः । त्वमेवेति । हे अम्मोदयर ! हे मेवश्रेष्ट ! चातकानामाधारः आश्रयोऽसीति केपां गोचरः प्रत्यक्षं न अपितु सर्वेपां गोचरः । तस्मादस्माकं का कानां कार्पण्योक्तिं किं प्रतीक्ष्यसे किमुपेक्षसे । अनुष्टुवृक्टतमिदम् ॥ ५० ॥

भा॰ टी॰--हे मेघश्रेष्ट! यह कौन नहीं जानता है कि तुमही हम चाव के आधार हो, फिर अब तुम हमारी दीनताकी क्यों प्रतीक्षा करते हो ॥ ५०॥

दोहा—मेघ तुझे जाने जगत पिव्हा प्राणअधार । दीनवचन चाहत सुन्यों यह निहं उचित विचार ॥५०॥ रे रे चौतक सावधानंमनसा मित्रं क्षणं श्रूयँताम-म्मोदी वहुंवो वसैन्ति गर्गने सैवेंऽपि नैतिहर्शाः॥ केचिईिष्टिभिराद्रयैन्ति वसुंधां गैजेन्ति केचिट्टेंथों यें यें पश्यीस तस्य तस्य पुरेतो मी ब्रैहि दीनं वैचाः ॥५९।

सं टी०—चातकोक्तरत्तरिम् । रेरे चातकिति । रेरे इति वीप्ता । हे चातक । सावधानमनसा स्वस्थचेतसा क्षणं क्षणमात्रं श्रृयतां मम वचः इति होपः । हि यस्माद्गगनेऽम्भोदा भेष वहयो वसन्ति किन्तु सर्थे एतादशाः करुणावन्तो न, कृतः केचिदृष्टिभिर्वसुधां पृथ्यीमार्द्रपति जलेन सिञ्चन्ति । किचिदृधा गर्जन्ति गर्जनां कुर्वन्ति । तस्मात् हे मित्र ! यं यं मेधं प्रयसि तस् तस्य पुरतोऽप्रे दीनं वचो मा बृद्दि मा वद ॥ दातारं प्रति याचना कर्तव्या सर्वान्प्रति नेतिभावः । हार्तृष्टिविकीडितवृत्तिमिदम् ॥ ९०॥

भा० टी०—हे चातक! सावधान होकर मेरी वातको सुन, आकाश्रम् मेय बहुतसे हैं परन्तु सब एकसे नहीं होते, कितनेही तो जल वर्षाकर पृथ्वीक त्राकरदेतेहैं, कितने प्रथाही गर्भना कियाकरतेहैं, इसालिये जिसको तूं देखें उसीकेआंगे दीन होकर मत मांग ॥ ५१॥

कुण्डिं छिया—चातक सुन मेरे वचन सावधान मन होय। मेय यहत आकाशमें प्रकृति जुदी पन जोय॥प्रकृति जुदी पन जोय ोय परतें महिभारी ॥ कोई बृंद न देहीं गरज कर उपल प्रहारी॥ वाहीतों में कहत लेय मत यहिसर पातक। देखे जोही मेघ ताहि यत मांगे चातक॥ ५१॥

इति द्रव्यप्रशंसा समाप्ता।

अक्तंणत्वमकारणिवयहः परर्धने पर्योषिति चें रपृही ॥ सुजनवन्धुजनेप्वसिहिप्णुता प्रकृतिसिद्ध-मि'दें हि दुरात्मेनाम् ॥ ५२ ॥

सं ० टी ०—्यानी दुर्जनानां प्रकृतिसिद्धल्क्षणं योतयति । अकरणिति । प्राणिमात्रेषु श्वारणाव्यं द्याधीनता, अकारणिकारः कारणं विना वैरं, परस्यान्यस्य धेने द्रव्ये तथाच परस्य योपिति वित्यं रहेश्ला । सुजनेषु बन्युजनेषु सिह्णोभीवः सिह्णुता न सिह्णुता असिह्णुता असरनशीळता । इदं दुरायानां प्रकृतिसिद्धं स्यागाविकं ळक्षणिति शेपः । दुत्रविलिखतं दृत्तम् ॥ ५२ ॥

भा ॰ टी॰—द्या न करना, विनाकारणही वेर करना, पराये धन और स्त्रीकी इच्छा करना, कुटुम्बियों और भित्रोंकी बात न सहना, ये सब हुर्जनोंके स्वाभाविक टक्षण हैं।। ५२॥

दोहा—दयाहीन विनकाज रिपु, तस्करता परपुष्ट।
सह न सकत सुख वन्धुको, यह सुभावसों दुष्ट॥५२॥
दुर्जनः परिहर्तव्यो विचया भूषितोऽपि सन् ॥
मणिनालङ्कृतः संपः किंमैसो ने भयद्वैरः॥ ५३॥

सं० टी०—विद्यावानिष दुर्जनः परिहर्तव्य इति सर्पदृष्टान्तेन वदिति । दुर्जन इति । दुर्जनो दुष्टजनः विद्यया भृषितोऽप्यलंकृतोऽपि सन् परिहर्तव्यस्याज्योऽस्ति । असो सर्पे। मणिनाऽ लंकृतोऽपि भयं करोत्तोति भयंकरो न किस् । अपितु भयंकर इत्यर्थः । अनुष्टुवृत्रृत्तीमदम् ॥ ५३ ॥

भा० टी॰—हुर्जन यदि विद्यावान्भी हो तोभी उसकी संगति मत करे। क्या मणिसे भृषित सर्प भयकर नहीं होता॥ ५३॥ सोरठा—विद्यायुतह होय, तदिष दुष्ट तजदीजिये।

सार्वा सर्वेज्ञ मणिधर कोय, भयकारी कह कीजिये ॥ ५३ ॥



सं र ही र निम्हारिति । होभो नुस्पकता चेदगुणेन गुणरहितेन कि स्वसोऽपि भाः संत्राणानाचनाइयताति भावः । यदि पिश्नुनता दाँजन्यमस्ति तार्हि पातको कि पिश्नुनता वाँविर पातकावित भावः । सत्यं यदार्थभापणं चेदस्ति तार्हि तपसा किम् । सत्येमा सर्वश्रेष्ठं पः । यदि भनान्तःकरणं श्रुचि शुद्धमस्ति तार्हि तीर्थेन तीर्थ यात्रया किम् । शुद्धान्तःकरणे वित्तिविद्यानि तिष्ट्रित हार्ति भावः । यदि सीजन्यं सुजनताऽस्ति तार्हि निजेरामीयजनैः किम् । जनस्य सर्वे होभा खालाया हति भावः । यदि सुमहिमा सुद्दछोकरचेत् मण्डनैरितरभूपणेः सुन्दर सार्थकारपारणेः वित्त् । सुमिरिमेव परमोत्तमभूपणम् । यदि सद्विद्या उत्कृष्टविद्यास्ति तार्हि नेः वित्त् । सर्वपनेषु विद्यायनं अष्टतमं इति भावः । यद्यपयशोऽपिकारितिरित तार्हि मृत्युनां किं किंव मृत्युनार्थकारित्रादिति भावः । दार्दुन्छविक्रीडितवृत्तिमदम् ॥ ५५॥

भा० टी॰—जिसमें लोभ है उसमें दूसरे अवगुणोंकी क्या आवश्यकता.
जो मुटिल है उसे और उपाय करनेकी क्या आवश्यकता है, जो सत्यवादी है, से तपसे क्या प्रयोजन है, जिसका मन गुद्ध है उसको तीर्थ करनेसे क्या अधिक गिंगा, जो सज्जन हैं उनको भित्र और कुटुन्वियोंकी क्या कंमीहै, यशकी नुष्योंकेलिथे यशसे वटकर दूसरा कौन भूषण है, विद्यावानको अन्यधनकी या आवश्यकता है, जिसको अपयश है उसको मृत्यूसे वटकर क्या चाहिये । र्थान् अपयशी मनुष्यकेलिये मृत्युही उत्तम है।। ६५

छप्रय—भयो लोभ मनमांहि कहा तव अवगुन चहिये। नेन्दा सवकी करत तहां सव पातक लहिये। सत्यवचन तप ज्ञान शुद्ध मन तीरथ जानह। होत सुजनता जहां तहां गुण प्रगट मार्निहु। जस जहां कहां भूपण चहै सदिया जहां धन कहा। अपजस जु छयो या जगतमें तिन्है मृत्युही है महा॥ ५५॥

श्रंशी दिवसधूसरो गिळंतयीवना काँमिनी संरो विगतवारिजं मुर्खमनक्षरं स्वाँकृतेः ॥ प्रभुधिनप-रीयणः सततदुर्गितः सजीनो ॥ नृपाङ्गेणगतः खेँछो — मनिसि सर्ति शल्योंनि में ॥ ५६ ॥

सं टी - अधुना स्वमनिस यानि दुःखानि तानि निरूपयिति। शशीति। शशी चन्द्रमा दिवसे वृत्तरो मिछनः, गिछतं नृष्टं यौधनं तारुण्यं यस्यास्तादशी कामिनी, विगत जाड्यं न्हीमंति गण्यंते व्रतरुंचौ दम्भंः शुंचौ केर्तवं शूरे निर्घृणता मुंनौ विभातता देन्यं त्रियांळापिनि॥ तेर्जेस्विन्यंवेळितता मुर्खेरता वक्तंर्यर्डाकिः स्थिरे तेली नामें गुंणो भैंवत्सै गुणिनां यो दुर्जनेनाङ्कितः॥५॥

सं० टी०—गुणिनां सर्वे गुणा दुर्जनैः कलंकिता इत्याह । जाड्यमिति । गुणिनां गुणे यो दुर्जनैनीकितःस को नाम भवेत् नास्येव । तःकथं न्हीमित लजावित पुरुपे जाड्यं मौर्ध् ध्याप्यित । त्रते रुचिः प्रीतिर्थस्य तस्मिन् पुरुपे दम्भा गण्यते । शुची शुचिमित कितवस्य धूर्तस्य भावः केतवं प्रतारणं धूर्तता शूरे निर्धृणता निर्दयत्वम् । मुनौ मौनवित विमितता प्रज्ञारिहत्यं वक्तुमा किः । प्रियालापिनि प्रियवक्तिर दैन्यं दीनत्वं । तेजस्विन्यविष्यता वक्तिर मुखरता वाचाला । स्थिरे पुरुपे अशक्तिः शक्त्यभावः । एवं सर्वेष्विप गुणेपु दोपारोपो दुर्जनैः क्रियते । एवं दुर्जनैः ल्कितो न निन्दित इत्थं गुणो नास्ति ॥ शार्दुलविक्तीडितं वृत्तिमदं ॥ ५४ ॥

भा० टी—-दुर्जन लज्जावान पुरुपको मूर्ख, व्रतधारीको दंभी, पवित्रको पाला पिड, शूरको निर्देशी, मौनवत करनेवालेको मूर्ख, मिष्टभापीको दिर्द्री, तेति स्वीको गर्याला, वक्ताको वक्तवादी, ओर स्थिरचित्तवालेको आलसी कहतेहैं, इस से यह झात होताहै कि ऐसा कोई गुण नहीं है जिसको दुर्जनोंने कलंक नहीं लगाया ॥ ५४ ॥

छप्य-- छजायुत जो होंय ताहि मुरख ठहरावत । धर्मपृ ति मन मांहि ताहि दम्भी कहि गावत । अति पवित्र जो होंय ताहि कपटी कहि वोछत । धरे शूरता अंग ताहि पापी कहि तो छत । विक्रमी मत्र प्रियवचन रत तेजवान छम्पट कहत । पणिड त छवार कहे दुएजन गुणको तज औगुन गहत ॥ ५४ ॥

छोभश्रेद्रगुणिन किं पिर्शुनता येचिरत किं पार्तकेः सेत्यं चेत्तेपसी चें किं शुचि मैनो येचिरित तिथेन किम ॥ साजेन्यं येदि किं गुणिः स्वैम-हिमा येचिरित किं मंडिनेः सिंहची येदि किं जैन-रपवेशा यर्चिनि किं मृत्युनी॥ ५५॥ सं० टी० — लोभश्चेदिति । लोभो लुन्यकता चेदगुणेन गुणरहितेन किं स्वस्पोऽपि लोभः सर्वगुणानाच्छादयतीति भावः । यदि पिशुनता दोर्जन्यमस्ति तर्हि पातकैः कि पिशुनता सर्वोपिर पातकिमित भावः । सत्यं यथार्थभापणं चेदस्ति तर्हि तपसा किम् । सत्यम्य सर्वश्रेष्ठं तपः । यदि मनोन्तःकरणं शुचि शुद्धमस्ति तर्हि तीर्थेन तीर्थ यात्रया किम् । शुद्धान्तःकरणे सर्वतीर्थानि तिष्ठन्ति इति भावः । यदि सौजन्यं सुजनताऽस्ति तर्हि निजेरात्मीयजनैः किम् । सुजनत्य सर्वे लोका आत्मीया इति भावः । यदि सुमहिमा सुक्लोकरचेत् मण्डनैरितरभूपणैः सुन्दर वस्त्रांलकारधारणैः किम् । सुमहिमेव परमोत्तमभूपणम् । यदि सद्विद्या उत्क्रप्रविद्यास्ति तर्हि धनैः किम् । सर्वधनेपु विद्याधनं श्रष्टतमं इति भावः । यद्यपयशोऽपंकीर्तिरित तर्हि मृत्युनां किं तस्येव मृत्युकार्यकारितादिति भावः । शार्दुलविक्रीडितवृत्तिमदम् ॥ ५५ ॥

भा० टी॰—जिसमें लोभ है उसमें दूसरे अवगुणोंकी क्या आवश्यकता है, जो कुटिल है उसे और उपाय करनेकी क्या आवश्यकता है, जो सत्यवादी है उसे तपसे क्या प्रयोजन है, जिसका मन शुद्ध है उसको तीर्ध करनेसे क्या अधिक होगा, जो सज्जन हैं उनको मित्र और कुटुम्बियोंकी क्या कमीहै, यगस्त्री मनुप्योंकेलिये यशसे बढकर दूसरा कीन भूपण है, विद्यावानको अन्यधनकी क्या आवश्यकता है, जिसको अपयश है उसको मृत्यूसे बढकर क्या चाहिये अर्थात् अपयशी मनुष्यकेलिये मृत्युही उत्तम है॥ ५५

छप्य्य—भयो लोभ मनमांहि कहा तव अवगुन चिहये। निन्दा सवकी करत तहां सव पातक लहिये। सत्यवचन तप जान शुद्ध मन तीरथ जानहु। होत सुजनता जहां तहां गुण प्रगट प्रमानिंहु। जस जहां कहां भूपण चहै सद्विया जहां धन कहा। अपजस जु छयो या जगतमें तिन्हें मृत्युही है महा॥ ५५॥

श्रशी दिवसधूँसरे। गिर्हितयीवना काँमिनी सरी विगतवारिजं मुर्खमनक्षेरं स्वाँकृतेः॥ प्रभुधिनप-राँयणः सततर्दुर्गतः सर्जनो॥ न्याङ्गणगतः खेँछो मनाँसि सर्त शल्योंनि में ॥ ५६॥

सं टी०—अधुना स्वमनित यानि दु:खानि तानि निरूपपति। रासीति। रासी चन्द्रमा दिवसे धूसरो मिलनः, मिलनं नष्टं योवनं तारण्यं यस्पास्तारको कामिनी, विगत वारिज कमले यस्मात्तत् सरः सरोवरम् (शोभना आकृतिर्यस्य) स्वाकृतिस्तस्य (न वि अक्षराणि वर्णाः यस्मिस्तत्) अनक्षरं मुखं, सततदुर्गतः निरन्तरं दारिद्यं प्राप्तः सज्जनः, प् नृपस्य राज्ञोऽगणे चत्वरे गतः प्राप्तः खले दुर्जनः, एते सतमे मम मनसि शल्यानि शल्य प्रहारं भुवन्ति ॥ पृथ्वीवृत्तम् ॥ ५६ ॥

भार्थाः निका मिलनचन्द्रमा, योवनहीन स्ती, कमलरहित सरो सुन्दर रूपवान मनुष्य मूर्स, धनवान कपण, सज्जनपुरुष दरिद्री, और अस् आप दुष्ट, ये सातों हमारे हृदयमें कांटेके समान खटकतेहैं।। ५६।।

कुण्डलिया-दोहा-फीको है शिश दिवसमें कामिन वनहीन। सुन्दर मुख अक्षरिवना सरवर पंकज छीन। पंकजछीन होत प्रभु लोभी धनको। सज्जन कपटी होत छ ढिंगवास खलनको। ऐ सातों हैं शल्य परम छेदत या जीव वृजनिधि इनकों देख होत मेरो मन फीको॥ ५६॥

र्नं कैश्रिचण्डकोपांनामात्मीयो नामं भूभुजाम् ॥ होर्तारमंपि जुङ्गानं स्पृंष्टो दहीत पार्वकः॥ ५७॥

सं टी - अत्यन्तकोधिनो नृपस्य कोऽपि प्रीयाही न भवतीति पावकदृष्टान्तेनाह ने चण्डकोपानामुग्राणां मृभुजां राज्ञां कश्चिदात्मीयः प्रीत्यही न भवति, यथा पावकोऽप्रिहीतारं कर्त्तोरमि जुङ्गानं होमसमयेऽपि स्पृष्टः सन्दहित । अनुष्टुवृत्त्तम् ॥ ५७॥

्रा॰ टी॰—अत्यन्त कोधि राजाओंका कोईभी मित्र नहींद्दोता दोनकरनेवाळकोशी अप्रि आहुति देतेसमय स्पर्शकरतेही जळादेताहै॥ ५७

दोहा—जे अतियापी भृप तें काह्तों न कृपाछ ।

होनकरतहं हिजनकों दहत अग्निकी ज्वाछ ॥५७ मीनान्म्कैः प्रवर्षनपटुश्चाहुँछो जलपको वां धृष्टेः पर्वि वसंति च तदा दुर्दिश्वाप्रगल्भैः ॥ क्षान्त्यां

'निह्यंदि' ने सहते प्रायशी नीभिजीतः सेवा-

धैर्मः मरमगर्हनो योगिनामध्येगम्यः ॥ ५८॥

सं० टी०—इदानीं तेवाधर्मकाठिन्यमाह—मोनेति । यदि सेवकेन मोनं धृतं तर्हि मूकः । व्यचनपदुर्श्वदातुलो वातादितोऽथवा जल्पको वाचालः । पार्धे स्थितः सन् धृष्टः, दूरतो भवति चेद-व्यास्मः । क्षान्तः क्षमा धृता चेत् भीरुर्भयशीलः । यदि न सहते तदा नाभिजातः मूर्खोऽप्रयोजकः, द्वं प्रायशः सेवाधर्मः परमगहनः कठिनो योगिनामप्यगम्यः कर्तुमशक्यः । मन्दाकानतावृत्त-भिदम् ॥ ९८ ॥

भा० टी०—यदि सेवक मौन रहे तौ मूक गिनाजाताहै, यदि बोलनेमें चतुर हो तो वात्नी अथवा वकवादी समझाजाताहै, यदि पास रहे तौ ढीट और हूर रहे तौ मूर्व कहाताहै, यदि सहनजील हो तौ उरपोक और असहनजील हो तौ कुलहीन कहाजाताहै, सारांश यहहै कि सेवाधमें अत्यन्त कठिन है, योगियोंसेमी होना हुगम है॥ ९८॥

दोहा—चुप गूंगो लापर वचन निकट हीठ जह दूर। क्षमाहीन परिहास खलसेवा कप्टीह पूर॥ ५८॥ उज्ञासिताखिलेखलस्य विश्वङ्खलस्य प्राग्जातवि-स्तृतनिजाँधमकर्मवृत्तेः॥ देवाँदवाप्तविभवस्य गुणं-दिषोऽस्य नीर्चस्य गोचरंगतेः सुर्खमास्येते केंः॥५९॥

सं ० टी ०—येऽधमजनान् सेवन्ते ते सुखिनो न मवन्तीत्याह । उद्घासितेति । नीचस्य क्षुद्रजनस्य गोचरगतेः समीपवितिभः पुरुषेः कैः सुखमास्यत उपविश्यते । कथम्भूतस्य नीचस्य उद्घासिता। प्रकटीकृता अखिलाः समस्ताः खला येन । पुनः प्राक् पूर्वजाता इदानी विस्तृता निजा स्वकीया धर्मकर्मणां वृत्तिर्येन । एवं साते दैवाददृष्टवशात् प्राप्तो विभवो येन । पुनः कथम्भूतस्य गुणान् सद्गुणान् द्विपतीति गुणद्विद् तस्य गुणद्विषः। एवम्भूतगुणस्य समीपे

कैरिप मुखेन नैव उपविष्टुं शक्यतेऽथवा मुखं प्राप्यते । वसन्तितिळकावृत्तिमिदम् ॥ ९९ ॥ मा० टी०—ि जिसकी सम्पूर्ण दुष्टता भलीपकार पगट होगईहै, जिसके पूर्वजन्मके अधमकर्म इसजन्ममें उदय होरहेहैं, जो दैवात् धनी होगयाहै, और जो अच्छेगुणों से द्वेप रखताहै, ऐसे निरङ्कुश नीचके पास बैटनेसे कौन सुख पाताहै ॥ ५९ ॥

कुण्डलिया—संग न करिये दुष्टको जासों होय उपाध ॥ पूर्वजन्मके पाप सव उपज उठावें व्याध ॥ उपज उठावें व्याध दैववल होय धनीसो ॥ शुक्कामान्यस्थाले हेप कुबुधकों मित्र

Likalin

करेसो ॥ निपट निरंकुश नीच तासु चितरंग न धरिये ॥ इल इर्गुणखान तासुको संग न करिये ॥ ५९ ॥

आरम्भगुवीं क्षयिणी क्रमेण छवीं पुरा वृद्धिमंती च पश्चात् ॥ दिनंस्य पूर्वाईपरीईभिन्ना छीयेर्वे मेत्री खलसजीनानाम ॥ ६०॥

सं० टी०—अधुना खलसजनयेभित्रताया विभिन्नतां वर्णयति । आरम्भगुनी ही आरम्भे गुनी महती । क्रमेण क्षयिणी प्रतिक्षणं क्षयशीला, पुरा पूर्व लबी पक्ष वृद्धिस्यास्तीति द्राह्मिती, दिनस्य पूर्वीचे च परार्द्ध च ताम्यां भिन्ना छायेव खला दुर्जनाथ सन्त साधवश्च तेषां मेत्री मित्रता मवित । यथा दिवसपूर्वीद्धे छाया महती तदुत्तरे दिवस्वश्च क्षयिणी तथा खलानां मेत्री आरम्भे गुनी परिणामे छन्नी भवति । यथा दिनपरार्द्धे आरम्भे अक्ष छन्नी पश्चात् दिनक्षये वृद्धिमती भवति तथा सज्जनानां मित्रता आरम्भे छन्नी परिणामे द्राह्मितं भवति तथा सज्जनानां मित्रता आरम्भे छन्नी परिणामे द्राह्मितं भवतीत्यर्थः । उपजातिद्वत्तमिदम् ॥ ६०॥

भा । टी॰—दुर्जनमनुष्यकी भीति प्रातःकालके अनन्तरकी छायो समान है, जो प्रारम्भने लम्बी चौडी होती है और फिर क्रमसे घटती जर्मी परन्तु सजनकी मित्रता मध्यान्हके उपरान्तकी छायाके समान है, जो अर्थ भें कम होतीहै और फिर बढतीही जातीहै॥ ६०॥

कुण्डिलिया—छाया जैसी प्रातकी तैसी दुर्जनप्रीति पहिले दीरघ होय पुनि घटनलगे तजरीति ॥ घटनलगे त रीति प्रीतिको करे वहानौ ॥ पै सज्जनकी प्रीति विरुध याके मन मानौ ॥ पहिले सूक्ष्मरूप फेर दिनरात सवाया ॥ जिल् प्रीति बढे नित ऐसे ज्यों संध्याकी छाया ॥ ६० ॥

मृगमीनसर्जनानां तृणजलसंतोषैविहितरतीनाम्॥ लुव्धकधीवरैपिशुना निष्कारणैवैरिणो जगैति॥६१॥

सं टी॰—" लुम्बकादयः प्रयोजनंबिना वैरिणो भवन्ति " इति बदिति । मृगमीनेति आसिन् जगति संसोरे लुम्बको ब्याधः " ब्याधो मृगवधाजीवो मृगवुर्लुम्बक्ष्य स" इत्यमरः । धीवर कर्ताः "केक्रे दाशधीवरो" इत्यमरः । पिशुनो दुर्जनः "पिशुनो दुर्जनः खलः" इत्यमरः ॥ एते निष्की ण रायपतिस्ता मूर्ण च कर्त च मरोग्या प्रतिविधिता इतिविधि येपी सेपी मृगमीनसञ्जनानी विकासकारमञ्जन विदिशी सक्ति । भागंतृक्तियम ॥ ६६ ॥

भाव है। — हाँग्ण घाम ग्वाकर गहनाई तबभी ज्याघ उससे वैर कर-भार महाली सलावीकर गहनीई नवभी महाबा उससे वैर स्वनाई, श्रीर सरजन ह राजीपश्यक्त अभिहें कीभी दुर्जन उनके शत्रु होजातेई, इन तीनींसे इन तीनों-हा वैर हम धनावमें विनाकारणही होताई ॥ ६१ ॥

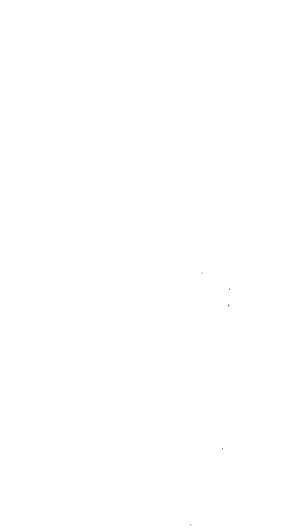
द्ं।हा—माही जल सृगके सुवन सज्जन हितकर जीव। लुब्धक धीवर दुष्टजन विनकारण दुख कीव॥ ६१॥ इति दुर्जननिन्दाप्रकरणम् ।

॥ अथ सुजनपशंसा ॥

वाक्का सज्जनेसङ्गमे परगुंणे 'त्रीतिगुरी' नर्मता विद्यायां व्यर्सनं त्वेयोपिति 'रंतिळींकापेवादाद्वयमें॥ भेंकिःशृंटिनि शिक्तरात्मदमेंने संसैंगमुक्तिःखँळेष्वेते' चेपुं वैसेति निर्मळेंगुणास्तेभैयो नरेभैयो नमैंः॥ ६२॥

सं० टी०—नम्रतिदिगुणभृषिता नरा नमस्ताराही भवन्तीत्याह । वाण्छेति । सज्जनानां सायुजनानां संगमे समागेम वाण्छा इन्छा, परेषां गुणे प्रीतिरभिक्षिचः, गुरे। नम्नता, विद्यायां व्यसनमासिक्तः, स्वस्यातानो योभिति ख्रियां रितः प्रीतिः, छोकापवादात् छोकानिन्दाया भयं, शृिति दिवे भक्तिः, आमनो मनसो दमने निष्ठहे सक्तिः सामर्थ्यम्, खेलपु पिशुनेषु संसर्गः सम्बन्धस्तस्य मुक्तिस्त्यागः । एते ये निर्मेख निर्दोषा गुणास्ते येषु वसन्ति तेभ्यो नरेभ्यो नमः नमस्याराऽस्तु । शार्द्छविक्तीडितं वसमिदम् ॥ ६२ ॥

भा० टी०—सज्जनोकी संगितकी इच्छा, दूसरेके गुणोंसे मसन होना, पटेलोगोंके लामने झुकना, विद्या पहनेमें मन लगाना, अपनी स्त्रीते पीति करना, लोकनिन्दासे हरना, ईश्वरमें भक्ति, अपने मनको वशमें रखना, और दुष्टकी संगितको त्यागना, ये सब उत्तमगुण जिसमें विद्यमान् हैं उन महापुरुषोंको नमस्कार है।। ६२ ॥



सं० टी०—इदानी सतां महत्त्ववैचित्रयं वर्णयति । प्रदानभिति । प्रदानं प्रकर्षेण यहत्तं देवन्त्वसान्छादितं, गृहमुपगते प्राप्ते सम्भ्रमविधिरादरविधिः , प्रियं कृत्वा मौनमेकस्य प्रियं कृत्त वेन्न वदित । सदिस सभायामुपकृतेरेकेनोपकारः कृतस्तस्य कथनं करोति । छक्ष्म्यां सस्यामनुत्ते । क्ष्म्यां सर्यामनुत्ते । परस्य सत्कथाः निरिभभवसाराः निन्दारिहताः निरविध कर्तव्याः । इदं व्रतमिधारावःक । किनोपिद्धं न केनोपि । अयं सतां स्वामाविको गुणः । शिखरिणीवृत्तिमिदम् ॥ इष्ठ ॥

भा० टी०-दानको गुप्तरखना, घरपर आयेद्भुए महमानका आदर करना, पराया भलाकर चुप रहना, दुसरोंके कियेद्भुए उपकारका सभामें वर्णनकरना, धन पाकर घमण्ड न करना, और पराई चर्चा निन्दारहित करना, ये तलवारकी धारके समान कठिनवतका सज्जनोंकेलिये किसने उपदेश दियाहै. ॥ ६४ ॥

छप्य—दियो जनावत नांहि गयें घर कर सतआदर। हितकर साधत मौन कहत उपचार वचन वर। काहूकों दुख होय कथा वह कवहुन भाषत। सदां दानसों प्रीति नीतियुत सम्पत राखत। यह खड़्रधारवत धारके जे नर साधत मन वचन। तिनकौसुनुहां इह लोकमें पूर रह्यो जसही रचन ॥६४॥

केरे श्वाच्येस्त्योगः शिरंसि गुरुपादप्रणियता मुंखे सत्याँ वाणी विजिधमुजंयोवीं र्थमतुळम् ॥ हिदि स्वस्था वेंतिः श्रुंतमधिगतैकवेतंपरुं विनीप्येश्व-र्येण प्रकृतिमहेंतां मंडनैमिदिम् ॥ ६५॥

सं॰ टी(०—दानादिकमेव सज्जनानां भूपणं नान्यदिखाह। कर इति। करे हस्ते त्यागः सत्पात्रे दानं स्टाच्यः प्रशंसनीयस्तदेव हस्तभूपणम् । शिरासे मस्तके गुराः गुरुजनस्य पादयोधरणयोः प्रणायिता नम्नता। मुखे सत्या वाणी यथार्थकथनं तदेव मुखभूपणम् । विजयि- भुजयोरतुलं निरुपमं वीर्य पराज्ञमः (युधि विज्ञम एव भूजयोर्भूपणं कंकणं न) हदि हदये स्वस्या- निर्मला वृत्तिर्वर्तनम् । निर्मल वृत्तिरेव हदयस्य भूपणं नान्यः । स्विधगतं प्राप्तं एकं मुख्यं व्रतमीस्वर प्राप्तिसाथनं तदेव तस्य फलं येन तत् श्रुतं शास्ताध्ययनम् । इदमैधर्यण वैभवेन विनाऽपि प्रकृत्या स्वभावेन ये महान्तस्तेषां मण्डनं भूपणम् । शिखरिणीवृत्तिमदम् ॥ ६९॥

भा० टी०—हाथकी श्रोभा दानसे हैं. शिरकी शोभा वडाँके मणामकर्त हैं, मुखकी शोभा सत्य वोलनेसे हैं, भुजाओंकी शोभा युद्धमें अतुल विक्रम के हैं, हृद्य स्वच्छतासे शोभाषाताहै, और कानकी शोभा शास्त्र श्रवण के हैं, और येही सब धन न होनेपरभी सज्जनोंके भूषण हैं॥ ६५॥

छप्पय—करत करत ते दान शीस गुरुचरणन राखत। उन् सों बोलत सांच भुजनसों जय अभिलाषत। चितकी निर्वा चृत्ति श्रवणमें कथा श्रवणरित। निशदिन परउपकारसिहत उन् जिनकी मित। ते विना साजसम्पत तक सोहत सकल दें अस्त उनको जुसंग नित देहु प्रभु तो यह सुधरे चपल मन॥ ६५॥

> संपर्त्सु महैतां चित्तं भवत्युत्पर्लेकोमलम् ॥ आपर्त्सु च महाशैलशिलांसंघातकर्कशम् ॥६६॥

सं वि - सम्पत्काले आपत्काले च सतामन्तः करणस्य या वृत्तिर्भवित तां वदिति। महतां साधुजनानां चित्तं मनः सम्पत्सु वैभवे उत्पर्णं कमलं तहत् कोमलं मृदु भवित । किल् आपत्सु आपत्तिकाले महांश्वासी दौळश्व तस्य शिलानां संघातः समूहस्तहत् कर्कशं कठोरं भविते। अनुष्टुत् वृत्तिमिदम् ॥ ६६ ॥

भा० टी० — सज्जनमनुष्योंका चित्त धन होनेपर कमलसेभी अधिक कोमल होजाताहै। परन्तु आपत्तिमें उनका चित्त पत्थरसेभी कठिन होजाताहै॥६६॥

सोरठा—सतपुरुपनकी रीति सम्पत्में कोमलहि मन । दुखहीमें यह रीति वज्रसमानहि होत तन ॥ ६६॥

संतर्तायसि संस्थितरय पर्यंसो नाँमापि न ज्ञायते मुक्ताकीरतया तदेवं निलनीपत्रस्थितं राजिते॥ स्वात्यां सागरशुक्तिमध्येपतितं तन्मोिकिकं जायते प्रीयिणाधममध्यमोत्तमेगुणाः संसैर्गतो देहिनीम् ॥६७॥ सं० दीः — पुरुषस्योत्तममध्यमाधमगुणाः संसर्गात् जायन्तेइति जल्दछान्तेनाह । कृत्त्तिति । एकमेव जलं तत्संसर्गतोऽनेक गुणं भवति । तद्यथा । सन्ततायसि सन्तते लोहे क्षितं कृष्वत्यसो नामापि न ज्ञायते अभाव एव । तदेव जलं निल्नीपत्रे स्थितं मुक्ताकारतया राजते । तदेव जलं स्वातीमहानक्षत्रे मेवात् सागरे पतितं तदिप शुक्तिकामध्यगतं चेत् मुक्ताफलं जायते । रवं पायेण प्रायशः पुरुषस्योत्तममध्यमाधमगुणाः संसर्गतो जायन्ते । तस्मात् मनुष्यदेहधारिभिहित्तमा संगतिः कार्यो न मध्यमाधमे इति भावः । शार्द्छविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ६७॥

भा० टी०—तमलोहेपर पडनेसे पानीकी वृंदका नामभी नहींरहता, भरनतु वही वृंद कमलके पत्तोंपर गिरनेसे मोतीकेसमान दीखतीहें, और वही वृंद स्वातीनक्षत्रमें समुद्रकी सीपोंमें पडनेसे पोती वनजातीहें, इससे यह जानपडता है कि मनुष्यके उत्तम, मध्यम, और अधमगुण संसर्गसेही होतेहें॥ ६७॥

सोरठा—तवे चुन्द है क्षीण कमलपत्र जे सरस हैं। मुक्ता सीपहि कीन थान मान अपमान है॥ ६७॥

येः प्रींणयेत्सुचौरतेः पितंरं सं पुत्री यँ इत्रिवे हितं-भिच्छेति तैत्कलैत्रम् ॥ तैनिभैत्रमापेदि सुँखे च समित्रियं येदेते त्रैयं जगौति पुण्यक्रेतो लभैनते॥ ६८॥

सं ॰ टी॰—उत्तमपुत्रकछत्रमित्रान् मुकृतिन एव प्राप्तुवन्तीति चोतयांत । य इति । यः सुचिरतैः सदाचरणैः पितरं स्वजनकं प्रीणयेत सन्तोपयेत् स एव पुत्रे नान्यः । यङ्कृरेव हितं कल्याणीमच्छति तदेव कछत्रं भार्या । नान्यं इति द्येषः । यदापदि आपःकाछे पुत्रे च (समाना क्रिया यस्य तत्) समानिक्रयं तदेव मित्रं मुद्दत् । एतत् त्रयं जगति छोके पुण्यकृतः सुष्टातिनो छभन्ते प्राप्तुवन्ति । वसन्ततिछकावृत्तमिदम् ॥ ६८ ॥

भार टी - जो अपने उत्तमचित्रोंसे पिताको मसन्न रखताहै, यथार्थमें वही पुत्र है, जो अपने पितका सदैव हित चाहतीहै यथार्थमें यही स्त्री है, और जो सुख और दुःख दोनोंमें समान रहे वही सच्चा मित्र है, ये तीनों इस संसारमें पुण्यवान्कोही मिलतेहैं ॥ ६८ ॥

दोहा-पुत्रचरित तियहितकरन, सुखदुखिमत्रसमान । मनरंजन तीनों मिलें पूरवपुण्यहि जान ॥ ६९ ॥ एँको देवाँ केशींवो वाँ शिवा वाँ ऐकं मिन्तें भूपँ-तिर्वी यातिर्वी॥ एँको वार्साः पत्तिने वाँ वेंने वाँ एकों नौँरी सुन्देरी वाँ देरी वाँ॥६९॥

सं टी०—प्रवृत्तिनवृत्तिमार्गप्रकारमेदमाह । एक इति । एको मुख्यो देवः (प्रश्ल केशाः यस्य स) केशवः केशाद्वोन्यतरस्यामिति व प्रत्ययः' विष्णुर्वा शिवः शंकरो वा । एकं प्र मित्रं भूपति राजा वा यतिः सन्यासी वा । एको मुख्यो वासो वसतिस्थानं पत्तेन नगरे विष्ये वा एका मुख्या नारी भार्या सुंदरी सुरूपा वा दरी पर्वतगुहा वा । शाळिनीवृत्तमिदम् ॥ ६९॥

भा० टीका०—एक देवकीही सेवा करनी चाहिये केशव हो अथवा शिक् एकही मित्र करना जचित है, राजा हो वा तपस्वी, एक स्थानपरही रहना उचित है नगर हो, अथवा वन, और एकहीसे पीति करना जचित है सुन्दरी स्त्री हो अथवा पर्वतकी गुफा हो ॥ ६९ ॥

कुण्डलिया—सेवह केशवदेवकों के शिवकी कर सेव। मित्र एककर नृपतिकों के जोगेश्वर देव। के जोगेश्वर देव दुहुनमें एक हित् कर। करिये नगर निवास किथों वनवास करह ढिर । पुत्रवती तियसंग अंग अंगन भोंटे वहु। कर गिरिगुहाप्रसंग प्रीतिसों नितप्रति सेवहु॥ ६९॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणंकथनैः स्वांन गुणांन् ख्या-पर्यन्तः स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततिप्रयतेशारम्भ-यत्नाःपरांथे ॥ क्षीन्त्यैवीक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् दूषर्यन्तःसन्तःसार्श्वर्यचर्या जगिति बहु-मिताः कर्या नीभ्यर्चनीयाः॥ ७०॥

सं॰ टी॰—अस्मिन् संसारे नम्नत्वादिगुणसंयुक्ता बहुमान्याः साधवोऽर्चनीया भवन्तीसाह । नम्नत्वेनिति । नम्नत्वेनोत्तमन्त उच्चा मान्या भवन्ति । स्वान् स्वकीयान् गुणान् परेपां गुणानां कर्यनः तद्द स्यापयन्तः कथयन्तः स्वान् गुणान् स्वयं न बदन्ति, परेपां गुणानुवादाः त्रियन्ते तरेव प्रसंगेन विगुणानुवर्धनं त्रिप्तते इति कृत्वा स्वार्थान् सम्पादयन्तः, परस्यार्थे वितता विस्तृताः प्रियतराश्चारम्भाः ृहिनीणि यत्नाध येपां ते, लाक्षेपाध ते रूझाक्षराश्च तेर्मुखराणि मुखानि येपां तान् दुर्जनान् क्षान्स्यैव तमर्थेव दृष्पयन्त लाक्षयेण सहिता साक्षयां गतियेषां तथाभृता जगति बहुमता मान्याः सन्तः िक्षस्य नाम्यर्थनीयाः प्जनीया न भवन्ति । एवंभूताः सन्तः सर्वेषां पूर्या एवेतिमावः स्त्रम्य-ारक्षमिदम् ॥ ७० ॥

भाट टी०—जो नमतासे ऊंचे होतेहें, जो आरोंके गुणोंका बखान करनेसे अपने गुणोंको प्रसिद्ध करतेहें, जो औरोंका उपकार करते हुए अपना कार्यभी साथन करतेहें, जो क्षमाहीसे दुर्जनोंके निन्दा और कठोरवचनोंसे पूर्ण मुखको दूपित करतेहें, ऐसे अद्भुत आचरणवाले सन्तोंको जगत्में कीन पूजनीय नहीं समजताहें॥ ७०॥

हाएपय—नीचे वहें के चलत होत सबसे उंचे अति। परगुण कीरत करत आपगुण ढाकत यह मित। आपन अरथ विचार करत निशिदिन परमारथ। दुष्ट दुर्वचन कहत क्षमा कर स्वथित स्वारथ। नित रहत एकरस सवनसीं वचन कोप कर कहत निहीं। ऐसे जु सन्त या जगतमें पूजावत सबके सुतंत्र हि ॥७०॥ इति सज्जनप्रशंसाप्रकरणम्।

भवेंन्ति नम्बारतरेवः फलोह्रेमैर्नवाम्बुभिभूरि विल-

र्म्विनो घनाः ॥ अनुर्देताः सत्पुरुषाः समृद्धिभः स्वभाव ५विषं परोपकारिणाम् ॥ ७१ ॥

सं० टी०—अधुना वृक्षदृष्टान्तेन परोपकारिणां स्वभावं वर्णयति । भवन्तीनि । यथा फलानामुद्रमेः प्रादुर्माधेस्तरवो वृक्षा नम्ना भवन्ति, घना मेघाः नवानि नृतनान्यम्बूनि जलानि तै भूमिं विल्म्बन्त इति भूमिविल्मिनो भवन्ति । तथा सत्पुरुपाः सज्जनाः समृद्धिभिरैश्वर्थेरनुद्धता भवन्ति । दक्षा वेशस्यं वृत्तमिदम् ॥ ७१ ॥

भा० टी २— जैसे फल आनेपर दक्ष नमजातेहैं, जैसे नचीनजलसे पृर्श होनेपर मेघ प्रथ्वीवर झुकजातेहें, वैसेही सज्जनमनुष्यभी धन पाकर नम्न हो जातेहें, अभिमान नहीं करते कारण यह है कि परोरकारीमनुष्योंका स्वभावही ऐसा होताहै॥ ७१॥ दोहा—नम्र होत फलभार तरु जलभर नम्र घटासु। त्यों सम्पत् कर सत्पुरुष नवें सुभावछटासु॥ ७१

श्रोत्रं श्रुतिनैव नं कुण्डँ छेन दानेन पाणिनं 'तुं कडूंणेन विभाति कार्यः करुणीपराणां परोपैकारे नितुं चंदनेने ७२

सं० टी०—श्रोत्रमिति । श्रीतं कर्णःश्रुतेन शास्त्रश्रयणेनैय विमाति शोभते ने सुण्डलेन कर्णाभूपणेन, तथा पाणिईस्तो दानेन विभाति कङ्कणेन न, अपरं च करणानणं दयार्जाणां कायो देहः परेपकारैविभाति चन्द्रनादिना न विभाति । तस्मात् पुरुषेः सास्त्रश्रद्रानादिकञ्चावस्यमेव कर्तव्यमितिभावः । उपजातिर्वृत्तमिदम् ॥ ७२ ॥

भा० टी०—कानकी शोभा शास्त्र श्रवणकरनेसे है, कुण्डल कर्ते नहीं। हाथकी शोभा दान करनेसे है, कङ्कण पहिरनेसे नहीं। दयालुपुरुपींके र की शोभा परोपकारसे है कुछ चन्दन लगानेसे नहींहै॥ ७२॥

कुण्डिह्या—कंकन ते सोहत न कर कुण्डलते नहि कान। चन्दनतें सोहत न कर जान लेहु यह जान। जान लेहु यह जान दानते पाणि लसत है। कथाश्रवणतें कान परम शोभा स्वार्थ हैं। परमारथसों देह दिपत चन्दन सों टंकन। येसु सुकृत स्वार्थ कुण्डल कंकन॥ ७२॥

पापाक्षिवारयित योजयैते हिताय गुंहां च गृहीत गुणीन प्रकटीकरोति । आपेहतं चे ने जहीति इद्योति कीटि सन्मित्रिटक्षणियदे प्रवदिन्ति सन्ति॥७३

संद ही है — स्थान संभाजन्यमां सर्पति । पापादिति । पापात् पापकर्मात् विहासी द्वारोति । कर्नत् संभानि । जिलाय कर्णाणाय योजपति, सुपं गोर्त्त च सृत्ति गोपापी, सुपति इस्ति । अपाउन विष्ठत् स प्राति स स्याति, वित्तु स्राते सम्योगाति सति दशी इस्ति । विष्ठा । इस्ति सन्यावद्या वित्त स्ति । द्वार्यान स्वयंति । यसस्ति । भा० टी०—अपने मित्रको पापसे वचाना, हितकर्ममें लगाना, उसकी प्रस्वातको ग्रप्त रखना, भित्रके गुणोंको प्रकटकरना, दुःखमें मित्रका संग न छोडना, और समयपर सहायता करना, ये उत्तमित्रोंके लक्षण सन्तोंने कहेहें॥७३॥ दोहा—पाप निवारत हित करत गुन गनि औगुन ढांकि।

दुखमें राखत देत कछ सन्मित्रन ये आंकि ॥ ७३ ॥ पद्मौकरं दिनकरो विकचीकैरोति चन्द्रो विकास-यति कैरवचक्रवांलम् ॥ नाँम्यर्थितो जर्लंघरोऽपि जें जेंस्र ददीति सन्तैः स्वैयं परिहिते सुकृतींभियोगाः॥७४॥

सं टी०—"सन्तः स्वयमेव परिहतं कुर्वन्ति" इति दिनकरादिदृष्टान्तेन द्योतयित । पद्माकरमिति पद्माकरं सूर्यविकासिकमन्यानामाकरं समुदायं दिनकरः सूर्यः विकचीकरोति । प्रपुत्तं करोति । 'प्रपुत्ते करोति । प्रवं जन्नद्यो रात्रिविकासिकरयानां कुमुदानां चक्रवानं समुदायं विकासयिते विकासितं करोति । एवं जन्नधरो मेघोऽपि नाभ्यार्थतः सन् जन्नं ददाति । यतः सन्तः स्वयं परिहते सुक्ताभियोगा अप्रार्थिताः सन्तः स्वयं परिहतं कुर्वन्ति । तेषां स्वभाव प्वायम् । वसन्तितिन्वकान्नतिस्म ॥ ७४ ॥

भा० टी०--सूर्य स्त्रयंही कमलोंको विकसितकरताहे, चन्द्रमा स्वयंही कुमुदिनीको मफुल्लितकरताहे, और मेघ विनामांगेही जल वर्षाताहे, इसका यह कारण देकि सज्जनमनुष्य आपही विनाकहे औरोंके भला करनेमे तत्पर रहतेहैं॥७४॥

दोहा-शिश कुमुदिनि प्रफुलित करत कमल विकासत भानु। विन मांगत घन देत जल त्योंही सन्त सुजानु ॥७४॥

एँके सत्पुर्रुषा: परार्थघर्टकाः स्वार्थि परित्येच्य ये'॥ सामीन्यार्र्तुं परार्थमुद्यमभ्द्रतः स्वार्थाविरोधेन ये"॥ ते"ऽमी" मानुषरार्क्षसाः परिहतं स्वार्थीय निर्द्वन्ति ये"॥ ये"निर्द्वन्ति निर्रिर्थकं परिहतं ते" के" नै जीनीमहे॥७५॥

सं० ट्वा॰---एम द्वि । स्वार्थ परित्यस्य त्यकाया ये परार्थपटनाः परकार्य हार्यन्ति ते सायुरुपाः । स्वार्थरपाविरोधेनादे। स्वपार्य काला पद्मात् परकार्य ये कुर्वन्ति ते सायान्या मन्ययः ।

सोर आपभी अग्निमें क्दनाही चाहताया कि पुनः शीतल जलके छीटे पाकर अपने मित्रको लोट आया जान शान्त होगया, सचहै सज्जनोंकी मित्रता ऐसीही होतीहै॥७६॥

कुण्डिलिया—पानी पयतों मिलतही जान्यों अपनो मित। आप भयों फीकों वह जलकों कियों सुचित्त। जलकों कियों सुचित्त तसपयकों जब जानी। तब अपनों तन वारि वारि मन प्रीतिह आनी। उफन चल्यों मीध अग्नि शान्ति जल छिरकत ठानी। सत्पुरुपनकी प्रीति रीति ज्यों पय और पानी॥ ७६॥

इतेः स्वीपिति केशैवः कुर्कमितेंस्तद्वीयद्विषीमितंश्च्यं शरणोधिनः शिखरिणीं गणीः शेरेते ॥ ईतोऽपि" वडवानींकः सीह समस्तिसांवर्तकेरिंहो विततिसूर्जितें भरेंसहं चै सिन्धोविषुः ॥ ७७ ॥

सं० टी०—सतां सहनशीलतां समुद्रदृष्टान्तेन दृशयिति । इत इति । अहो इत्याश्चर्ये । विन्धाः समुद्रस्य वपुर्विततं विस्तृतमूर्जितमितविल्छं भरं भारं सहत इति भरसहमस्ति । तत् न्यम् । इत एकतो देशे केशवो विष्णुःस्विपिति निद्रां करोति । इतस्तदीयद्विपां तद्वैरिणां कुलं समूहः ति । इतथ शरणार्थिनां शरणागतानां शिखरिणां पर्वतानां गणाः समूहाः शेरते । इतोऽपि द्वानलः समस्ताः सांवर्तकाः प्रलयकारिणोऽग्रयस्तैः सह शेते । एवं विलक्षणरूपं परस्य भरसहं पुरित्याक्षर्यम् । सज्जनाः समुद्रवदुपकारिणः सर्वाधाराश्रयमूताश्च भवन्ति । पृष्वीवृत्तमिद्रम् ॥ ७७ ॥

भा० टी०—समुद्रमें एक ओर श्रीविष्णुभगवान् शयन करतेहैं. दूसरी गेर उनके शत्रु असुर पडेहें, एक और शरणागत पर्वतोंके समृह पडेहें, और एक गैर वडवानल पलयके घोर आग्रिसहित जलको औटारहाहै, देखो समुद्र श्शाल वलवान् और सहनशील है। के इन सबसे विलक्कल नहीं घवडाता। सज्जन नभी समुद्रके समान अत्यन्त सहनशील होतेहैं॥ ७७॥

छप्पय—इत सोवत श्रीकृष्ण इतें वैरी दानव गन। इत-गें गिरवर वृन्द सरन सोवत निर्भयमन। इतकों वाडव अग्नि हित जलमाहि निरन्तर। मच्छ कच्छ इत्यादि रहत सुखसों सव । अतिही अगाध ऊचों अधिक सहनशीलताकी अवध। गस्तार अमित कहिये कहा अद्भुत गति राखत उद्धि॥ ७७॥ तृष्णां छिन्धि भंज क्षमां जीह मदं पापे रितं मी कृथीः क्षेत्यं ब्रुह्मेनुर्थीहि सार्धुपद्वीं सेर्वस्व विद्वीन नम्॥ मीन्यानमानय विद्विचीऽप्यनुनैय प्रस्यापय स्वीन्रुणान्कीर्ति पार्ठय दुः खिति कुर्ह द्याँ मेतित्संतां रक्षणेम् ॥ ७८ ॥

सं० टी-अधुना सतां छक्षणं वर्णयति । तृष्णामिति । तृष्णां स्पृहां छिन्य । ह्यान्ति भज सेवस्य । मदं दर्पे जिह त्यज । पापे पापकमिणि रितं प्रीति मा क्रयाः मा कुरु । ह्य ब्रिह्, यथार्थ भापणं कुरु । साधूनां सज्जनानां पद्धीं मार्गमनुयाहि अनुगच्छ । विद्वजनान् पिट्य जनान् सेवस्य । मान्यान् मानय । विद्विपोऽप्यनुनय सान्त्वय । स्वान् स्वकीयान् गुणान् प्रस्यापक सीतिं यशः पाछय । दुः खिते दयां कुरु । एतत् सतां सज्जनानां छक्षणम् । शार्टू छविक्रीडितं वृत्तिमिदं॥ १८

आ० टी०—हुण्णाका छेदनकरो, क्षमा धारणकरो, अभिमानका परि त्याग करो, पापमें मन मत लगाओ, सत्य वोलो, साधुजनोंकी पदवीको प्राप्तकरे विद्वानोंकी सेवाकरो, मान्यपुरुषोंका आदरकरो, शत्रुकोभी प्रसन्नरक्षे अपने गुणोंको प्रसिद्धकरो, यशका पालन करो, और दुःखियोंपर द्या करो, वेह सब सत्पुरुषोंके लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

छप्पय—तृष्णाकों ताजि देहु क्षमाको भजन करहु नित दया हियेमें राख पापसों दूर राखि चित । सत्य वचन मुह् बोल धर्मपदवी जिय धारहु । सत्पुरुषनकी सेव नम्रता अति विस्तारहु । सब गुणसु अपने गुप्त रखि कीरत पर पालन करहु करि दया दुखित नर देखके सन्त रीति यह अनुसरहु ॥ ७८

मर्नेसि वचैसि कौये पुण्यपीयूषपूँणीस्त्रिभुँवनमुपका-

्श्रीणिभिः प्रीणयन्तः ॥ परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य

नित्यं निजहिदि विकसंतः सीन्त सन्तः कियन्तः॥ १९॥ सं टी० — अस्मन् जगति स्वप्रकाशमानानां साध्नां दर्शनमतीव दुस्तरामित्याह ॥ति । मनिस हृदये वचिस, वाण्यां, काये, देहे पुण्यं सुक्ततमेव पीयूपममृतं तेनपूर्णाः । ४

अणीमिरुपकारपंक्तिभिद्धिभुवनं श्रीणयन्तस्तर्पयन्तः । परेपां गुणास्तेपां परमाणून पर्वती

त्य पर्वतप्रमाणान् कृत्वा नित्यं निजहिंद स्वान्तःकरणे त्रिकसन्तः प्रकाशमानाः सन्तः सज्जनाः । त्यन्तः विरत्याः सन्ति । परोपकारकारिणः सन्तो दुर्लभा इति भावः ॥ ७९ ॥

भा० टी०—जिनके तन, मन और वाणीमें पुण्यरूपी अमृत भराहुआ हैं, जनने अपने उपकारोंसे तीनों लोकोंको प्रसन्न किया है, और जो दृसरेके पर-णुवरावर गुणोंको पर्वतके समान वढाकर अपने हृदयमें सदा प्रसन रहतेहैं से सज्जन मनुष्य इस संसारमें विरलेही हैं॥ ७९॥

दोहा--अमृत भरे तन मन वचन निशिदिन जग उपकार। परगुण मानत मेरुसम विरहे जन संसार ॥ ७९ ॥

किं तेने हेमगिरिणा रजताँद्रिणा वाँ यंत्राश्रितांश्र्य तरंबस्तरेंबर्स्त एवं ॥ मन्योंमहे मर्छेयमेवं यदाँश्र-येण कङ्कोळिनंबकुर्टंजा अँपि चन्देंनाःस्युः ॥ ८० ॥

सं० द्वा०--परोपकारकारिणः सज्जनाः स्वकीयोत्तमगुणानन्येष्यपि स्थापयन्तिति मह-॥न्योक्तया व्यनक्ति । किमिति । कि तेन हेमगिरिणा मेरुणा रजताद्रिणा रोष्यगिरिणा किलासेन या म्तोऽस्याधितास्तरवस्तरव एव नत्वात्मसदृशाः सुवर्णस्त्रप्यस्त्याः ग्रताः । शतग्ताभ्यां कि प्रयोजनम् । १स्मात् मल्याद्वि बहु मन्यामहे यते।ऽस्याधिताः कल्कोलनिम्बबुद्धजा वृक्षाः अपि चन्द्रनाःस्युक्षन्द्रसा ।व भवन्ति चन्द्रनवृक्षवद्गासन्त इति चन्द्रनवृक्षाणां परोपकारः । वसन्तानलका वृक्षाम्म, ॥८०॥

भा० टी०—वह सोनेका सुमरेपर्वत, और चान्दीका कॅलासपर्वत किस जामका है जिसके आश्रित इक्ष सदा इक्षही चनेरहे (साने चांदीक न हुए) हम ते मलयाचलपर्वतकीही वडाई करेंगे कि जहां कल्कोल, नीम और मुटजके क्षभी चन्द्रनकेसमान होजातेहैं॥ ८०॥

सोरठा-ऐरे निलज सुमेर तो साथी पाथर रहे। मलयागिरि कहँ हेर कुटज नीम चन्दन किये॥८०॥

अथ धैर्यप्रशंसा ।

रैत्नैर्महाँहेरितुतुंपुर्ने देवां नं भेजिरें भीसंविषेण भी-तिंस् ॥ सुंधां विनीं नें प्रयेंयुविंरींसं नें निध्यितीं-र्थादिरमेंन्ति धीरींः ॥ ८१ ॥ सं० टी०—" धीरपुरुपा ।निश्चितार्थप्रानिविना उद्योगं न त्यजित " इति व मथनोद्योगप्रवृत्तदेवदृष्टान्तन दर्शयति । रत्नेरिति । धीरा निश्चितार्थात् न थिरमिति न विश्व किन्तु तस्य प्राप्तिपर्यन्तमुद्योगं कुर्वन्ति । अत्र दृष्टान्तः । देवा महामूर्त्यं रत्नेने तृतुपुः क्रिकीः प्रापुः । तथाच भीमेन भयंकरेण विषेण भीति भयं न मेजिरे न सिपेबिरे, भवंकरिकः भयं न प्रापुरित्यर्थः । तु सुवाममृतंविना विरामं विश्रामं न प्रययुः न प्रापुः । निश्चितार्यक्षपुर्वते देवा विरामं न प्राप्ता इति भावः । इन्द्रवज्ञावृत्तमिदम् ॥ ८१ ॥

भा॰ टी॰-अनमोठ रत्न पाकर देवता सन्तुष्ट न हुए, भयंकरिक्षे भी भयभीत होकर उनने समुद्रका मथना न छोडा, और, अमृतको निकाछ कि विश्वाम न किया, इससे यह सिद्ध हुआ कि वीर मनुष्य, प्रारम्भिकिये कार्यको विना प्रा किये नहीं छोडते॥ ८१॥

छप्यय—महा अमोलक रत्न नाहिं रीझे सुर तिनसीं महा हलाहल जान प्राण डरपत नहिं जिनसों। रहत चित्तकी वृष्यिक अमृतसों अतिही। तैसेंही नरधीर काज निश्चे कर महि। सब दोषरहित अरु गुणसहित ऐसे कारन मन घरति तिहिको सुअर्थ अमृत लहत कोऊ दुखकों नहिं कर्त ॥ ८१॥

केचिद्धेमो राय्या केंचिदंपि च पर्यद्वश्राग्तं किंचि-च्छाकाहारः केंचिदेपि च शाल्योदनेर्राद्वः॥ केंचि-त्कन्थीधारी केंचिदंपि च दिव्याम्बेर्यको मन्देवी कार्यार्थी नै गेंणयति दुःखें ने चें सुखेंम्॥ ८२॥

सं टी०—मनस्वा कार्यायां पुरुपः सुखं दुखं च न गणयतीत्याह—क्राचिदिति । क्रांचित् मृमो शय्या शयनं । क्राचिदिपेच न पर्यके शयनं करोति, क्राचिच्छाकाहार शाकमें क्राचिदिपेच शाल्योदने रुचिंपस्य स शाल्योदनमोजी । क्राचिद् कथां धारयतीति कत्थाधार

ंच दिव्यं सुन्दरमम्बरं वस्तं घरतीति दिव्याम्बरघरः । स कार्यार्थी कार्येच्छुः मनस्वी विवे ुःखं सुखं च न गणयति । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ८२॥

भा० टी०-कभी पृथ्वीपर सोरहतेहैं, कभी उत्तमपढ़ंगपर अयमक भी साग पात खाकर रहजातेहैं, और कभी चांवलादिका उत्तम भोज , कभी गृद्डी छोंडकर दिन वितादेह, और कभी दिव्यवस्त्र भार रतेहै, धेर्पवान पुरुपकों जब कार्य साधन करना होताहै तो सुख और दुःखको पामही गिनताहै ॥ ८२ ॥

दोहा—भूमिशयन कहुं पलँगपै शाकहार कहुं मिए। कहुं कंथा सिरपाँव कहुं अधीं सुख दुख इए॥ ८२॥ ऐश्वैर्यस्य विभूषणं सुजनेता शोर्थस्य वाक्संयमो ज्ञानस्योपश्माः श्रृतस्य विनयो वित्तस्यं पीत्रे व्ययैः॥ अंक्रीधस्तपँसःक्षमीं प्रभैवितुर्धर्मस्य निर्वा-र्क्तता सर्वेषीमैपि सर्वकीरणिम दें शिलं पैरं भूषणैम्॥८३॥

सं टी०—शोलमेव परमोत्तमभूषणिमत्याह । ऐश्वर्थेति । सुजनता सौजन्यमैश्वस्य वैभवस्य विभूषणमलङ्कारो भवति । ऐश्वर्ये प्राप्ते सित सुजनतेव सम्पादनीयिति भावः ।
गौर्यस्य वीर्यस्य वाक्संयमः वाङ्नियमः । शौर्थे सित वाण्या तस्यानुद्धाटनं कर्तव्यमितिभावः । ज्ञानस्य
वेभूषणमुपशमः शान्तिरिक्त । श्रुतस्य शास्त्रश्रवणस्य विनयो नम्रता विभूषणमिति । वित्तस्य धनस्य
त्रि सत्पात्रे व्ययो दानं धनवित सित दानमवद्यं करणीयम् । तपसोऽक्रीधः । प्रभवितुः समर्थस्य
तमा क्षान्तिः समर्थेन क्षमाऽवद्यमेव कार्या । धर्मस्य विभूषणं निर्व्याजता कपटराहित्यम् ।
त्रिवामिष जनानां सर्वगुणकारणिदं शीलं परमं श्रेष्ठं भूषणमित्ति । " सर्वे गुणाः स्वभावतः
सेद्धा भवन्ति " इतिभावः । शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८३ ॥

भा. टी०-ऐश्वर्यका भूषण सज्जनता है, अपनी वाणीको वशमें रखना
पूरके श्र्ताकी शोभा है, ज्ञानकी शोभा शान्ति है, शास्त्रका भूषण विनय है, धन
की शोभा सत्पात्रको दान करना है, तपकी शोभा क्रोध न करना है, प्रभुत्वकी
शोभा क्षमा है, धर्मका भूषण निष्कपटता है, और अन्य सवगुणोंका भूषण और
कारण शील है।। ८३।।

कुण्डलिया-मण्डन है ऐश्वर्यको सज्जनता सनमान। वाणी सज्जन शूरतामण्डन धनको दान। मण्डन धनको दान ज्ञानमण्डन इन्द्रीदम । तपमण्डन आक्रोश विनयमण्डन बोहत सम। प्रभुतामण्डन क्षमा धर्ममण्डन छलखंडन। सव-हिनमें सर्दार शीलता सबको मण्डन॥ ८३॥ निन्देन्तु नीतिनिधुणा यैदिवा स्तुवंन्तु छद्देमीः समाँविशतु गच्छेतु वा यथेष्ट्रेम् ॥ अँद्यैवै वाँ मर्गणमस्तु युगाँन्तरे वाँ न्यार्थ्यात्पर्थः प्रविचैछन्ति पेदं ने धीर्राः ॥ ८४ ॥

भा॰ टी॰—नीतिविशारद मतुष्य चाहे निन्दा करे चाहे प्रशंसा करें लक्ष्मी चाहे आवे चाहे चली जाय, मृत्यु अभी आजाय और चाहे युगके अन्तर्म हो परन्तु धैर्यवान पुरुष न्यायके मार्गसे एक पगभी नहीं हटते॥८४॥

छप्पय-नीतिनिपुण नर धीर वीर कछु सुजस करो किन अथवा निन्दा कोटि कहाँ दुर्वचन छिनिहं छिन । सम्पत्हू चित जाऊ रहो अथवा अगणित धन । अविह मृतक किन होहु हो अथवा निश्चल तन।पर न्यायपंथकों तजत नहिं बुद्ध विवेक गु ज्ञाननिधि।यह संगसहायकरहत नितदेत लोक परलोक सिधिश

भयाशैस्य करण्डपीडिततंनोम्कीनेन्द्रियस्य क्षुधौ कृत्वाखुविवरं स्वैयं निपैतितो र्नक्तं मुखे भोगिनः॥ तृंतस्तित्पिशितेनें सर्वर्मसो ते नैव योतः पर्था छोकीः पश्यत देवेंमेवें हि नृणीं वृंदो क्षेये कारणेम्॥८५

सं ॰ टी॰—दैवनेव हि नुगां वृद्धिश्चययेः कारणिमित सर्पदृष्टान्तेन वर्णयित । भर शस्येति । कश्चित् सर्पे व्यावक्रिहिया भृत्वा करण्डमध्ये निश्चितस्तस्य स्थिति वदित । कथंभृतस्य सर्पः स्यादस्य " व्यवसामान्त्रमुक्तः स्वाभिति" भग्ना आशा यस्य । पुनः करण्डपीविततनोः करण्ये दंश्विता तनुर्यस्य । पुनः क्षुत्रया स्टानिन्द्रयस्य । एवं जाते सीते दैयवशात् कश्चिद्रमपुर्भृपकत्वत्रागः तरण्डस्य विवरं छिद्धं कृत्वा नक्तं रात्रावन्तः प्रविष्टः सन् भोगिने। मुखे पतितः पश्चात्त-खोः पिशितेन स सर्पस्तृप्तस्तेनैव छिद्रमार्गेण विर्ध्यातः । अतो भो जना यूयं स्वस्थास्तिष्ठत मद्रप्टमेत्र नृणां वृद्धे। क्षये च कारणमस्ति । अदृष्टवशात् यद्भविष्यति तद्भविष्यति । शार्द्कु-जीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८९ ॥

भा॰ टी॰—एक सर्प पिटारेमें वन्द होनेसे पीहित जीवनकी आशा हकर वैठाहुआ भूखसे उसकी इन्द्रियां शिधिळ होगईथी। इतनेहीमें रात्रिके य एक पूपक पिटारेमें छेदकर भीतर छुसा और सर्पके मुखमें स्वयं गिरपडा। भी उसको खाकर सन्तुष्ट होके उसी छेदकी राहसे वाहर निकलगया। इसलिये होगो!देखो मनुष्यकी वहती और घटतीका केवल दैवही मुख्य कारण है॥८५॥ कुण्डलिया—जैसे काहू सरपहूं छवरेपकर धस्वौसु। देसिर उपस्वौसु भयो पीडित अति केदी। इन्द्री विह्वल भूख पिटारी में छेदी। वाहीको भिख माँस छेद है निकस्यो ऐसे। मनकों थिर राख करें प्रभु ऐसे जैसे॥ ८५॥।

पौतितोऽपि कराधातेरुत्पंतत्येर्वं कन्दुंकः॥ अविण साधुर्वत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥ ८६॥

सं ॰ टी ॰—साधुवृत्तीनां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्तीति कन्दुकदृष्टान्तेन दर्शयति । तेत इति । यथा करस्य हस्तरयाघाँतस्ताडँनः कन्दुकः पातितोऽपि पुनरूर्ध्वमुत्पतत्येव । तथा ते बाहुस्येन साधुवृत्तानां सजनानां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्ति । अनुप्रुवृवृत्तिमदम् ॥ ८६ ॥

भा ॰ टी॰—जैसे गैंद हाथसे फेंकनेपरभी ऊपरहीको उठती है, इसीपकार यः साधुननोंका दुःस थोडेही दिनोंका होताहै ॥ ८६ ॥

हा—करको माखो गेंद ज्यों लागि भूमि उठि आत।

साधुसखनकी खोँ विपति छिनहींमें मिटजात ॥ ८६॥ आर्छस्यं हि मनुष्याणां शरीररेथो महाँन् रिपुँः॥ नीरत्युद्यमसमो बन्धुर्ये केत्वा नीवसीदिति॥ ८७॥

सं वि दी ० — इदानी मुचमप्राधान्यं वर्णयिति । आउस्यिमीति । आउस्यमुची गराहित्यम् । प्याणां शरीरे तिष्ठतीति शरीरत्थो महान् रिपुः शतुः हि इति निश्चयेनास्ति । उचमेनोचोजेन । वन्युर्न । यमुचमं फ़त्वा मेनुष्या नाऽत्रसीदिति दारिद्यादिदुः खं न प्राप्तोति । उचीमोऽवश्यं कर्तव्य । भाषः ॥ अनुष्टुत्वृत्त्तिस्म् ॥ ८७ ॥

निन्दैन्तु नीतिनियुणा यैदिँवा स्तुवंन्तु छक्ष्मीः समाँविशतु गच्छैतु वी यथेष्टम् ॥ अचिवै वी मरणमस्तु युगीन्तरे वी न्यार्थ्यात्पर्थः प्रविचैत्रलन्ति पेदं ने धीरीः॥ ८४॥

सं० टी०—धीरपुरुपा न्यायपथात् कदाचिदिप न प्रविचल्नतीति वर्णयति । तिविति । नीत्यं नये निपुणा विशारदाः कुशलाः पुरुषा निन्दन्तु निन्दां कर्वन्तु, यदि वा पुरुषिति छर्वन्तु, लक्ष्मीः सम्पत् यथेष्टं यथेच्छं समाविशत्वागच्छतु वा गच्छतु । अधैव मरणं १८३ वा युगान्तरेऽन्यस्मिन् युगेऽस्तु । परन्तु धीराः पुरुषा न्याय्यात् पथः न्यायमार्गात् कदि प्रविचलन्ति । वसन्तितलकावृत्तमिदम् ॥ ८४ ॥

भा० टी०—नीतिविशारद मनुष्य चाहे निन्दा करे चाहे प्रशंसा । लक्ष्मी चाहे आवे चाहे चली जाय, मृत्यु अभी आजाय और चाहे युगके हो परन्तु धैर्यवान पुरुष न्यायके मार्गसे एक पगभी नहीं हटते॥ ८४॥

छप्पय-नीतिनिपुण नर धीर वीर कछु सुजस करो किन अथवा निन्दा कोटि कहो दुर्वचन छिनिहं छिन । सम्पत्ह क् जाऊ रहो अथवा अगणित धन । अविह मृतक किन होह बे अथवा निश्चल तन।पर न्यायपंथकों तजत निहं बुद्ध विवेक इ ज्ञाननिधि।यह संगसहायक रहत नितदेत लोक परलोक सिधि

भयाशैस्य करण्डपीडिततैनोम्छीनेन्द्रयर्स्य क्षुर्थां कृत्वाखुविवेरं स्वेयं निपैतितो र्नकं मुंखे भोगिनः॥ नृंतस्तितिद्देशेतं स्वेयं निपैतितो र्नकं मुंखे भोगिनः॥ नृंतस्तितिद्देशेतं स्वेयं सर्वेरमेंसो ते नैवे यौतः पर्था लोकीः पर्येत द्वेमेवें हि नृंगीं वेंद्वो क्षेये कारणम्॥८४

सं र टीं - देवस्व हि नृणां कृद्धिश्वयोः कारणभिति सर्परद्यानेन वर्णयति । व हास्येति । कृद्धित् नृत्ते व्यात्वव्यक्तिणा भूत्वा करण्डमध्ये निवित्तसत्तस्य स्थिति वदीत । क्षयं भृतास्य में भवाहस्य त्राह्मस्य । पुतः खुक्या स्टानिति वस्य । पूर्व जाते सति देववद्यात् कृद्धिदरमुर्गुप्तस्य स्टानिति वस्य । पूर्व जाते सति देववद्यात् कृद्धिदरमुर्गुप्तस्य स्टानिति वस्य । पूर्व जाते सति देववद्यात् कृद्धिदरमुर्गुप्तस्य स्टानिति तत्करण्डस्य विवरं छिद्रं कृतवा नक्तं रात्रावन्तः प्रविष्टः सन् भोगिने। मुखे पतितः पश्चात्त-रपाद्योः पिशितेन स सर्पस्तृप्तस्तेनेव छिद्रमार्गेण विश्वेतः । अतो भो जना यूयं स्वस्थास्तिष्ठत देवमद्रष्टमेत्र नृणां वृद्धां क्षये च कारणमस्ति । अदृष्टवशात् यद्भविष्यति तद्भविष्यति । शार्दूल-विज्ञीदितं क्षत्तिमदम् ॥ ८९ ॥

भा॰ टी॰—एक सर्प पिटारेमें वन्द होमेसे पीहित जीवनकी आशा छोडकर वेटाहुआ भूलसे उसकी इन्द्रियां शिथिळ होगईथी। इतनेहीमें रात्रिके समय एक मूपक पिटारेमें छेदकर भीतर ग्रुसा और सर्पके मुखमें स्वयं गिरपडा। सर्पभी उसको खाकर सन्तुष्ट होके उसी छेदकी राहसे वाहर निकलगया। इसलिये हे लोगो। देखो मनुष्यकी वढती और घटतीका केवल दैवही मुख्य कारण है॥८९॥

कुण्डिया—जैसे काहू सरपहूं छवरैपकर धस्वौसु। देसिर फूट पस्वोसु भयो पीडित अति कैदी। इन्द्री विह्वल भूख पिटारी मृसें छेदी। वाहीको भिख माँस छेद है निकस्यो ऐसे। मनकों तृं थिर राख करे प्रभु ऐसे जैसे॥ ८५॥

पौतितोऽपि कराधातैरुत्पैतत्येर्वं कन्दुंकः॥ आँयेण साधुर्वत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥ ८६॥

सं टी ०—साधुवृत्तीनां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्तीति कन्दुक्तदृष्टान्तेन दर्शयति । पातित इति । यथा करस्य इस्तरयाघातस्ताउनः कन्दुकः पातितोऽपि पुनरूर्ध्वमुत्पतत्येव । तथा प्रायो बाहुल्येन साधुवृत्तानां सज्जनानां विपत्तयः अस्थायिन्यो भवन्ति । अनुष्टुवृवृत्तिमदम् ॥ ८६ ॥

भा॰ टी॰—जैसे गैंद हाथसे फेंकनेपरभी फपरहीको उटती है, इसीमकार ग्रायः सामुजनोंका दुःख थोटेही दिनोंका होताहै ॥ ८६ ॥ कोहा—करको सास्त्रो गैंद ज्यों लागि भूमि उठि आत।

साधुसखनकी त्यों विपति छिनहीमें मिटजात ॥ ८६॥ आर्ळस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महाँन् रिर्पुः॥ नीरत्युद्यमसमो वन्धुर्यं कत्वा नीवसीदति॥ ८७॥

सं ० दी ० — इदानी मुद्यमप्राधान्यं वर्णयति । साङ्स्यमिति । साङ्स्यमुद्योगराहित्यम् । मनुष्याणां शरीरे तिष्टतीति शरीरस्थो महान् रिपुः शत्रुः हि इति निश्चयनाति । उपने निद्योगेन समो वन्युने । यमुद्यमं कृत्वा मेनुष्या नाऽवसीदिति द्यारियादिदुःखं न प्राप्नोति । उपने ने देशेने द्वर्षः नर्तन्य दिति माषः ॥ अनुष्टुव्वृत्तानिदम् ॥ ८७॥

भा॰ टी॰—आलस्य गतुण्यों के शरीर में महाशत्र हैं, उरोग के समान ज्यका दूसरा कोई बन्धु नहीं कि जिसके करनेसे मतुण्य कभी हुन्स नहीं पाता हिंदि दोहा—आलस वैरी सनत तन सब सुखकों हरलेत । त्योही उद्यम बन्धुसम कियें सकल सुख देत ॥८७

छिन्नोऽपि रोहँति तरुँःक्षिणोप्युंपँचीयते पुनेश्चन्द्रः॥ इँति विमृश्नेंतः सैन्तः संतर्धनते ने विध्लुता छोके ॥८८॥

सं० द्वी ० — " तुःखप्राप्ताविष सन्ते। न सन्तप्यन्ते " इत्याह । छित्र इति । तर्ज्यः दिछन्नोऽपि निकृतोऽपि पुना रोहित । तथा क्षीणोऽपि कळाक्षीणो पि चंन्द्रः पुनक्पचीयते विष्णुप्ता । इत्यनेन विमृशन्ते। विचारयन्तः सन्ते। विष्णुता आपदा न सन्तप्यन्ते दुःखिने। न भवन्ति ॥ आर्यावृत्तिमदम्॥ ८८॥

भा॰ टी॰—कलमिकया हुआ वस वहकर फिर फैलजाताहे, चन्द्रमा घटका फिर वहजाताहे. यह विचारकर सज्जन दुःख पानेपरभी सन्ताप नहिं करते॥ ८८।

दोहा--छीन पत्र पछवित तरु छीन चन्द्र वढवार । सतपुरुषनकी विपति छिन सम्पति सदा अपार॥८८॥

इति धैयप्रशंसा।

अथ दैवप्रशंसा ।

नेता यस्य बृहर्रेपतिः प्रहॅरणं वज्ञं सुंराः सैनिकाः स्वभी दुर्गमनुष्रहेः किले हेरेरेरावेती वीरणः॥ इत्ये र्थियवलान्वतोऽपि वर्लिभद्रग्नेः परेः संभिरे तिद्यौत्तं वैरमेव देवशरेणं घि निधैग्रुधा पौर्हेषम् ॥ ८९॥

सं टी - देवे प्रतिकूळ सर्व यत्ना विफला मवन्तीति इन्द्रदृष्टान्तेन दर्शयित । नेतिति । यस्य इन्द्रस्य वृहस्पतिनेता नायकोऽस्ति । वर्ज कुल्यिः प्रहरणमायुधम् । सुरा देवाः सैनिकाः दुःखेन गम्यते तहुर्ग स्वर्गः । हरेरनुप्रहः कृपा किलेति प्रसिद्धम् । वारणः गजः ऐरावतः । । इस्येनन प्रकारेणैश्वर्ये वल्या ताम्यामन्त्रितो युक्तोऽपीन्दः बलिभिः परैः शत्रुभिः संगरे संप्रामे भगः

ंपराजितः । तत्तस्मात् दैवशरणमेव वरमिति व्यक्तं स्पष्टम् । दैवहीनं पौरुपं दृथा विगिधागिति । दैयस ंहायतांविना पौरुपं निष्फलमितिभावः । शार्दृल्विऋांडितवृत्तमिदम् ॥ ८९ ॥

भा० टी० — बृह्स्पितिसमान जिसके मंत्री हैं, वज जिसका अस हैं, दिवतागण जिसकी सेना हैं, स्वर्ग जिसका गढ हैं, और ऐरावत जिसके चटनेका हाथी है, ऐसा ऐश्वर्यवलसपन इन्द्र शत्रुओंसे संग्रापमें हांदताही रहा, इस लिये दैवही शरणके योग्य हैं, और वृथा पुरुपार्थको विकार हैं। ८९॥

छप्य--सुरगुरु सेनाधीश सुरनकी सेना जाके। शस्त्र हाथ-िलये वज्ज स्वर्ग सी दृढगढ ताके॥ ऐरावत असवार प्रभृकी परम अनुग्रह। ऐसी सम्पित सींज सिहत सोहत सु इन्द्र यह ॥ सो युद्ध माँहि दानवनसों लहत पराजय खोय पित । शोभा समाज सबही वृथा सबसों अद्भुत दैवगित ॥ ८९ ॥

कर्मांयत्तं फैंळं पुंसां वुँद्धिः कर्मानुँसारिणी ॥ त्रंथापिँ सुधिया भाष्ट्रेयं सुविचार्येवं कुर्वती ॥ ९०॥

सं० टी०—बुद्धिमता सुविचारपूर्वकमेव कार्य कर्तव्यमिश्याह । कर्मेति । यर्गित पुंसां फ्रष्टं मुखदुःखादिकं कर्मायत्तं कर्मोधीनमस्ति तथा बुद्धिः कर्मानुसारिणी कर्मानुमामिनी अपित तथापि मुधिया बुद्धिमता मुविचार्थिव कर्म बुर्विता भाव्यम् । अनुगुवृत्तामिदम् ॥ ९०॥

भा ॰ टी०--यद्यपि मनुष्योंको उनके क्यानितार फल मिलताँ, ऑर पुद्धिभी कर्मके अनुसारही होजातीहै तथापि बुद्धिमानोंको उचित है कि कार्य विचारकर करें ॥ ९० ॥

दोहा—फलह पावत कर्मते घुषह कर्म अधीन।
तद्यपि बुद्धिविचारकै कारज करों प्रवीन॥ ५०॥
खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किर्रणेः संतापितो मस्तेके
वाईछन देशमनातपं विधिवशात्तार्लस्य मृंछं गर्तः॥
तैताप्यस्य महीफलेन पेतता भेंशं सर्शव्दं शिरंः
प्रीयो गर्न्छाति यशैं भार्यरहितस्तैं वैवै चीत्यापेदः॥ ५॥

सं० टी०——भाग्यहीनो नरो यत्र गच्छित तत्र दुःखमेत्र छभत इति तः उद्यान्त वर्णयति । खल्वाट इति । यथा खल्वाटः पुरुपो विहिरटन् दिवसेश्वरस्य दिनकरस्य सूर्यस्य गिर्मस्तके सन्तापितः सन्ननातपं धर्मशून्यं देशं वाच्छित्रच्छन् विधिवशात् दैववशात् विवश्वस्य मूळं गतः । तत्रापि तिस्मन् स्येछेऽपि दैववशादकस्मादेव पतता महाफलेनास्य टस्य शिरः सशद्वं यथास्यात्तथा भग्नमभूदिति शेषः । तथा प्रायो यत्र यस्मिन् स्थाने विदित्ते भाग्यहीनो नरो गच्छित तत्रैव तं प्रत्यापदो यान्ति ॥ शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९१ विदित्ते भाग्यहीनो नरो गच्छित तत्रैव तं प्रत्यापदो यान्ति ॥ शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९१ विदित्ते भाग्यहीनो नरो गच्छित तत्रैव तं प्रत्यापदो यान्ति ॥ शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९१ विद्यापदो यान्ति ॥ शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९१ विद्यापदो यान्ति ॥ शार्दूळविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९१

भा० टी०—एक गंजे मनुष्यका सिर जव सूर्यकी किरणोसे जलनेला तब वह छायाकी इच्छा करके दैवयोगसे तालके मेडके नीचे गया। वहां जा ही शीघ एक वडा फल गिरा। जिससे उसका शिर दूटगया। इसका यह भागा ट कि भाग्यहीन पुष्प जहां २ जाताहै वहां २ विपत्तिभी उसके पीछे जाती है॥९१॥

छप्ठय—टांट उघारै मूढ वारहू सिरपर नाहीं। तप्यो जेठको घाम वेलकी पकरी छाहीं। तहां वेलफल एक शीसपर पखो सुवाके। फूटि गयो करि शोर पीर वाढी तनुताके। सुक ठार जा विरम्यो सुवस तहां इते दुखकों सहत। निर्भाष पुरुष जित जात तित वेर विपति अगनित छहत॥ ९१॥

शशिदिवाकरयोर्गहपींडनं गजभुजैङ्गमयोरेंपि वन्ध-नम् ॥ मतिमतां चै विछोक्य दरिर्द्रतां विधिरहीं वैछवानिति में मैंतिः ॥ ९२ ॥

मं ० दी ० — देवगतिर्विष्ठयसीति सद्यान्तं वर्णयति । दाशीति । दाशी चन्द्रः दिगासः सूर्वस्तवेर्ष्वरेण राष्ट्रणा पीटनं । गजा द्विपः भुजगानः सर्पः तथारिष वंधनं । गतिगतां निद्रार्थं द्विप्ततं द्वितं विष्ठेतस्य द्वष्ट्वा विधिदेवं बलवान् बलिप्टेर्ट्सिति मे माग गतिरास्ति । अहे। इत्याश्चर्ये द्वतिर्विद्यत्त्वसित्तः ॥ ९२ ॥

नाव दीव-सूर्य और सम्द्रमामें महणकी पीटा देले, हस्ती और सर्पकी इंग्रह देखा और दुविसानोंकी दरिष्टी देखे, मुककी यही निश्रय होता कि देवरिक वर्टी सरकार है।। ६२॥

छप्य-पि इति निरादिन फिरं प्रहणसी पीटा पार्षे। बृहत् काय गत तुग्न नेतु छयुसी वैथ जाये॥ महाभयंकर सर्ग मंत्रवस रहे मौन गह॥ जोगी अटल अकाम होय कामी इक क्षण सहँ॥ अधिगत शास्त्रसमूह महापंडितवर ज्ञानी॥ निर्धन सहें कलेश विधाता गति वडजानी॥ ९२॥

सृजिति तांवद्शेषगुणोकरं पुरुषर्तनमळकॅरणं मुबः॥ ताँदीप तत्क्षणभाक्ति कैरोति चेदिहहीं कष्टैमपण्डित-ता विधे: ॥ ९३॥

सं ॰ टी ॰ — विधेरपण्डिततामाह । सृजतीति । ब्रह्मा तावदादी अशेपा ये गुणास्तेपा माकरं खानि सर्वगुणानामुत्पत्तिस्थानं भुवः पृथिव्या अलंकरणमलंकारभूतमेतादशं पुरुपरत्नं स्ट्रजति तदिप पुरुपरत्नमपि तत्क्षणभंगि तत्क्षणनाशशीलमलायुः करोति चेदहहेति खेदं काष्टं यथा स्यात्तथेयं विधेर्ब्रह्मणोऽपण्डितताऽज्ञातताऽस्ति । द्वत्विलम्बितं वृत्तमिदम् ॥ ९३ ॥

भा० टी०—विधाता पुरुपरत्नको सर्वगुणीकी खानि और पृथ्वीका मूपण वनाताहै, परन्तु यह वडे कप्रकी वात है कि उसका जीवन क्षणभङ्गुर ही वनाताहै। इसमें विधाताकी मूर्खताही है॥ ९३॥

दोहा—सव गुणगुत भूषण मही पुरुषरत्न नर कीन्ह ॥
ये लागत मोहि मन्द विधि क्षणभंगुर तन दीन्ह ॥ ९३ ॥
पैत्रं नैवं यदे। करीरविटपे दोषी वसन्तर्स्य किं
नोलिकोडिप्येवलोकिते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ॥
धारी नैं वे पतीन्त चार्तकमुखे मेघरेय किं दूषणं
येत्पूँवी विधिना ललाटिलिखितं तैन्मांजितुं कें क्षिमः॥ ९४॥

सं० टी०—विधिलिखितं मार्जितुं मःशक्य इति करीरवृक्षादेर्रेष्टान्तेन वर्णपति । पश्चिति करीरविटपे करीरवृक्षे यदा पत्रं नेव भवति तदा वसन्तस्य किं दोषः । यगुल्को दिवार्धाते दिवाऽपि दिवसेऽपि नाऽवलोकते तर्हि सूर्यस्य दूपणं किम् । यदि चातकमुखे धारा जलभारा नेव पतान्ति तर्हि मेघस्य दूपणं किम् । यत् यस्मात् विधिना प्रहाणा जन्मकाले ल्लाटे लिखितं तन्मार्जिनं कः क्षमः समर्थः न कोऽपि । प्रारच्चमेव वलीय इति भावः । शार्जूलविक्विटितनृत्तिवरम् ॥ ९९॥

भा॰ टी॰—यदि करीरके इसमें पत्ते नहीं हमते तो वसन्तका क्या होत है! यदि छट् दिनमें नहीं देखसपता तो सूर्यका क्या दोष एँ! यदि चातकके हतमें जलकी धारा नहीं पडती तो मेघका इसमें क्या दोप है?। सत्यतो यह है हि कुछ विधाताने ललाटमें प्रथमही लिखदियाहै उसको कीन मेटसक्ताहै ॥ ९४॥

छ्रप्य—कहा वसन्ति दोष करीरिह पात न आहीं। ज्ये लगे अंध्यार दिवस रिव दुषण नाहीं॥ ज्ये। चातक ुर्धा पढ़े निहं जलकी धारा॥ दूषण दैवे जोग नहीं घन देखि जिस सत्य यही जिव जान लिख्यों जो भाल विधाता॥ मेट न जि कोय समझ जिय लीजे जाता॥ ९४॥

इति दैवप्रशंसा ।

अथ कर्मप्रशंसा ।

नमस्यामो देवाँ वर्नुं ह्तिविधस्ते रिप वदागा विधिर्व-न्यः सोऽपि अतिनियतकर्भेकफ्छैदः॥ फैलं कर्मा-यत्तं किमैमर्रगणः कि चै विधिर्मा नैमस्तैंत्कर्मभ्यो विधिर्रापे नै येक्यः प्रभैवति॥ ९५॥

मं ० टी ० — द्वानी वार्त शावते । नमस्याम इति । देवानिन्द्रादीन् यमं गर्यः स्टब्स्ट्रेंः। ति तिर्देश इत्विकेश्वामा अद्यादीनाः स्टातन्त्रेयण पाठं दानुगदाताः । शयं विभिन्नेद्वामा अद्यादीनाः स्टातन्त्रेयण पाठं दानुगदाताः । शयं विभिन्नेद्वामा प्रतिनित्त्रते द्वानेद्वामा । पाठं वापत् वर्षः स्टिति प्रतिनित्त्रते वर्षः देवस्थेदेन विभिन्ना च विभागस्यक्ष्येभयो नमः । येग्यो विभिन्नेद्वामा । विभिन्नेद्वामा । वर्षः वर्षः देवस्थेदेन विभिन्ना च विभागस्यक्ष्येभयो नमः । येग्यो विभिन्नेद्वानेति । विभिन्नेद्वानेदिन ॥ ९६ ॥

भाव दीव-देवताओं को हम नमस्यार करते हैं परना वेभी विधिके भी हम जिस्सी नमस्यार करते हैं परना विधाताओं हमारे, क्योंके अनुपार्दी दिने, इस्टिये जब देवता और निर्देश देवती हैं क्योंके कार्यान हैं यह उनसे देवता हैं हिंदी हैं। इस ने क्योंके नमस्यार करते हैं, जिसपार विधानाकार्यी के नमस्यार करते हैं। दोहा—वन्दन सबही सुरनकूं विधिह्कों दण्डोत । कर्मनकी फल देत ये इनकी कहा उदोत ॥ ९५ ॥ ब्रह्मा येन कुलालबिश्चिमिती ब्रह्माण्डभाण्डोद्दे विव्युर्येन दशावतारगहने क्षिंतो महासङ्के ॥ रुद्रों येन कपालपीणिपुटके भिक्षांटनं कारितः सूर्यों आम्यति नित्यमेर्व गर्गने तर्रमे नमें केमणे॥ ९६॥

सं० टी०— त्रम्हेति । येन कर्मणा त्रम्हाण्डमेव भाण्डं भाजनं तस्योदरे त्रम्हा कुळाळव-क्त्रीवित्रियमितो नियंत्रितः सृष्टिरचनायामिति होषः । यथा कुळाळो बहुप्रकारभाण्डरचनां तिरीति तथेव त्रम्हाऽपि नानाप्रकारसृष्टिरचनां करोतीत्यर्थः । येन कर्मणा विण्णृहेरिर्दशावतारा गमादयस्तन्त्रभ्ये यहहनं दुःखं तदेव महत्सङ्क्ष्टं तिस्मन् क्षिप्तः पातितः । येन कर्मणा रुद्रो गहादेवः कपाळं नरकपाळं तेन सिहतो यः पाणिपुटकः करसंपुटकस्तिमन् या भिक्षा तदर्थमटनं त्रमणं कारितः । तथा येन सूर्यो , निखमेव गगने आकाहो श्राप्यति अगणं करोति तस्मं कर्मणे

भा० टी०--जिस कर्मने बम्हाको सुम्हारकेसमान सृष्टि रचनेमें नियत किया, जिसने विष्णुको दशअवतार लेनेके संकटमें डाला, जिसने रद्रकोभी स्रोपडी हाथमें ले भिक्षा मांगनेका दुःख दिया, और जिसने सूर्यको नित्य आका-शर्मे भ्रमण करनेकी पीढा दी, उसकर्मको हम नमस्कार करतेहैं॥ ९६॥

दोहा—विधिकों कियो कुम्हार जिन हरिकों दश अवतार। भीख मंगावत ईशकों ऐसी कर्म उदार॥ ९६॥

ैनैवौर्क्वतिःफर्लित 'नैव कुठं ने शीठं विधापि'' ''नैवै ने चे यत्नेकृतीपि सेवाँ॥ भाग्यानि पूर्वतपंसा खर्छें सञ्जितीनि कौठे फर्लेन्ति पुरुषेस्य येथेवे वृक्षीः॥९७॥

सं० टी०—सर्वत्र भाग्यभेव फलति नाहातिरिति इक्षहाहान्तेन दर्शयित। नेदेति । बार्डातः समस्यं नेय फलति । नेव कुछं साकुछं । नेव शीछं । विद्यापि नेव । यत्नेन हाता सेवाऽपि नेव प्रत्निति भिन्तु पूर्वमाचारितं यत्तपरतेन सक्षितानि पुरुषस्य भाग्यानि काछे समये वृद्ध द्व पालन्ति ॥ ९७॥ जलकी धारा नहीं पड़ती तो मेघका इसमें क्या दोप है?। सत्यती यह है कि कुछ विधाताने ललाटमें प्रथमही लिखदियाहै उसको कीन मेटसक्ताहै।। ९४॥

छ्रप्य—कहा वसन्ति दोष करीरिह पात न आहीं। उह लगे अंध्यार दिवस रिव दुषण नाहीं॥ ज्यो चातक मुखम पढ़े निहं जलकी धारा॥ दूषण दैवे जोग नहीं घन देख विचार सत्य यही जिव जान लिख्यों जो भाल विधाता॥ मेट न सिव कोय समझ जिय लीजे जाता॥ ९४॥

इति देवप्रशंसा ।

अथ कर्मप्रशंसा ।

नमरैयामो देवाँ हार्नुं हैं तिविधेसते उपि वश्गा विधिर्व-न्दाः से। उपि अतिनियतक सेंक फेंट्रेट्ः ॥ फैंलं कर्मा-यत्तं कि में मरेगिणः कि उसे विधिर्ना नै मस्तें तक में भें यो विधिरीपि नै ये पेंग्रें प्रभैवति॥ ९५॥

मं दी० — इटाईं। पर्स शायेत । नगर्याम इति । देवानिन्द्रादीन् वर्ष गण्नान्त्रपुर्दः । ति नेदीः इत्तिवेर्यद्याः अद्यार्थनाः स्वातन्त्र्यण पाठं दातुगराताः । अयं विकि मोदीः प्रतिस्वत् वर्णमे सर्वेश्वस्य पाठं दद्यति । स्वन्यप्याठं दातुं शकः । पाठं सावः (के स्वतिः वर्ष वे वर्षाः विक्रोः विकरोत्त विकितः च दिस्तत्वत् व्यक्ति । वर्षाः विक्रोः विकरोत्त विकितः च दिस्तत्वत् व्यक्तिः । वर्षाः विक्रोः विकरोत्त विकितः च दिस्तत्वत् व्यक्तिः । वर्षाः । विक्रोः विकरोत्त विकितः च दिस्तत्वत् व्यक्तिः । वर्षाः । विक्रोः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः । वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः । वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः वर्षाः । वर्षाः वर

स्टार दीय--देवदा श्रीको हम नमस्कार कार्निहै परानु वेशी विशिष्ठे अ है, हम विभिन्ने नमस्मार कर्निहै परानु विभावाशी हमारे क्योंकि अनुपार्थी देनिहै दलक्षि कर देवदा कीर विशिष्ठ दोनिही क्योंके मार्थान है एक उनमें पर्य जन है। इस दी प्रविधिश नयमार कार्निह, जिसका विभावासाशी क्यों नमस्का १९६॥ दोहा—वन्दन सबही सुरनकूं विधिह्कों दण्डोत । कर्मनकी फल देत ये इनकी कहा उदोत ॥ ९५ ॥ नहीं येन कुलाँलवित्रयमिती न्नह्माण्डभाण्डोद्दे विद्णुर्येन दशार्वतारगहने क्षिंदेतो महासङ्कटे ॥ रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः सूर्यो आन्यति नित्यमेर्व गरीने तर्रिम नमें क्षेमणे॥ ९६ ॥

सं० टी०—त्रम्हेति । येन कर्मणा त्रम्हाण्डमेव भाण्डं भाजनं तस्योदरे त्रम्हा कुळाळय-तिवित्रियमितो नियंत्रितः सृष्टिरचनायामिति शेषः । यथा कुळाळो वहप्रकारभाण्डरचनां तित तथेव त्रम्हाऽपि नानाप्रकारसृष्टिरचनां करोतीत्यर्थः । येन कर्मणा विष्णुहिरिर्दशावतात्त गादयस्तम्मय्ये यद्गहनं दुःखं तदेव महत्सङ्कटं तिस्मन् क्षितः पातितः । येन कर्मणा रुद्रो गोदेवः कपाळं नरकपाळं तेन सिहतो यः पाणिपुटकः करसंपुटकस्तिशन् या भिक्षा तदर्थमटनं मणं कारितः । तथा येन सूर्यो विखमेव गगने आफाशे आग्यति अमणं करोति तर्मं कर्मणे गः । शार्वृ्ळविक्कीडितं वृत्तामिदम् ॥ ९६ ॥

भा० टी०--जिस कर्मने ब्रम्हाको कुम्हारकेसमान सृष्टि रचनेमें नियस त्या, जिसने विष्णुको दश्रअवतार लेनेके संबद्धमें टाल्स, जिसने रहकोभी पिटी हाथमें ले भिक्षा मांगनेका दुःख दिया, और जिसने सूर्यको नित्य आका-में भ्रमण करनेकी पीटा दी, उसकर्मको हम नमस्कार मस्तेह ॥ ९६॥

दोहा—विधिकों कियों कुम्हार जिन हरिकों दश अपतार। भीख मंगावत ईशकों ऐसी कर्म उदार॥ ९६॥

ैनेवां कृतिः फर्रेति 'नैवं कुर्छं नं शिंछं विधापि'' "नैवें में चर्तिकृतींपि सेवों॥ भाग्यानि पूर्वतपींता खर्छुं सिवतोंनि केंछि फर्रेंन्ति पुरुषेस्य येथेवें वृक्ताः॥९७॥

सं० टी०—सर्वत्र भाष्यमेव पायति नाराविधिति वृद्धरायतिन दर्शपति । केरिति । कारातिः सर्पे नेव पायति । नेव कुछं सामुखं । मैव शीछं । विद्यापि नेव । यन्तेन कर्ता समाधि केर पाति ततु पूर्वमाद्यस्ति यत्त्वसरतेन सबितानि पुरुष्तव नाम्यानि बाढि समये वृद्ध इद पातित ।। ९७ ॥ भार्ग हीर्न मुद्देश स्व मनुष्यको कुछभी फल नहीं देतेहैं, केवल पूर्वजन्मकी तपस्यह सिञ्चत कियेहुए भाग्यही मनुष्योंको समयपर वसकी नाई फल देतेहैं ॥ १७ दोहा—विद्या आकृति शील कुल सेवा फल नहिं देत । फलत कर्मह समयमें ज्यों तरु फलनसमेत ॥ ९५ वेने रेणे शत्रुजलाशिमध्ये महाँणीवे पर्वतमर्रंतके वाँ। सुन्न अर्मतं विधिमस्थितं वाँ रक्षेन्ति पुण्योंनि पुराकृतीनि॥

सं॰ टी॰—सर्वत्र पूर्वक्रतानि पुण्यान्येत्र रक्षन्तीत्याह । वन इति । पुरा पूर्व पुण्यानि सत्कर्माणि । वनेऽरण्ये रणे युद्धे शत्रुश्च जलं च, अग्निश्च तेपां मन्ये महार्णवं ह पर्वतस्य मस्तके सुप्तं निद्धितं प्रमत्तमुन्मत्तं वा विषमे नतोन्नतभूमो स्थितं पुरुषं रह उपेन्द्रवज्राद्यत्तमिदम् ॥ ९८ ॥

भा. टी॰—वनमें, लडाईमें, शत्रु जल और अग्निकेमध्यमें समुद्रमें । पहाडकी चोटीपर सोतेहुए, वेहोशीमें और विपमअवस्थामें केवल पूर्व ज कर्मही मनुष्यकी रक्षाकरतेहैं ॥ ९८॥

दोहा—वन रण जल अरु अग्निमें गिरि समुद्रके मध्य।
निद्रा मद होरिह कठिन पूरवपुण्यहि सध्य॥ १८।
यो सौंधूंश्र्य खलोन्कराति विदुषो मूर्खान्हितान्द्रेविणः
प्रत्यंक्षं कुरुते परोक्षमंमूंतं हालाहिलं तत्क्षणीत्॥
तीमाराध्य साक्रियां भगवंतीं भोक्तुं फेलं वाञ्चितं
हें सींधो व्यस्तिगुणेषु विपुँलेष्वारुषां वृथा मां कुर्थाः॥९९।

सं ० दे(० — इदानी साक्ष्मियाप्तलमाह । येति । या सिक्ष्मिया खलानिप साधून् करोति । मूर्खान् विदुपः पण्डितान् करोति । द्वेपिणो वैरिणो हितान् करोति । परोक्षं प्रत्यक्षं करोति । हालाहलं विपममृतं करोति । तां सिक्ष्मियां भगवतीमाराध्य यदि वाञ्लितं फलं भोक्तुविल्हिति । तां । विपुल्पेपु गुणेपु व्यसनैः प्रीति। भिरास्थां वृथा मा क्र्याः मा कुरु । सिक्ष्मियां भगवतीमारा , तां नात्मिन् युगे किश्चिद्दिष फलं न भवतीति भावः ॥ शार्दूलविक्षीढितवृत्तिषद्म् ॥ ९९॥

भा० टी०-- जो सित्कया दुर्जनोंको सज्जन बनातीहै, जो पूर्वोंको पण्डित जोर शहुको मित्र बना देतीहै, जो परोक्षको प्रत्यक्ष और विषको अमृत कर देती है, ऐसी सित्कयाभगवतीकी आराधना करो, यदि मन मांगा फल चाहतेहो। हे साधो ! बहुतसे गुणोंके साधन करनेने हठकर दृथा श्रम मत करो॥ ९९॥

छप्पय करत दुष्टकों साधु मूढ पण्डित ठहरावत । करत शश्रुकों मित्र विपिह अमृत ठहरावत। नृपित सभाको नाँव सिक्तिया देवी किहिये । ताकी सेवा किये सकल सुख सम्पत उहिये। यह जो प्रसन्न वहें है नहीं तौ गुण विद्या सब अफल। सुन बात चतुर नर तृ यहें वाहीसों वहें है सकल॥ ९९॥

गुणेवद्रगुणवद्दौं कुर्वता कार्यमादौ परिणेतिरवर्धांर्या यर्त्ततः पण्डितेन ॥ अतिरेभसकृतानां कर्मणीमा-विपेत्तेर्भवाति हृद्यदाही शल्यर्तुल्यो विपार्कः॥ १००॥

सं टी ० — पण्डितेन परिणामं विचार्य कार्ये कर्तव्यामिखाह । गुणित । गुणवहुणैर्युत मधवाऽगुणवत् कार्य कुर्वता कर्तुनिच्छता पण्डितेन विवेकिनादौ पूर्वमेव यत्नतः प्रयत्नात् कार्य-स्याकार्यस्य वा परिणातिः परिणामोऽवधार्या विचारणीया । सर्वे कार्यजातं शुमादके वीक्ष्यारम्भ-णीयमितिभावः । अन्यथा अतिरभसेन सहसा छतानां कर्मणां विपाकः फलमाविपत्तेः मरणप्र्यन्तं छद्यदाही शल्यतुल्यो शंकुतुल्यो भवति । माळिनीवृत्तमिदम् ॥ १००॥

भा । टी॰ — कोई कार्य अच्छा हो चाहे बुरा हो करनेवाले बुद्धिमान्को। चित्र हैं कि मधम उस कामका परिणाम से। चले, वर्षों कि विनाविचारे सहसा किये हुए कामका फल मनुष्यके हृदयमें मरणपर्य्यन्त कांटेकेसमान खटकताहै।।१००॥ दोहा—कारज आछो अरु बुरों कीजे वहुत विचार।
विना विचारे करतही होत रार अरु हार॥ १००॥

स्थाल्यां वैदूर्यमंथ्यां पर्चति च लगुंनं चंद्नैरिधं-नायेः सौवंणेंर्लाङ्गंलायेविलिखंति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः॥ कृत्वां केपूरिखंडान्वृतिमिहं कुरुते कोद्रवा-

णां संमतारेप्रोधिमें कर्मभूभिं नैं चैरित मनुजो थैं-रेतिपो मंदभींग्यः ॥ १०१ ॥

सं० टी०—अस्यां पृथि०यां जन्म प्राप्य यस्तपो नाचरित स पुरुपः कीदशो भति स्थानन क्षोकेनाह । स्थाल्यामिति । मनुजो मनुष्यः इमां कर्मभूमि प्राप्य यस्तपः स्वधमिनप्रां सिर्व न चरित स मन्दभाग्यः स्विहतं न जानाित । अत्र दृष्टान्तः । यथा वैदूर्श्यमय्यां रतनिकि सुवर्णस्थाल्यां लशुनं चन्दनकािष्टः पचित पाकं करोित । यथा सुवर्णमयैलीङ्गलागैर्हेलार्मिः पृथ्वी विलिखति भूमि शुद्धां करोित किमर्थमर्कमूलस्य हेते।रर्कावृक्षाणां रोपणार्थं । कर्पूरविष्य कर्पूरवृक्षान् छित्वा तत्र समन्तात् कोद्रवाणां दृतिमावरणं कुरुते । तथेमां भूमि प्राप्य तपस्य विषयभोगान् भुंक्त इत्यर्थः ॥ शार्दूलिविज्ञीिडतं वृक्तिमदम् ॥ १०१॥

भां टी०—वह पुरुष मानो रत्नों से भृषित सोनेकी थालीमें चन्द्रन्त लकडी जला लहसन पक्षाना चाहताहै, और खेतमें सोनेका हल चलाकर आहे इसोंको नोताहै, और कप्रके हक्षोंको काटकर कोट्रोंके हक्षोंकी चारोओर उन्हें चाढ लगाताहै, जो मन्द्रभागी इस कर्मभूभिमें जन्म पाकर तप नहींकरता ॥१०१

छप्पय—चरी लसनिया मांहि तिलनकी खलकों रांधत आक रुईके हेतु यु हुमि कंचन हल सांधत । कोट् निपजनका खेत घनसारिह डारत । तैसेही नरदेह पाय विषया विस्तारत इह करम भूमिको पाय करजे निहं जप तप व्रत करिहें। मृढ महानर जगतमें पाय मोटि सिरपर घरिहें ॥ १०१ ॥

मजैत्वम्भेसि याँतु मेरुशिंखरं शत्रूं अयंत्वाहँवे वार्णि-ज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याः कलीः शिक्षेतु ॥ आर्कीशं विर्पुंलं प्रयाँतु खगेँवत्कृत्वां प्रयेत्नं पेरं नीमा-वैयं भवैतीहैं कृष्वशितो भावेंयस्य नीशःकुतैः॥१०२॥

सं टी०—यद्भाष्यं तदवस्यं भवत्येवेत्याह । मजेति । अम्भिस जले मजतु । मेर्शरेल यातु । आहेव युद्धे राजून जयतु । विणिजः भावः वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकला विद्याः कला रिश्चतु अभ्यस्यतु । विषुलं पुष्कलमाकाशं खगवत् पक्षिवत् यातु गण्छतु । एतादशं नानावि परमुख्यं प्रयनं कृत्वाऽपि इहलोके कर्मवशतो यदभाव्यं तत्रभवति भवितव्यं भवत्येव भाव्यर्थ पराः स्ताः प्रयनं विनापि भवति । सार्युलिक्षिडितंष्ट्तिमिद्ग् ॥ १०२ ॥ भा० टी०—चाहे समुद्रमें ह्वजाओ, चाहे मेहपर्वतके शिखरपर चढ ाओ, चाहे शतुशोंको युद्धमें जीतलो, चाहे विनज, खेती, सेवा आदि सव रेपाओंमें निप्ण होजाओ, और चाहे वहा युक्कर पक्षीकेसमान आकाशमें हजाओं परन्तु (जानलो कि) जो अनहोनाहे वह कभी न होगा और जो ना है वह किसीमकार टल नहींसक्ता॥ १०१॥ होहा—चूड समद्र अरु मेरु चढ रात्रु जीत व्यौपार। खेती विद्या चाकरी सवमें भावी सार॥ १०२॥ भीमें वृनं भवेति तस्य पुरं प्रधानं सेवों जनैः सुज-

नितामुपेथाति तस्य ॥ ईत्स्ना चै भूभिवेति सन्नि-धिरत्नैपूर्णा यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुँठं नरस्य॥१०३॥

सं टी०—भीमिनि । यस्य नरस्य पूर्वे सुकृतं विपुष्ठं पुष्कछं भवित तस्य भीमं भयंकरं वनमरण्यं प्रधानं श्रेष्ट पुरं नगरं भविते । सर्वे जनः दुर्जनोऽपि सुजनस्य भावः सुजनतां याति । कृत्का समग्रा भूः सन्त उत्तमा निधयो रत्नानि च तैः पूर्णा भवित । वसन्तित्वकावृत्तमिदम् ॥ १०३॥

भा० टी०—जिस मनुष्यके पूर्वजन्मके पुण्य वहुत होतेहैं भयानक वन उस पुरुपकेलिये सुन्दर नगर होजाताहै, सब दुष्टजन उसके मित्र होजातेहैं, और सब प्रथ्वीभी अनेकरब्रोंसे पूर्ण होजातीहै ॥ १०३॥

दोहा--वन पुर है जग मित्र है कप्ट भूमि है रल।
पूरवपुण्यहि पुरुपके होत इते विन यल॥ १०३॥

को ठोमो गुणिसेङ्गमः किमसुखं प्राझेतरेः सङ्गतिः को हानिः समयंच्यतिनिपुणिता की धर्मतित्वे रेतिः॥ कैं द्रीरो विजितेन्द्रियः प्रियर्तमा कीनुवेता के धेनं विद्याकि सुखेमप्रवासेगमनं राज्यं किमाज्ञाफेंठं॥१०४॥

सं ं टी०—क इति । छाभः को गुणिसङ्गमः गुणीनां पुरुपाणां समागमः । असुखं किं प्राज्ञादितरे मूर्बास्तैः सह संगतिः । हानिः का समयन्युतिः यस्मिन् समये यदवश्यं कर्तव्यमेत्र त्तन कृतं समयो मतः तेन ह्मनिस्टिप्यः । निपुणता आगृता का या पर्मति मितः प्रिक्तः । मः विजितानिन्द्रियाणि वेनासौ । प्रियतमा का यानुवता परिनता । पर्ने १६ निया आग्राव्यतः सुखं किमप्रवासगमनं । राज्यं कि आज्ञाकतं । यपाज्ञपा सर्वे शुभाजुभं भवति तदेव राज्ञ शार्द्विकीडितं वृत्तिमद्यु ॥ १०४ ॥

भा० टी०—लाभ क्या है १ गुणियोंका समागम। दु:स क्या है हि सी संगति करना, हानि क्या है १ समयपर चूक जाना। निषुणना क्या है १ कि भीति रखना, जूरता क्या है १ इन्द्रियोंको वजने रखना, खी कोन अच्छी है जो पित्रकता है। धन क्या है १ विद्या। सुख क्या है १ परदेश न जाना। है राज्य क्या है १ आज्ञाका चलना॥ १०४॥

छप्पय—कहा लाभ सत्संग कहा दुख मृरख संगत। सम नाश वड हानि सुघड रंग धर्मकी रंगत। शूर कीन इन्द्रीजि सुख का रहे स्वदेश निरन्तर। धन का विद्या अमित नार क आज्ञातत्पर। राज वही सुखमूल प्रजा जो आज्ञाकारित जन्म सुफल सोई जान भजे जो अधम उधारन॥ १०४॥

मालतीकुसुमस्येवं हें गंती स्तो मनैस्विनः॥ मूर्श्री वां सर्वलोकस्यं शीर्यते वेन एवं वी ॥ १०५॥

सं० टी०—मनिस्तिनो द्वे गती भवत इति माछतीकुसुमदृष्टान्तेन वर्णयित । माठ तीति । माछत्याः कुसुमं पुष्पं तस्येव मनिस्तिनो विवेकिनः पुरुपस्येह द्वे गती दशे स्तः । यर कुसुमेन सर्वछोकस्य मूर्धि मस्तके स्थीयतेऽथवा वन एव शीर्यते शीर्णीभूयते तद्दन्मनिस्तः पुरुष छोकमान्या गृहे वा वनेऽरण्यवासिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ अनुष्टुव्वृत्तमिदम् ॥ १०५ ॥

भा॰ टी॰—मनस्वीपुरुषोंकी मालतीके फूलकेसमान दोही गति होती हैं, या तौ वे सबके मस्तकपर रहतेहैं या वनमेंही कुझलाजातेहैं॥ १०५॥

सीरठा—जातीपुष्पसमान उत्तमनरकी होय गति। कै सिर चढें सुजान। कै जंगळिवच झुर झरें ॥१०५॥

अप्रियवर्चनदरिद्धैः प्रिवचनौद्धैः स्वदारैपरितुष्टैः ॥ परपरिवादैनिव्दत्तैः क्वचित्कँचिन्मंडिता वसुधा ॥ १०६॥ सं० टी०—अस्मिन् संसारे प्रशंसनीयगुणैर्युक्ताः पुरुषा विरक्षा इत्याह । अप्रियंति । अप्रियंवचनदिद्देः अप्रियंवचनेषु दिद्धास्तैः, प्रियंवचनेषु आढ्याः सम्पन्नास्तैः, स्वदारेषु परितृष्टैः सन्तृतैः, परापवादात् पर्रानदाया निवृत्ताः एवमादिभिर्गुणैर्युक्तैः पुरुषैः काचित् काचित् स्थळे वसुधा भूमिः मण्डिता शोभिताऽस्ति ॥ आर्यावृत्तमिदम् ॥ १०६ ॥

भा० टी० — अभियवचन न बोलनेवाले, मीठे वचनाकी खानि, अपनी ही स्त्रीसे तृप्त, और परनिन्दा न करनेवाले पुरुपोंसे कही २ प्रथ्वी शोभाय-मान है, अर्थात् ऐसे मनुष्य सर्वत्र नहीं होते ॥ १०६ ॥

दोहा—अप्रियवचनदरिद्रता प्रीतिवचन धनपूर । निजतियरित निन्दारिहत वे महिमण्डल शूर ॥ १०६॥

कद्धितंस्यौपि हिं धेर्यवृत्तेर्न शक्यंते धेर्यगुणः प्रमार्ष्ट्रम् ॥ अधोमुखस्यापि कृतेस्य विह्नेर्नाधिःशिखां याति कदींचिदेव ॥ १०७॥

सं० टी०—धर्य वृतेर्धेयं कोऽपि मार्जितुं न शक्य इति सदद्यान्तमात । कर्डाधितेति । कद्यधितस्य कष्टं प्राप्तस्य धर्ये वृत्तिर्धितंनं यस्य तस्य पुरुपस्य धर्यस्यो था गुणस्तं प्रमार्तुं नारां प्राप्तिवृत्तं केनाऽपि न शक्यते । अत्र दद्यान्तः । अधःकृतमुखस्य यक्षेः शिखा कद्याचिद्ययो न याति थिन्तु नदा ऊर्ध्वमेव याति । धीरः आपत्प्राप्तावपि धर्यं न त्यजतीति भावः ॥ उपजाति यृत्तिभिद्म् ॥ १०७॥

भा० टी॰ — फैसाही कष्ट वर्योन पडे परन्तु पैथेवान मनुष्यका धीरज नष्ट नहीं होसका, अभिकी ज्वाला कसी नीचेको वर्यो न फरदीजाय परन्तु फिर भी वह ऊपरहिको जायगी नीचेको नहीं नाती ॥ १०७॥

दोहा—धीरज गुण ढांक्यो चहत नाहिं ढकत कोजचाल। जैसे नीचा अग्निमुख ऊंची निकसत झाल॥ १०७॥ कान्ताकटाक्षंविशिखा नें दहींन्ति यस्यै चित्तं नें निर्द्-हिंति कोपकृशानुतापः॥ कैंपीन्त भूरिविधेयार्थं नें लोभपीशैलोंकेंत्रयं जयीति केंद्सिमिदिं सें धीरें:॥१०८॥

सं टी॰—कालाकटाक्षेति । यस पुरुष्य चित्तं कान्त्रानां स्त्रीणां कटाकाः रेप प्राप्तास्त एव विशिष्ता बाणास्ते न दर्शन्तं, सथा कोषः जोषण्य करामुस्क्रिसस्य ताने न निर्दर्शन सस्मीकरोति, तथा भूरि बहवे। विषयाः लोभ एव पाशाः वन्यनानि तैर्थस्य चित्तं न कर्पन्ति, सर्धः पुरुषः ऋत्तनं सम्पूर्णिमदं लोकत्रयं जगत्रयं जयाते वशीकरोति ॥ वसन्त तिलकावृत्तमिदम् ॥ १०८

भा० टी०—िस्त्रयों के कटाक्षरूपी वाण जिसके हृदयको नहीं वेधते, े रूपी अग्निकी ज्वाला जिसके चित्तको दग्ध नहीं करतीहै, तथा विषयभोग के चित्तके लोभपाशमें बांधकर नहीं खींचते, वही धीरपुरुप इन तीनों लो को अपने वशमें करलेताहै ॥ १०८॥

दोहा—तिय कटाक्ष शरपतन वच दहत न कोपहि आगी लोभपाश खेंचत न मन ते विरले रहें जागि॥१०

एँकेनांपि हि इर्रेणं पादांकान्तं महीतलम् ॥ क्रियंते भारकरेणेव परिरंफुरिततेजसा ॥ १०९॥

सं टी०—एक एव शूरः सम्पूर्ण जगद् वशीकरोतीति सूर्यदृष्टान्तेन स्पर्यिती एकेनेति । यथा परित आसमन्तात् स्पुरितं दीतिमत्तेजो यस्य तेन भास्करेण दिवाकरेणै महीतलं पृथ्वीतलं पादैः किरणराकान्तं न्यातं क्रियते, तथा एकेनापि हि शूरेण महीतलं भूतं पादाभ्यामाकान्तं न्यातं क्रियते । अनुष्टुव् वृत्तिमिदम् ॥ १०९॥

भा० टी०--एकही श्र सारी पृथ्वीको पाँवतले दवाकर ऐसे वश कर रेताई जसे अकेलाही तेजस्वी सूर्य सारेजगत्को प्रकाशित करदेताहै ॥ १०९॥

दोहा—वडौ साहसी होत जो काम करत झुकझूम।
श्रिकार और अरु सूर यह लांघ जात रणभूम ॥ १०९॥
विहिस्तस्य जलायते जर्लानिधिः कुल्यायते तत्स्रीणान्मेर्कःस्वल्पीश्रालायते मृगीपतिः सँद्यः कुर्रकृषयते॥
व्यालो माल्यगुणायते विपर्रसः पीयृपविधीयते
वर्त्त्याकुऽखिललोकवेल्लभनमं शालासमुन्मीलति॥११०॥

स्व दी = - हो बाडियपुरपस्थानमुत्राहा अध्यमुक्ता भवन्तीति दर्शयति । यस्य पुर्व बापु अन्ति छोषाणां सन्पूर्णलेखानणनिश्चयेन बहुभं बहुभतमं जिपनमं द्वालं समुन्ती हा स्यूच्याने तस्य अन्ति हिन्यपुरुशाने की बादायने जलभिवासती जलभिव द्वालहो भवतीति भावः । भग जलिभिः समृदः कुल्यायते कुल्याल्पसिरत्तद्वदाचरित सुतरे। भवतीत्यर्थः । तत्क्षणात् क्षणमात्रात् भरुपर्वतः स्वत्यशिलायते स्वल्पशिलावदाचरित । महानिप भेरुः स्वल्पपापाणवद्भवतीत्यर्थः मृगपितः सिंहः सदः कुरंगायते कुरंगो हिरिणस्तद्वदाचरित । अतिकूरोपि सिंहः कुरंगवत भवतीत्यर्थः । ज्यालः सर्वे।ऽपि माल्यगुणायते माल्यस्य गुणः रज्जुस्नद्वदाचरित । सर्वे।ऽपि कूरतां त्यजतीति भावः । विपरसः पीयूपवर्णयते पीयूपममृतं तस्यवर्षो वर्षणं तद्वदाचरित । विपमिष स्वस्वभावं स्यजतीति भावः । शार्दूलविक्रोडितं वृत्तमिदम् ॥ ११०॥

भा० टी०—-जिस पुरुपके अंगमें सवजगत्को मोहनेवाला शील विरा-जमान है, उस पुरुपको अग्नि जलकेसमान जानपडताहै, समुद्र छोटीसी नदीके समान दिखपडताहे, मेरुपर्वतभी छोटीसी शिलाकेसमान ज्ञातहोताहै, सिंहभी उसके आगे हिरन होजाताहै, सर्पभी पुष्पोंकी मालाकेसमान होजाताहै, और विपभी अमृतकी दृष्टिकेसमान होनाताहै॥ ११०॥

छुप्य—अन्नि होत जलरूप सिन्धुजवर पद पावत। होत सुमेर हुसेर सिंहके स्यार कहावत । पहुपमालसम व्याल होत विष्हू अमृतसम। वनहू नगरसमान होत सव भांति अनुपम। सव शत्रु आय पायन परत मित्रहु करत प्रसन्न चित्त । जिनके सुपुन्य प्राचीन शुभ तिनके मंगल मोद नित॥ ११०॥

लजागुणीघर्जननीं जनेनीमिवं स्वामत्यन्तशुर्देहद्-यामनुवर्तमानाम् ॥ तेजस्विनः सुर्ख्यमसूनिपं संत्य-जन्ति सत्यवत्रवर्यसनिनो ने पुनःप्रतिक्षाम् ॥ १११॥

सं टी०—तेजित्वनः पुरुपाः स्वप्रतिज्ञां न स्यजन्तीति स्वजननीदृष्टान्तेनाह । ढजेति । सत्यमेवव्रतं तदेव व्यसनं येपां ते तेजित्वनः पुरुपाः प्रतिज्ञां न त्यजन्ति पुनरन्यां न कुर्वन्ति । कथंभूतां प्रतिज्ञां छजाया ये गुणास्तेपानोघः समुदायस्तस्य जननीम् । पुनः कथंभृतां स्वां स्वकीयां जननीमिवात्यन्तशुद्धहृद्यामनुवर्तमानां । अतस्तेजित्वनः सुखमसून् प्राणानिष त्यजन्ति परन्तु स्वप्रतिज्ञां न त्यजन्ति । वसन्तितिष्ठकावृत्तिमिदम् ॥ १११॥

भा० टी०—सत्यव्रतके धारणकरनेवाले तेजस्थी मनुष्य लज्जा आदि गुणोंको उत्पन्नकरनेवाली, माताकेसमान गुद्धहृद्यवाली और स्वाधीन रहतेवाली अपनी प्रतिज्ञाको कभीही नहिं त्यागते परन्तु हां प्राणोंकोभी (उसके अर्थ) सुससे त्यानदेतेहैं॥ १११॥ कुण्डित्या—मेथ्या लजा गुणनकी निज मेथासम मान तेजवन्त तनको तजत यांकों तजत न जान ॥ याकों तजत जान सत्यवत्यारेह् नर । करत प्राणको त्याग तजत नहिं व वचन वर । शरत आपनी राख रह्यों वह दशरथरेया । र वल हरचन्द टेक यह जसकी मेथा ॥ १११ ॥ इति श्रीमद्धर्तहरिविरचितं भाषाटीकोपेतं नीतिशतकं सम्पूर्णम्॥

ओम्।

श्रीहरिम्बन्दे।

श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः

अथ भर्तृहरिविरचितं।

द्वितीयं जृंगारशतकं प्रारम्यते।

शम्भुस्वयंभुँहेरयो हरिणेक्षणांनां येनीक्रियंन्त सर्तेतं गृहकर्मदासाः ॥ वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तंस्मे नंमो भगवंते कुसुमीयुधाय ॥ १ ॥

सं० टी०—इदानीं शृंगारशतकं व्याख्यायते । सम्यावचारितं चेत् परिणामे वैराहित । निन्दास्तुतिः स्तुतिनिन्दा वा द्वौ प्रकारौ स्तः । अत्र तावत् स्तुतिनिन्दाप्रकारः । क्विंगि शृंगारश्च नश्वरः एतत्सकाशात् सुखं तन्नश्वरं परिणामे दुःखमेव । एवं सित विपयिभिरविचार्य विद्वार तरं स्तूयते सा स्तुतिरादौ तां विख्खिति । शम्भुरिति । शम्भुः शिवः स्वयम्भः त्रह्या हरिविंग्णुरिते महान्त ईश्वरा येन मदनेन सततं निरन्तरं हरिणेक्षणानां गृहकर्मदासाः कृतास्तस्मै कुसुमायुश्चि कामदवाय नमेऽस्तु । कथंभृताय वाचामगोचराणि चरित्राणि तैर्विच्त्राय नानाप्रकाराय । वसन्ति तिल्काकृतिमदम् ॥ १ ॥

भा० दी०—जिसने शिव, ब्रह्मा, और विष्णुभी हरिणकेसमान नेत्रों। द्वियोंके गृहकार्य करनेके छिये दास बनारक्खाहै, और जिसके चरित्रवाणीसे
। नहीं होसक्तेंहं, उस पुष्पायुव कामदेवको हम नमस्कार करतेहें ॥ १ ॥
दोहा—विधि हरि हरह करतहे सृगनेनीकी सेव ।
वचन अगोचर चरित गति नसो कुसुमसर देव ॥ १ ॥
स्मितेन भावेन चें लर्जिया भिया पराङ्मुखैरर्द्धकटार्क्षवीक्षणेः ॥ वैचोभिरीण्यिकैलहेन लीलैया समस्तैभावैः खेंलु वन्धैनं खियः ॥ २ ॥

सं० दी०—तत्रादो ह्नियः स्मितभावादिना पुरुपमवर्यं वधन्तीति बोतयित । स्मितेनित । न हास्येन, भोवन चित्ताभिप्रायेण, ठज्जया, भिया भयेन, पराङ्मुखैरद्धीनि कटाक्षेण वीक्षितानि होकनानि तेः, वचोभिः परोत्कर्पाताहिष्णुतेष्यी तयेर्ष्यया कल्हेन, लील्येति समस्तभावैः सम-हाभिः खलु निश्चयेन स्त्रियः पुरुपस्य बन्धनं भवन्तीति । वंशस्यं वृत्तमिदम् ॥ २ ॥

भा॰ टी॰—मन्द २ ग्रसकराना, लज्जा करना, मुख फेरलेना, तिरछी से देखना, भोटो २ वार्ते करना, ईप्यो करना, कलह करना और अनेकप्रका-भाव प्रगटकरना इत्यादि सववार्तोसे स्त्री पुरुपका वंधनस्वरूपही है।। २॥ दोहा—रसमें त्योंही रोसमें दरशत सहज अनूप।

वोलिन, चलिन, चितौनिमें विनता वंधनरूप ॥ २ ॥ भ्रूचातुर्याकुञ्चितीक्षाः कटौक्षाः स्निग्धा वाँचो लिज-तान्ताश्चं हाँसाः ॥ लीलार्मन्दं प्रस्थितं चें सिमैतं चें स्नीणामेतें द्र्षणं चौथुंधं चें ॥ ३ ॥

सं ॰ टी ॰ — भ्र्चातुर्योदीन्येव स्त्रीणां भूपणिमत्याह । भ्रूचातुर्येति । भ्रूचो यच्चातुर्ये कुंचितानि अश्लीण नेत्राणि थेपु, एवंभृताः कटाक्षाः । स्निग्धाः स्नेहयुक्ता वाचः । लजितान्ता गुक्तोऽन्तो मध्यो येपांते टज्जागर्भिता इत्यर्थः हासाः हास्यानि । लील्या स्वभावेन मन्दं रानैः वतं प्रयाणं स्मितं हास्यं च । स्त्रीणामेते पदार्था भृपणमलङ्कारः आयुषं रास्त्रं च भवीन्त । हेनीवृत्तमिदम् ॥ ३ ॥

भा० टी०-मेंहि टेढी कर कटाक्ष करना, मधुर २ वात वोलना, लिजत होकर कुराना, लीलासे मन्द्र मन्द्र चलना, और पुनः ठहरजाना इत्यादि भावधी योंके भूपण और ग्रस्न हैं, अर्थात् की इन्ही भावोंसे पुरुपको वश्में करलेतीहैं॥३। छप्पय-करत चातुरी भोंह नयनहू नचत चिते वो । ः चितको चाव चोंपसों मृदु मुसकेवो । दुरत मुरत जात अरसात जह्मावत । उझकत इत उत देख चलत के छिवछावत । यह आभूषण तियनके अंग शोभा घरन । अर शस्त्रसमान हैं युवजन मनमृग वधकरन ॥ ३॥

केचित्सुश्रूमंगेः कैचिद्पि चं छजापरिणतेः कैचि-द्रीतिर्ज्ञस्तेः केचिद्पि चं छीछोविछसितेः ॥ नवी-ढींनामे भिर्वदर्नकमछैनेत्रचंछितेः स्फुरैंझीछा ब्जानां प्रकर्रपरिपूर्णा इवें दिशेंः ॥ ४॥

सं० टी०—भूमंगळजाभीत्यादिभावेन स्त्रियः पुरुषं मोहयन्तीति दर्शयति । किर्मित् प्रथमसंगतानां नावादानां वदनान्येव कमळानि तैः नेत्रचिक्तैः नेत्राणि चिक्रतानि येपु ति एम्दर्तनीळाटजानां प्रकरः समुदायस्तेन परिपूर्णा इव दिशो भवन्ति । वदनानि कमळानीव तेपु चिळितानि तान्येव भ्रमरास्तैः पूर्णानि दश्यन्ते । कथंभूतैर्वदनैः । कचित् सुभूभङ्गेर्भूभङ्गार्थिः यपु तेः । कचित् सुभूभङ्गेर्भूभङ्गार्थिः यपु तेः । कचित्र स्त्राप्तिः नम्रीभृतैः । कचिच्च भीत्या भयेन त्रस्तेः । कचिच्च किळासितैः शोभितैः ॥ शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ४ ॥

भा० टी०—नवोढा स्त्रियां अपने मुख्कमलमं स्थित चंचलनेत्रोंको । उथर फेरतीहुई कभी भुकुटियोंको देवी करलेती हैं, कभी लाजसे सिर डक लेते कभी भयभीत होत्रातीहैं, और कभी लीलामय विलास करनेलगतीहैं, इसतरह धर वह अपनी दृष्टि फेरतीहैं उथरही नीलकमलोंके समूहोंका अनुभय होनेलगती

छप्पय्—कवह भोंहको भंग कवह छजायुत दरसत। उससकत संिक कवह छीछा वरपत। कवहक मुख मृदुहास हितवचन उचारत। कवहंक छोचन फेर चपछ चहंओर रिता छिन २ सुवरित्र विचित्र किर भरे कमछ जिमि दशह विधि एसी अनूपनारी निरम्व हरपत रहिये दिवसानिशि॥ ४॥

वंक्यं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहाँसक्षमे छोचँने वंणीः स्वर्णमपाकिरिप्गुरंछिनीजिप्णुःकचीनार्यंयः॥वक्षो-

जीविमकुम्मसंभ्रमेंहरों गुर्वी नितंबस्थैली वींचां हीरि चें मींद्वं र्युवितषु स्वामीविकं मंडेनम् ॥ ५॥

रं टी ०—चान्छविकासि वक्त्रमित्यादीनि स्त्रीणां स्वामाविकभूगणानि सन्तीत्याह । विश्वानि वक्त्रं मुखं चन्द्रविकासि चन्द्रवद्वर्तुलं शोभायमानं च । पंकजानां कमलानां परीहासो कसनं ताद्योगं समर्थे लोचने । वर्णः कान्तिः स्वर्णं सुवर्णमपाकरिल्णुः सुवर्णतोऽधिकः । कचानां शानां चयः समुदायोऽलिनीं भ्रमरीं जिल्लुः । वक्षोजी स्तनौ इभस्य गजस्य कुम्भा गण्डस्थलं स्य संभ्रमः शोभा तस्य हरो । गुर्वी पृथुला नितम्बस्थली किटपथात्प्रदेशः । मार्दवं वाचां चनानां हारि अत्यन्तकोमलानि वचनानि एते पदार्था युवातिपु स्वामाविकं स्वमाविनैव मण्डनं विनत । शार्द्व्विक्रीवितं वृत्तिमदम् ॥ ९ ॥

भा० टी०—चन्द्रमाकेसमान रज्ज्वल मुल, कमल्कीभी हंसी करनेवाले नेत्र, विश्वित दमकको मन्दकरनेवाली देहकी कान्ति, भ्रमरीके समूहोंकी शोभाको जीतने नेले केश, हस्तीके कुम्भस्थलकी शोभा हरनेवाले दोनों स्तन, विश्वाल दोनों नितम्ब गौर मन हरणकरनेवाली कोमल वाणी ये सब वियोंके स्वाभाविक भूषण हैं ॥६॥ छटप्य—करत चन्द्र छिव वदन अद्भुत छिव छाजत। कमल- विहसित नैन रैन दिन प्रफुलित राजत। करत कनकद्युति निन अंग आभा अति उमगत। अलकन जीते भौर कुचनकर किम किये हत। मृदुता भरोर मारे सुमनसुख सुवास मृगमद कृदन। ऐसौ अनूप तियरूप लिख छाँह धूप निह गिनत मन॥५॥

स्मितं किञ्चिद्वक्तें सरलँतरलो दृष्टिविभवः परिरूपन्दो वाचामिनवविलासोक्तिस्रसः ॥ गैतीनामार्थम्भः किसलियतलीलापरिकरः स्पृतंतियास्तारेण्यं कि भिहें निहि रास्यं मृगदर्शः॥ ६॥

्तं ॰ टी ॰ —तारुण्यकाले स्त्रीणां दृष्टिपातादयः सर्वे भावा अत्यन्तरमणीया भवन्तीत्याह । सित्तमिति । तारुण्यं तरुणतां स्पृशन्या मृगद्दाः ।किं रम्यं न अपि तु सर्वे रम्यमेवास्ति । तार्के । त्यार्के । त्यार्के एवे किदित्त सित्तम्स्यं हास्यं । सरलस्तरलक्षञ्चलो दशोविभवः सामर्थ्यम् । विलासेन दर्शन- शक्तिः । स्रभिनवा नवीना विलासोकिस्तया सरसो मधुरो वाचां वचनानां परिसप्तदे। रचना ।

गतीनां गमनानां आरम्भः किसल्यितलीलापरिकरः किसल्या नत्रपल्लाः अत्यन्तप्रदेवस्तरः शतैर्मृदुगमनित्यर्थः ॥ ६ ॥

भा॰ टी॰—मन्द मन्द मुसकुराताहुआ मुख, सीघे और चश्चल हार्षेत्र नवीन विलासकी एक्तिसे मधुर २ वात करना, और नवीनपल्लवकेसमान मन्दः गतिसे गमन करना, इत्यादि तरुणीस्त्रियोंके हायभाव क्या मनोहर नहीं होतेहें ॥ ६ दोहा—मन्द हसन तीखे नयन सरस वचन सविलास। गजगमनी रसणी निरख कों न करें अभिलास॥ ६॥

द्रष्टेंच्येषु किंमुत्तेमं सूर्गांट्यां प्रेमप्रसन्नं मुंखं घ्रातं-व्येष्विपि किं तदास्येपवनः श्रीव्येषु किं तद्देवः॥ किं स्वादेषुं तदोष्ठपञ्चवरितः स्पृत्येषु किं तत्तेनु-ध्येंचे किं नवयोवेनं सुहद्येःसेंवित्र तदिश्रमें ॥ ॥

सं० टी—इष्टव्येष्विति । सुहद्येः आसक्तिचित्तेः इष्टव्येषु दर्शनीयवस्तुषु किमुत्तनं ह्व्यम् । मृगद्दशां मृगले।चनानां स्त्रीणां प्रेम्णा प्रीत्या प्रसन्तं मुखं । व्रातव्येषु सुगंधितकः किमुत्तनं । तदास्यपवनः तस्या मुखादागतो वायुः । श्राव्येषु श्रवणयोग्यपदार्थेषु किमुत्तनं । तः वचनम् । स्वादेषु किमुत्तनं । तस्या ओष्टपल्लवस्य रतः । स्पृद्येषु स्पर्शयोग्यपदार्थेषु किं । तः तनुः द्वारीरं । घ्येषं घ्यातुं योग्यं किं तस्या नवयावनम् । सर्वत्र सर्वदा तिह्नभ्रमो विलासः स्मर्णिः द्वार्तृत्विक्रीदितं वृत्तिद्वम् ॥ ७ ॥

भा० टी०—रसिकोंके देखनेयोग्य उत्तम् वस्तु क्याहें? मृगन्यः वियोका प्रस्त मुख, सुंयनेयोग्य उत्तमपदार्थ क्याहें कियोंके मुखकी भार मुननेयोग्य क्याहें कियोंके मधुर वचन, स्वादिष्ट उत्तमपदार्थ क्याहें शिक्षे आष्ट्रपञ्जयका रम, स्वर्धकरनेयोग्य उत्तमवस्तु क्याहें शिक्षें कार्यका रम, स्वर्धकरनेयोग्य उत्तमवस्तु क्याहें शिक्षें विद्याना शरीर । व्याकानेयोग्य क्याहें निवयुवनीक स्वर्थावन, आर उसके विद्याम ॥ ७ ॥

हुण्य—कहा देखिये योग्य प्रियाको अति प्रसन्न सुख कहा सृथिये सोधि श्वास सोगंधि हुग्त दुख । कहा दीनिये कार प्राणप्यार्गकी वातन । कहा लीजिये स्वाद अधरके अमृत अध तन । पर्गापेये कहा तार्के नृतन ध्यानकहा जोवन सु छवि । सर्व भांति सकलमुखको सदन जान सुजस गायत सुकावि ॥ ७॥ एँताः स्खलद्दलयसंहितमेखलोत्थझङ्कारनूपुररवाह-तराजहंस्यः ॥ कुर्विन्तिं कस्य नं मँनो विर्वशं तरुण्यो वित्रस्तमुग्धहरिणीसँदशैः कटाँक्षैः ॥ ८ ॥

सं० टी०—तरुण्यः स्वकटाक्षैः कस्य मनः स्वाधीनं न कुर्वन्ति आपं तु सर्वस्य कुर्वन्ती-पाह । एता इति । एतास्तरुण्यः कटाक्षैः कस्य पुरुपस्य मने। विवशं स्वाधीनं न कुर्वन्ति अपि तु विस्य कुर्वन्त्येव । कथंभृताः स्वटन्ति शब्दायमानानि वट्यानि तेषां संहतिः मेखटाश्च ताभ्य ग्रीयतो संकारः सणकारस्तेन सहतादशानि नृपुराणि तेषां खाच्छ्यात् आहता जिता राजह तानां खियो वाभिन्ताः । कथंभृतैः कटाक्षैः विवस्ता भयभीता मुखा हरिण्यम्तासां यथा प्रेक्षणानि ।त्सदशैः । वसन्ततिटकावृत्तमिदम् ॥ ८ ॥

भा० टी०--जिन्होने चंचल्रकंकणोंके शब्द, क्षुद्रघंटियाओं (फॉदनी) की विन और नृषुरके झनकारसे राजहंसिनियोंकी चालको जीतल्यिक्ष ऐसी नवयुवती स्थिति हरिणीके समान नेत्रपात कर किसके मनको विवश नहीं करदेतीहै ॥८॥

दोहा--नृपुर किंकिन किंकनी घोलत अमृत वेन । काके मन वस करन हित मृगनेनिनके नेन ॥८॥

कुंकुमपङ्कललङ्कितदेहा गोरपयोधरकिपतहोरा॥ नूपुरहीसरणत्पद्रपद्मा कं नँ वज्ञीकुंठते सुवि रामा॥ ९॥

र् दिः — इह रामा स्त्री सर्वमेव वहात् कृति हत्याः । सृह्योति । गृहुमार प्रत्यः हर्दमस्ते स्त्रीतो हेहे यस्याः सा, गीरी प्रयोपरी स्त्रनी ताम्यां कामितो हाते यस्याः सा, मृहुः विषय हर्र्याः रणाति हान्ययमानानि पदान्येव प्रवानि यस्याः सा, एवंमूता रामा मृन्द्ररी स्त्री भूति हे पुरुष ह्वा हात्तुरुते रूपि सु सर्वानिष । दोधवाहक्तिमदम् ॥ ९ ॥

आ टी॰-केशस्या खाँरसे लिनका देर शोभित होसाँह, लिनके गाँव गोरे स्नात थ हार शृपरहाई, और नृपुरमधी हंस लिनके चरणस्पीदामलाँके हन्द में देतीहैं बासुन्दरी सीरम प्रश्वीपराकार एमपदी अदने गरामें की हरते की शिक्ष हा--हारहलें हुन्दराया स्वयंके सर राजित देह ।

हैं नृषुरध्वनि पद्यासलकीको हि न करें वस पेट ॥९।

नूँनं हि" ते कविवेश विपरीतिवोधा ये नित्यैमीहर वेला इति कािप्निनाम् ॥ योभिविलोलतरतारक हिप्ति देश देश देश विजितीस्ववैलाः कैथं तीः॥

सं टी० —ये सामिनीनामवली इत्याहुः ते किन्तिसा विपरीतवीधा इत्याह । नृति किन्तिसा किपरीतवीधा इत्याह । नृति किन्तिसा किपरीतवीधाः किपरीतवीधाः क्षित्रसाः कापिनीनामवला निवन्तः ये कामिनीनामवला निवन्तः वास्ति। वाभिः कामिनीमिरितिशयेन विलेखाः वि लोखतराः तारकाध्यक्षपुर्वा निवन्तः वास्ति। याभिः कामिनीमिरितिशयेन विलेखाः वि निवन्ताः कृताः तु इति निध किन्ति किष्ति विभिन्ते प्रति विभिन्ते प्रति विभिन्ते प्रति विभिन्ते प्रति विभिन्ते प्रति विभिन्ते प्रति विभिन्ने विभिन्ने प्रति विभिन्ने विभिन्ने प्रति विभिन्ने प्रति विभिन्ने वि

भा॰ टी॰—वे कथिवर निस्तन्देह उल्टीसमझवाले हैं। से इल बरहा करतेर्दे, भला जो अपनी नेत्रोंकी पुतलियोंके चश्चलकटाकी है। केरकी यह करलेतीर्दे वे अवला किसनकार होसक्तीर्दे॥ १०॥ सि

देहि —कामिनकों अवला कहत ते नर मृढ अचेत ।। इन्हादिक जीते हगन सो अवला किहि हेत ॥ इन्हादिक जीते हगन सो अवला किहि हेत ॥ इन्हादिक जीते हगन सो अवला किहि होत ॥ इन्हादिक जीते हगन सो अवला किहि होत ॥ इन्हादिक जीते हगन से अवला किहि होते ॥ इन्हादिक जीते हिंदी से अवला किहि होते ॥ इन्हादिक से अवला किहि होते ॥ इन्हादिक

दोहा--अरुण अधर कुच कठिन हग भोंह चपल दुख देत। सुधिररूप रोमावली ताप करत किहि हेत। १५॥ गुरुणा स्तर्नेभारेण मुखचन्द्रेणं भारवताँ॥ शनैश्वरार्भ्यां पादाभ्यां रेजें यर्हमयीयं सी ॥ १६॥

सं ॰ टी ॰ — गुरुणेति । सा स्त्री गुरुणा महता स्तनयोः कुचयोः भारेण । भःस्वता तेजीवता गुखमेव चन्द्रस्तेन, हानैर्भन्दं चरतस्ताभ्यां पादाभ्यां चरणाभ्यां प्रहमयीव सूर्यादिष्ठहप्रचुरेव रेजे हो।भितवती । पक्षे गुरुणा वृहस्पतिना, भास्वता सूर्येण चन्द्रेण वा हानैश्वराभ्यां ग्रानैश्वरेण । अनुष्टुबृहत्तमिदम् ॥ १६ ॥

भा० टी०—वह स्त्री गुरु (वृहत्) स्तर्नोके भारसे, भारवान (मकाश-युक्त) मुखरूप चन्द्रमासे और मन्दगामी दोनों चरणोंसे ग्रहमयीसी दीख । है ॥१६॥

छप्पय—केश राहुसम जान चन्द्रसौ सोहत आनन। द्वाद-शमें दें अर्क नैन केतुहि अलकानन। मन्दहास है शुक्र वृध वानी हिंह जानो। सुरगुरु जान उरोज कर्ण मंगलिह वलाना। अति मन्द चाल सोई मन्द्रमति महा मनोहर जुवति यह। सबही हिल्दायक देखियत जाकों सेवत नवों यह।। १६॥

तस्योः स्तैनो येदि घँनो जर्घनं विहारि वर्क्त्रं चं चारुं तेव चिंत किमाकुलत्वेम् ॥ पुर्ण्यं कुरुंदि येदि तेषुं तेवास्ति वार्च्छा पुर्ण्येविना ने हिं भवन्ति समीहितोंथाः॥ १७॥

सं० टी०—पुण्येर्विना मनोरमकामिनीप्राप्तिन भवतीत्याह । तस्या एति । हे चित्त ! विदे तस्याः स्तनी घना किठिना तथा च जघनं विद्वारि कीटायोग्यं, तथाच वक्त्रं मुखं चारु मृत्यरं, विहे तब व्याकुळवं किमर्थं । यदि तेषु स्तनादिषु तब बाञ्छाऽस्ति पुण्यं बु.रूप्य । सकीहितायी अभीष्तितायीः पुण्येर्विना न भवन्ति न सिद्धयन्तीत्यर्थः । वसन्ततिळकावृत्तिनदम् ॥ १७॥

मा० टी०-हे चित्त! यदि उस स्त्रीके कुच फटोर हैं और जयन दिहार किरने येएय हैं और उसका मुख सुन्दर है तो तूं उसको देखकर क्यों व्यानुह

सैति प्रदीपे सँत्यैयो सर्त्सु तारार्विन्दुषु ॥ विना मे सृगशावाक्या तमाभूतिमदं जगते ॥ १४०

सं० टी०—सतीति । प्रदीपे सित अग्नी सित तारा नक्षत्राणि रिवःसूर्यः १९४० तेपु सत्सु अपि मृगस्य हरिणस्य शावो वालस्तस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्यास्तया ख्रिया विना इं: जगत् तमाभूतमन्यकारावृतं भाति । अनुष्टुब्बृत्तिमदम् ॥ १४ ॥

भा० टी०—यद्यपि, दीपक, आग्ने, तारागण, सूर्य और चन्द्रमा ये । भकाशमान पदार्थ विद्यमान हैं परन्तु मुझको तौ मेरी मृगनयनी स्त्रीके विनी सन्दर्भसार अंघकारावृत्तही दीखताहै ॥ १४॥

दोहा—दीप अगिनि मिन चन्द्रमा जग मग जोत सुरार मृगनैनी कामिनि विना लगत सबै अधियार ॥ ११ ॥ येद्वृत्तैः स्तर्नेभार एषं तरले नेत्रे चले भूलते रागान्धेषु तदोष्ठपैक्षविद्धविद्धे कुर्वन्तुं नामें व्यथीम्॥ सोभाग्योक्षरपङ्किरेवें लिखिती पुष्पीयुधेन स्वैयं मध्य स्थापि करोति तापैमधिके रोमावैली केने सी॥१५

सं० टी०—यदिति । हे कामिनि ! यद्यस्मात् कारणात् तव एप वृत्तो वर्तुहः । क्षत्रः कुचयोर्मारः तरे विच्छे नेत्र चे चे चे चे चे चे चे चूं के चूं चेत्रं, इदमाष्ट्रपहृत्रमेतानि सर्वाणि भारानिति निश्चयन, रागः प्रीतिः तयान्धेपु व्यथां कुर्वन्ति तत् कुर्वन्तु । कुतः पुष्पायुधेन मरि स्वयं तव माले सीभाग्याश्चरपंतिरेव लिखिता वर्तते । अते। इस्माकं किमीप न चलित । परि इयं तत्रोदरे रोमावली मध्यस्थापि अधिकं तापं करे।ति तत् केन कारणेन तत्र ज्ञायते । शरि विज्ञांडितं वृत्तमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०—उन्नत (उटेहुए) कुचोंका भार, चञ्चल नेत्र चञ्चल भुर्ड और दोनों अपरपछन थे रसिकोंक शरीरमें पीडा करें तो करें क्यों कि कि मस्तकों साभाग्यके अक्षरोंकी पंक्ति कामदेवन स्वयं अपने हाथसे लिखीं परन्तु यह तेरी रोमावली मध्यस्थ होकर्मी अधिकपीडा देतीहैं, नहीं गाई इसका क्या कारण है। सारांग यह है।कि उन्नत, चचल और रागवान कि मायः पीडा देताही है, परन्तु मध्यस्थरूप यह रोमावली क्यों अधिक ताप उत्सें कर्ती है अभीन करी विपरीत कर्तीहै।। १९॥

दोहा--अरुण अधर कुच कठिन हम भोंह चपल दुख देत। सुधिररूप रोमावली ताप करत किहि हेत। १५॥ गुरुणा स्तर्नेभारेण मुखचन्द्रेणं भारवताँ॥ श्रेनेश्वरार्भ्यां पादाभ्यां रेजें यहंमयीवं सी ॥ १६॥

सं ० टी ० — गुरुणेति । ता स्त्री गुरुणा महता स्तनयोः कुचयोः भारेण । भास्त्रता तेजीवता गुजिमेव चन्द्रस्तेन, हानैर्भन्दं चरतस्ताभ्यां पादाभ्यां चरणाभ्यां प्रहमयीव सूर्योदिष्ठहप्रचुरेव रेजे होभितवती । पक्षे गुरुणा वृहस्पतिना, भास्त्रता सूर्येण चन्द्रेण वा होनैश्वराभ्यां गित्रेश्वरण । सन्षुवृत्वतिमदम् ॥ १६ ॥

भा० टी०—वह स्ती गुरु (वृहत्) स्तनोंके भारसे, भारवानः (भकाशः युक्त) मुलक्ष्प चन्द्रमासे और मन्द्रगामी दोनों चरणोंसे ग्रहमयीसी दील ते है।।१६॥ टिप्पय—केश राहुसम जान चन्द्रसी सोहत आनन । द्वाद-शमें दें अर्क नैन केतुहि अलकानन। मन्दहास है शुक्र वृध वानी

हि जानो । सुरगुरु जान उरोज कर्ण मंगलिह वखानी । अति नन्द चाल सोई मन्दमित महा मनोहर जुवति यह । सवही कलदायक देखियत जाकों सेवत नवों यह ॥ १६॥

तस्योः स्तैनो येदि घँनो जर्घनं विहारि वर्कत्रं चँ चारुं तेव चिंत किंमाकुलत्वेम् ॥ पुर्ण्यं कुरुंव थेंदि तेषुं तेवास्ति वार्ञ्छा पुर्ण्यविना ने हिं भवन्ति समीहितार्थाः ॥ १७॥

सं० टी०—पुण्यैर्विना मनोरमकामिनीप्राप्तिन भवतीत्याह । तस्या इति । हे चित्त ! विदि तस्याः स्तनो घनो कठिनो तथाच जघनं विहारि कीडायोग्यं, तथाच वक्त्रं मुखं चारु सुन्दरं, विहि तव व्याकुळत्वं किमर्थ । यदि तेषु स्तनाहिषु तव चाञ्छाऽस्ति पुण्यं कुरुष्व । समीहितायी मभीन्तितायीः पुण्यैर्विना न भवन्ति न सिद्धयन्तीत्यर्थः । वसन्ततिळकावृत्तमिदम् ॥ १७॥

भा० टी०—हे चित्त! यदि उस स्त्रींके कुच कठोर हैं और जयन विहार किरने योग्य है और उसका मुख सुन्दर है वौ त् उसको देखकर क्यों ज्याकुछ होताहै, यदि उनमें तेरी इच्छाहै तौ पुण्यकार्य कर क्योंकि विना पुण्यके मने सिद्ध नहींहोतेहैं ॥ १७ ॥

कुण्डिलिया—रे चित जो चाहे रमण कुच कठोर नवना तो तू कर कुड सुकृत अव मिलैजु वह सुकुमार। मिलैजु सुकुमार वकं भौं लघड विहारी। सुन्दर मुख मृदुहास कंज अंखियां कारी। योवन मद भरपूर प्रेम सों सदा प्रफुछित। अधीर धर धीर मिलै वह अवस अरे चित ॥ १७॥

मात्सेर्यमुत्सौर्य विचार्य कीर्यमार्याः समर्यादिमिदं वदन्तु ॥ सेव्यौ नितम्वाः किलं भूधराणामुर्तं समर-स्मेरविछासिनीनाम् ॥ १८॥

मं० ही०—भूधरस्त्रीनितम्बयोर्भध्ये कः सेवनीय इति पुच्छति । मारसर्वेति । भी भ श्रेष्टाः गण्सर्य उप्मार्थ त्यक्त्या अवस्यं कर्तव्यकार्यं विचार्य मर्यादयासह समर्पादं इदं कार्यं वर् निज । यदि परमार्थश्चेत्तर्दि भूबराणां पर्वतानां नितम्बाः सेव्याः ने। चेत् समरस्य मदगस्यः भूगम्नेत्र विद्यानिनीनां नितम्बाः सेव्या इति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १८ ॥

भा० टी०—हे श्रेष्टुपुरुषो ! मत्मरताको त्यागकर मर्यादासहित वि पूर्वक कहा कि केना पर्वनॉकेंडी नितम्ब सेवनेयोग्य हैं, और कें कागरें उपहोंने भगेर्द्र स्त्रियोंकेटी नितम्ब सेवनेयोग्य हैं॥ पर्वतके मध्यभाग विक्रिके काटियशानभागको नितम्ब कहतेहैं॥ १८॥

देहि — नीच वचन सुन अनस तज करह काज छहि भेग कता सर्वे गिरवरन के कामिन कुच सेव ॥ १८ ॥ संसीर दिसेल मोरे परिणानितर छे हैं गंती पण्डितांनां नवज्ञानामृतान्मः छुनळिलिविवां चीनु कांछः कहाचित् ॥ ना चर्म्मुखांगर्नांनां स्तनज्ञानमरा-भेगानं नीगिनीतां स्थूळोपस्थर्यकीषु स्थागिनकर-नळपडां छोटांचानां सु॥ ३९ ॥ सं० टी०—असिन् संसारे पण्डिता गतिद्वयेन कालयापनं कुर्वन्तीसाह ! संसार इति । विस्मनसारे सारराहिते पारेणातितरले परिणामचञ्चले संसारे पण्डितानां द्वे गती स्तः । अतस्तव-उन्नेवेशमृतोदकेन प्रता स्ताता अतएव लिलता तीक्ष्णा धीर्येपामेवंभूतः कालः कदाचिद् यातु विस्तु इति एका गतिः । नोचेत्तर्हि स्तनजघनयोर्भरस्तास्मिन् आभोगः पूर्णः सम्भोगो यासां तासां उपाङ्गनानां स्भृत्येपस्यस्थलीपु भूमिषु स्थेगितः करतलस्पर्शस्त्रास्मिन् लोलानां सतृष्णानामुचतानां विस्तिया । सग्धराष्ट्रतमिदम् ॥ १९॥

भा. टी०—इस असारसंसारमें जिसकी अन्त अवस्था अति चश्चल है ।ण्डितोंकी दोही उत्तम गित हैं, कि यातौ तत्त्वज्ञानक्ष्मी अमृतरसमें स्नान करनेवाली जिनकी निर्मल बुद्धि है उनहीका समय अच्छा व्यतीतहोताहै, अथवा अपने पुष्ट स्तन और जधनसे जो स्त्री भोगमें सुखदाई हैं उनके शरीरपर हाथ दिये इश्चलतासे जो उद्योगमें तत्पर हैं उनका काल भलीभांति व्यतीतहोताहै॥ १९॥ उप्पय्य—अलपसार संसार तहां है वात शिरोमाणि। ज्ञानअमृतके सेन्धु सगन वहाँ रहे बुद्धिवनि। नित्यानित्यविचारसहित सब ताधन साधें। की यह प्रौढा नारि धारि उरमें आराधें। चैतन्य मदन अंकुशपरित सिसकत मसकत करत रिस। रस मसत कसत विल-व्यत हंसत इह विधि वित वह दिवसनिसी ॥ १९॥

मुखेनै चन्द्रकौन्तेन महाँनीछैः शिरोर्रहैः॥ पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजें रत्नमयीवं सां॥ २०॥

सं ॰ टी ॰ — मुखेनेति । सा स्त्री चन्द्रवत् कांतं सुन्दरं तेन मुखेन तथा महान्तश्च ते नीळास्तैः ऋष्णवर्णैः शिरोरहैः केरौः तथाच पद्मं रक्तकमलं तद्दत् रागो रिक्तमा ययोस्ता-न्यां पाणिभ्यां हस्ताम्यां रत्नप्रयीव रेजे शुशुभे । अनुष्टुबृक्तभिदम् ॥ २०॥

भा॰ टी॰—चन्द्रकान्तसे मुख, महानील्रसे केश, और पद्मरागकेसमान रंगवाले दोनों हाथोंसे वह स्त्री रत्नोंकी खानकेसमान शोभायमान है ॥ २० ॥

दोहा-चन्द्रकान्त सम मुख् लसत् नीलम केशहि पाश।

पद्मरागसम कर छसें नारी रत्नप्रकाश ॥ २०॥ संमोहयन्ति सद्यौन्ति विडम्बयैन्ति निर्भर्त्सर्यैन्ति रमयैन्ति विषादयन्ति ॥ एताःप्रविश्ये सेंदुयं हेंदुयं नराणां किंै

नार्मे वामनयंना ने समाचरित्रे ॥ २१ ॥

सं दी • — संमोहयन्तीति । एताः वामानि सुन्दराणि नयनानि यासां ताः वामानि नयनानि यासां ताः वामानि सुन्दराणि नयनानि यासां ताः वामानि स्तरणां पुरुषाणां सदयं दयायुक्तं हृदयं प्रविश्य संमोहयन्ति मोहमुत्पादयन्ति, मदयन्ति, विडम्बर्यत् निर्मर्त्सयन्ति, परंच रमयन्ति, विषादयन्ति विषादमुत्पादयन्ति, तस्मात् एताः ह्नियः किनाव समाचरन्ति अपि तु सर्वमेव आचरन्ति । वसन्तितिळकावृत्तिमदम् ॥ २१॥

भा० टी०—ये सुन्दरनेत्रवाली स्त्री मनुष्यके कोमलहृदयमें प्रदेशकर कोमलहृदयमें प्रदेशकर कोमलहृदयमें प्रदेशकर कोमलहृदयमें प्रदेशकर कोमलहृदयमें प्रदेशकर कोमलहृद्यमें प्रदेशकर कोमलहृद्यमें प्रदेशकर कामले हैं स्वति करती हैं, अप करा कामले का

सोरठा—मोह प्रलाप प्रमाद ज्ञाननाश निर्लजता। शोक कलेश विषाद कहा न कर हिय नार घुस ॥ २१ ॥ विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमीणां छायासुँ तन्वी विचचीर काचित ॥ स्तनोत्तरीयेण करोष्ट्रतेन निवारययेन्ती शिशानो मयुखान ॥ २२ ॥

सं दी - अथ भोगादि छक्षणमुन्यते । विश्रम्येति । काचित्तन्वी कृशाङ्गी विरि^{श्णी} वा वनद्रमाणां वनस्थितवृक्षाणां छायासु विश्रम्य विश्रामं कृत्वा । आदरार्धे वीप्सा । स्तने।त्ति^{वेति} स्तने।पिवस्त्रेण करेणोद्धृतं तेन शशिनश्चन्द्रस्य मयूखान् किरणान् निवारयन्ती विचवित्रं गमनं कृतवती । उपजातिर्धृतम् ॥ २२ ॥

भा॰ टी॰—कोईएक स्त्री वनके द्वशोंकी छायामें वेरवेर विश्राम कर्ती हुई अपना अंचल (स्तनोंके ऊपरका साडीका भाग) हाथसे उठा उससे चन्द्रमांके किरणोंको रोकतीहुई जातीहै। यह क्रशाभिसारिका नायका है।। २२॥

दोहा—नारि विरहनी तरुतरें बैठी शशिसों भाग। चन्द्रकिरनकों चीरसों दूर करत दुख पाग॥ २२॥

अर्द्शिन दर्शनमात्रकाँमा दृष्ट्वाँ परिष्वंगरसैकलोलाँः॥ आर्िं गिताँयां पुनरायताक्ष्यामाशास्मेहे विग्रह्योरभेदम् ॥२३॥

सं० टी०—अदर्शन इति । धायतास्याः प्रियमुक्या अदर्शने दृष्टिगोचात्वाभावे दर्श नमेव दर्शनमात्रं तासिन् वामें। छाछमा थेपां तथाभृता वयं स्म दृति शेपः । अस्ति भ^वि परोडम्नुज्यमाने इपस्तिति भाष्यात् । तां दृष्ट्वा परिध्यद्गारेशे खाळित्वनरसे एकस्मिनेव छोठा तृष्णाः । आयताक्ष्यां दीर्घलोचनायां पुना रतिसमये आलिङ्गितायांसलामुभयोर्विप्रहयोर्देहयोर-दः सातत्येनैकत्र स्थितिमाशास्महे इच्छामः । अभिलिषतिविषयप्राप्ताविप विषयेच्छा न निवर्तत वेतिभावः । वृत्तमुपजातिरिदम् ॥ २३ ॥

भा० टी०—जबतक हम स्त्रीको नहींदेखते तवतक तौ हमको उसके -{खनेहीकी इच्छा रहतीहै, और जब देखलेतेहैं तव उससे आलिक्ननरसंका -उस चाहतेहैं, और जब उसका आलिक्ननभी प्राप्तहोजाताहै तब यह इच्छा -करतेहैं कि यह मृगनयनी हमारे शरीरसे अलग न हो ॥ २३ ॥

छपरहा—विन देखे मन होय वाय कैसे कर देखे। देखे ते चित होन अङ्ग आलिङ्गन सेखे। आलिङ्गनते होत याहि तनमय करराखे। जैसे जल अरु दूध एकरस त्यों अभिलाखे। मिलरहे ति मिलवो चहत कहा नाम या विरहको। वरन्यो न जात अद्भुत चिरित प्रेम पाठकी गिरहको॥ २३॥

मार्लती शिरेसि जुम्भणोन्मुखी चन्द्रंनं वेंपुषि कुंकुमान्वितम्॥ वक्षाँसि त्रियतमा मनोहरा स्वैगे एषं परिशिष्टें आगतः॥२४॥

सं ० टी०—मालतीति । यस्य मालती पुष्पमाला शिरसि वर्तते कीहशी जूम्भणोन्मुखौ विकसन्मुखी विकसिता । तथा वपुषि शरीरे चन्दनं कुंकुमेन अन्तितं युक्तं । तथा च वक्षसि हृदये प्रियतमा अतिशयेन प्रिया वर्तते । तस्य स्वर्गः परिशिष्टोऽत्रशिष्टः उर्वरितः एपेऽत्र भूमी आगतः अत्रापि स्वर्गभोगो भवतीति भावः । रथोद्धतावृत्तमिदम् ॥ २४ ॥

भा० टी०—खिलेंहुए मालतीके पुष्पोंकी माला गर्लेमें पढीहो, केसरयुक्त चन्दन शरीरमें लगाहुआहो, और सुन्दर प्यारी स्त्री छातीसे लिपटीहो तो जान-लोकि स्वर्गका शेप सुख पहीं प्राप्तहुआहै ॥ २४ ॥

दोहा—केशरसों अंगिया सनी वनी नयनकी नौक।

मिली प्राणप्यारी मनौ घर आयौ सुरलोक ॥ २४॥

प्रौद्धौमें ति मनौंगमानितर्गुणं जाताभिर्लाषं ततः

सैत्रीडं तद्नुं श्रिथोद्यतेमनुं प्रत्येस्त्येयं पुनैः॥ प्रेमाई-

स्पृहणीयनिभेररहःक्रीडाप्रगेर्हमं तैतो निःशंकांगविकर्षण दिकसुँखं रमेथं कुलस्त्रीरतमेँ ॥ २५॥

सं टी - प्राङ्मामेतीति । कुल्ह्वीरतं रम्यं कथं प्राक् पूर्वं मा मा इति मनागेति समानितगुणं स्वयमेव आगमिष्यति इति कारणात् आदरो नैव कृतः । ततो जाताभिलां र जाता, ततः सत्रीडं ल्ज्ज्या सह आगता। तदनु ख्र्योद्यतं शिथिल्तया ज्वता । अनु पश्चात् प्रचियं । पुनः प्रमणा आर्द्रः स्पृहणीयः निर्भरः आदरः तेन रहः एकान्ते क्रीडायां प्रगलमं सक्तव्यतः निःशङ्कमङ्गस्य विकर्पणमाकर्पणं तेन अधिकं सुखं। एवं शनैः शनैः सक्तल्ज्जिमिति कार रम्यगित । शार्द्लिक्जिडितं वृत्तिमेदम् ॥ २५ ॥

भार टी०—पिहळे तो नहीं नहीं करना, फिर अभिलापा ुर्दाहित होर हजामे शरीरका ढीलाकरदेना, धीरता त्यागदेना, प्रेमरसम भीगत समाहनेपोग्य एकान्तकीडाका चातुर्थ विस्तारकरना, और फिर निडर होर क्षेग स्वनेका आधिक सुखलाभ करना, इत्यादि मनोहर गुण उसमें हैं, इसहि निश्य जानलोकि कुलक्षीही रमणकरनेयोग्य है ॥ २५ ॥

छप्यय—ना ना कहि गुण प्रगट करित अभिलापला जुन । शिथिल होय थर धीर प्रेमकी इच्छा करि उत । निर्भ रसकों लेत सेजर न खेतिह माहीं। कीडामांहि प्रवीण नारी स्री या मनमाहीं। यह सुरत मांझ अतिही सुरत करत हरत हि गिन करें। कुलवधु कामिनी केलि कर कलह कामकी सवटरें॥

दंगित निपतितानां सस्तधीमाहकौनां मुकुंछितन नीनां किचिंदुन्मीछितानाम् ॥ सुरतजानितखेदस्विन्नगि स्पंदीनामधरमध्य वधूनां भाग्यवन्तःपिवन्तिं ॥ २६॥ छ्टप्य — खुले केश चहुंओर फैल फूलनको वरसत। सदमद छाके नैन दुरत उधरतसे दरसत। सुरतखेदके स्वेद कलित सुन्दर कपोल गाहि। करत अधररसपान परत अमृत समान लाहि। ते धन्य धन्य सुकृती पुरुष जे ऐसें उरझे रहत। हितभरे रूप योवन भरे दम्पति सुखसंपत लहत॥ २६॥

आमीलितनयंनानां येः सुरतैरसोऽनुँसंविदं कुरुते ॥ मिथुनैर्मिथीऽवधारितैमविर्तथर्मिदमेवँकामानिर्वहणां। २७॥

सं ० टी ० — कामिन वेहणमाह । आमीलितेति । आ ईपन्मीलितानि नयनानि यासां तासां स्त्रीणां यः सुरतरसः अनुसंविदं सुखं कुरुते इदमेव अवितयं कामस्य निर्वहणं कर्तव्यं । मिथुनै- ईन्हें भियः परस्परमवधारितं ज्ञातमन्यो होतन्त्रजानाति । गीतिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

भा० टी॰—आलस्यभरे नेत्रवाली स्त्रियोंकी कामसे तृप्तिकरनाही कामका पूजन है, इसको स्त्रीपुरुप दोनो परस्पर जानतेहैं॥ २७॥

दोहा--मृगनैनी आलसभरी सुरतसेज सुखसाज।

पूजिहें दम्पति काम मिलकरिहें सुमङ्गल काज।।२७।

ईद्मनुंचितमक्रेंभश्रें पुंसीं येदिहें जरास्वेंपि मार्नाथा विकाराः ॥ येदिपि चैं ने क्वेतं नितिम्वेनीनां स्तनपतेना-

विध जीवितंं रैंतं वीं ॥ २८॥

सं ० टी ० — इदिमिति । पुंसां यत् यस्मात् जरासु वृद्धावस्थायामि मन्मथस्येभे मान्मथाः विकाराः इताः इदमनु चितं कृतं । अक्रमश्च क्रमोऽिपनैव । यदि नितान्विनीनां स्तनपतनाविध स्तनयोः पतनपर्यन्तं जीवितं रतं वा न कृतम् । इदमि अनु चित कृतम् ॥ पु िपताप्रावृत्तमिदम् ॥ २ ८॥

भा ॰ टी॰ -- यह विधाताने वडा अनुचित कार्य कियाहै कि मनुर्ध्योंके वृद्धावस्थामें भी कामाविकार प्रगट होताहै, और ऐसेही स्त्रियोंको भी ऐसा न वनाया कि जवतक उनके स्तन न गिरें तभीतक जीवें अथवा तभीतक काम-चेष्टा उनको उत्पन्नहो ॥ २८॥

दोहा—विधिना है अनुचित करीं वृद्धनरन तन काम। कुच ढरकतह् जगतमें जीवतराखी वाम॥ २८॥

स्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगेर्हमं तैतो निर्मकार कि

सं ॰ टी ॰ प्राङ्मामेतीति । कुल्ह्यीरतं रम्यं कथं प्राक् पूर्वं मा मा इति मनामे अमानितगुणं स्वयमेव आगमिष्यति इति कारणात् आदरो नैव कृतः । ततो जाताभिलां र जाता, ततः सत्रीडं लज्ज्या सह आगता।तदनु श्वयोद्यतं शिथिलतया उद्यता । अनु पश्चात् अधियं । पुनः प्रमणा आर्दः स्पृहणीयः निर्भरः आदरः तेन रहः एकान्ते क्रीडायां प्रगल्भं सक्तल्ली ततः निःशङ्कमङ्गस्य विकर्षणमाकर्पणं तेन अधिकं सुखं। एवं शनैः शनैः सक्तल्जमिति कार्यस्यमित । शार्द्लिकिकीडितं वृत्तमिदम् ॥ २५ ॥

भा० टी०—पिहळे तो नहीं नहीं करना, फिर अभिलापा किंद्र और लजासे शरीरका ढीलाकरदेना, धीरता लागदेना, पेमरसमें भीगा निर्मान केंद्र के निर्माण एकान्तकी डाका चातुर्थ विस्तारकरना, और फिर निर्झ के देंग स्वचनेका अधिक सुखलाभ करना, इत्यादि मनोहर गुण उसमें हैं, हर्जि निश्य जानलोकि खलसीही रमणकरनेयोग्य है॥ २५॥

छप्यय—ना ना कहि गुण प्रगट करित अभिलापला जुन । शिथिल होय धर धीर प्रेमकी इच्छा करि उत । कि रसकों लेत सेजर न खेतिह माहीं। की डामांहि प्रवीण नारी सुर्वि या मनमाहीं। यह सुरत मांझ अतिही सुरत करत हरत कि गिन करें। कुलवधु कामिनी केलि कर कलह कामकी सवटरें॥

उरिम निपतितानां सस्तधिमहकौनां मुकुंछितन्य नौनां किचितुन्मीछितौनाम् ॥ सुरतजनितखेद्स्विन्नगणः स्थैकीनामधरमंत्रु वधृनां भाग्यवैन्तःपिवन्ति'॥ २६॥ छ्रिप्य खुले केश चहुं और फैल फूलनको वरसत। सदमद छाके नेन दुरत उधरतसे दरसत। सुरतखेदके स्वेद कलित पुन्दर कपोल गाहि। करत अधररसपान परत अमृत समान छाहि। ते धन्य धन्य सुकृती पुरुष जे ऐसें उरझे रहत। हितभरे हप योवन भरे दम्पति सुखसंपत लहत॥ २६॥

आमीलितनयैनानां येः सुरतैरसोऽनुँसंविदं कुरुँते ॥ मिथुँनैर्मिथीऽवधारितैमविर्तथिमिद्मेवँकामनिर्वहणें॥ २०॥

सं० टी० —कामानिर्वहणमाह । आमीछितेति । आ ईपन्मीछितानि नयनानि यासां तासां स्त्रीणां यः सुरतरसः अनुसंविदं सुखं कुरुते इदमेव अवितधं कामस्य निर्वहणं कर्तव्यं । मिथुने-ईन्दें(मिथः परस्परमवधारितं ज्ञातमन्यो होतन्नजानाति । गीतिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

भा० टी॰—आलस्यभरे नेत्रवाली स्त्रियोंकी कामसे तृप्तिकरनाही कामका पूजन है, इसको स्त्रीपुरुप दोनों परस्पर जानतेहैं॥ २७॥

दोहा--मृगनैनी आलसभरी सुरतसेज सुखसाज।

पूजिह दम्पति काम मिलकरिह सुमङ्गल काज।।२७।

ईद्मनुंचितमक्रंमश्रं पुंसौं येदिहे जरास्वंपि मान्मिथा विकाराः ॥ थेदिपि चें नें क्वेतं नितिम्वेनीनां स्तनपत्ना-

विध जीवितंं रैंतं वीं ॥ २८॥

सं ॰ टी॰—इद्मिति । पुंसां यत् यस्मात् जरासु वृद्धावस्थायामपि मन्मथस्येभे मान्मथाः विकाराः कृताः इदमनुचितं कृतं । अक्रमश्च क्रमोऽपिनैव । यदपि नितान्वनीनां स्तनपतनाविष स्तनयोः पतनपर्यन्तं जीवितं रतं वा न कृतम् । इदमपि अनुचितं कृतम् ॥ पुष्पिताग्रावृत्तमिदम् ॥ २८॥

भा टी ० — यह विधाताने वडा अनुचित कार्य कियाहै कि मनुष्यों के वृद्धावस्थामें भी कामाविकार प्रगट होताहै, और ऐसे ही स्त्रियों को भी ऐसा न वनाया कि जबतक उनके स्तन न गिरें तभीतक जीवें अथवा तभीतक काम-चेष्टा उनको उत्पन्नहो ॥ २८॥

दोहा—विधिना दे अनुचित करीं वृद्धनरन तन काम । कुच ढरकतह जगतमें जीवतराखी वाम ॥ २८॥

एँतत्कामर्फंडं छोके' यें द्वैयोरेकचित्तताँ॥ अन्यचित्तकृते काँमे र्जावयोरिवं संगर्मः॥२९॥

सं॰ टी॰—छोके स्त्रीपुरुपयोरेकचित्तता एव कामफलमिलाह। एतदिति । छोके यत् ह स्त्रीपुरुषयोरेकचित्तता एकचित्तत्वमेतदेव कामस्य फलमस्ति । अन्यस्मिन् पुरुषे अन्यास्यां योपिति यचित्तं तेन कृते कामे सित शवयोः मृतयोः सङ्गम इव भवतीति शेपः । अनुष्टुवृक्तमिदम्॥१९।

भा॰ टी॰—समागमकेसमय श्लीपुरुपका एकचित्त होजानाही काम फुछ है, यदि समागममें दोनोंका एकचित्त न होय तौ वह मृतकके समागम समान है।। २८॥

> दोहा—नारिसमागम कामफल दुहुनहि चित्त इक होय जो कहुं होय विभिन्नत शवसंगमसम जोय॥ २९॥

प्रणयमधुराः प्रेमोद्राहाँ रसीदर्हंसास्तथाँ भणितमधुरी मुग्धप्रायाः प्रकाशितसंमदाः ॥ प्रकृतिसुभगा विश्रमभीही स्मरोदयदायिनो रहेंसि किमैपि स्वेरालापी हरितें मृगीहशांम् ॥ ३०॥

सं शि — प्रणयेति । मृगीदृशां मृगनयनीनां रहित एकान्ते स्वैरं यथेष्टमाला वचनानि किमि अनिर्वचनीयं हरित सर्वस्विमसर्थः । कथंभूता आलापाः । प्रणयेन प्रीत्मा मृथुराः । प्रमणा उद्गादाः । शृंगारादिरसादृलसाः । तथा भणितेन रितक्जितेन मृथुराः । मृग्धप्रायाः अस्पुटाः । प्रकाशिताः प्रकर्पण मदाः यस्ते प्रकाशितसंमदाः । प्रकृत्या स्वभावेन सुभगाः सुन्दराः विश्रम्भाहीः विश्वासयोग्याः । स्मरस्य कामस्योदयं ददतीति ते स्मरोद्यदायिनः । हरिणीवृत्तिमदम् ॥ ३०॥

भा० टी०—मृगनयनी स्त्रियोंके प्रणयपीतिसे मधुर प्रेमरसपूर्ण शृंगार रससे आलस्ययुक्त सुननेमें सुन्दर, अन्यक्त आनन्द प्रकाशकरनेवाले, स्वभावहींसे सुन्दर, विश्वासयोग्य, और कामदेवको उत्पन्नकरनेवाले वाक्य एकान्तमें मनकी हरलेतेहैं॥ ३०॥

दोहा—प्रणयमधुर आलसभरे सरससनेह समेत।
मृगनिनिनके ये वचन हरें त्रित्तकों लेत॥ ३०॥

र्वतां गोंगे पापवारिणि वौरिणि ॥ रुण्या वा मनोर्हारिणि हारिणि ॥ ३१॥

देश रहित । हे पुरुष ! त्वया पापं वारयतीति पापवारि तत्त्वभावे गङ्गाया देशे... तिसम् वारिणि जले आवासः वसितः क्रियताम् । गङ्गातीरे पुण्यसम्पादनार्थं वासः क्रियतामितिभावः । वा अथवा हारोऽस्ति यस्मित्तिसम् मनोहारिणि तरुण्याः युवत्याः स्तनमध्ये कुचयमध्ये आवासः स्थिक्ति क्रियताम् । सांसारिकसुखसम्पादनार्थमितिभावः ॥ अनुष्टृवृत्तिमदम्॥३१॥
भा० टी॰-पापहरनेवाले गङ्गाके तटपर वासकरना उचित है, अथवा नोहरहारयुक्त नरुणीस्त्रीके स्तनोंके मध्यमे वासकरे ॥ ३१॥

दोहा—वास कीजिये गङ्गतट पाप निवारत वारि ।
के कासिनिकुचयुगलको सेवन करह विचारि ॥३१॥
प्रियपुरेतो युवतीनां तार्वत्पद्मातनोतुँ हँदि मानैः ॥
भवैति नै यावचंदनतरुसुरिभिर्निर्में एवनैः ॥ ३२॥

सं ॰ टी॰—प्रियेति । तावत् प्रियस्य पुरतोऽप्रभागे युवतीनां हृदि मानोऽहंकारः पदमा॰ नोतु विस्तारयतु । यावचदंनतरुणा वृक्षेण सुरभिः सुगंधिः सुनिर्मलः स्वच्छः पवनोऽनिर्छा

लियानिल इसर्थः न भवति । इति भोगादिलक्षणम् । गीतिर्वृत्तामदम् ॥ ३२ ॥

भा॰ टी॰—मानिनीस्त्रियोंके हृदयमें मान तभीतक टहरताहै जवतक के चन्दनकी सुगंधिसे पूर्ण मुलयाचलका वायु नहींचलताहै॥ ३२॥

दोहा—तवही जो मन मान यह तवही छैं। श्रृभंग। ज्यों छों चन्द्रनसे मिल्यों पवन न परसत अङ्ग॥३२॥

अथ ऋतुंवर्णनम् । तत्रादौ वसन्तस्य । परिमर्लभृतो त्रातीः शाखा नवांकुरकोटँयो मधुरवितोत्कण्ठा वांचःप्रियाः

विकपक्षिणाम् ॥ विरलसुरतस्वेदोद्वारां वधूवदनेन्दुँवः प्रसेरिति भैधौ रार्ट्यां जातो नै कस्यैं गुणोद्यैः॥ ३३॥

सं ० टी ०—वसन्तर्ते। कामवर्द्धकसर्वपदार्थानां प्रादुर्भावो भवतीति तत्रादौ वसन्तं वर्ण-वति । परिमेछेति । परिमेछेन सुगन्धिना स्तः युक्ताः वाताः पवनाः वान्तीतिरोपः । दृक्षाणां

शाखाः नवांकुरकोटयः नवांकुरयुक्ता अभवन् । पिकपक्षिणां कोकिल्पद्मिणां प्रियाः मधुरविरतो-

एँतत्कामफूँ छोके यद्भैयोरेकचित्ततों ॥ अन्यवित्तकृते काँमे श्वयोरिवं संगमः॥२९॥

भारती है। भारती स्वापाय स्थापित स्थापित हो आगारी है। भारती स्वापाय दोनी हा एक वित्त नहीं पती पट मृतक के मण

होता—नाविष्यमागम कामफल बुद्दनिह चित्त इक है जेर कहें होता विभिन्नत सवसंगमराम जेए ॥ २१

प्रत्यपत्मः प्रमोद्दाहां ग्याद्रहेमाम्नर्था भणितम म्हरणायः प्रकाशितसंसदाः ॥ प्रकृतिस्विमा विश्वस्ने म्हरीद्यादेशीयना ग्रहीय विभाष ग्यमहापो हर्म म्हरीद्याद ॥ ६०॥

वैतां गौंगे पापवारिणि वौरिणि ॥ रुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥ ३१॥

दे । इति । हे पुरुष ! त्वया पापं वारयतीति पापवारि तस्वभावे गङ्गाया दं । तिस्मन् वारिणि जले आवासः वसतिः क्रियताम् । गङ्गातीरे पुण्यसम्पादनार्थे वासः क्रियतामितिभावः । वा अथवा हारोऽस्ति यस्मिस्तिसमन् मनोहारिणि तरुण्याः युवयाः स्तनमध्ये कुच- स्यमध्ये आवासः स्थिहः क्रियताम् । सांसारिकसुखसम्पादनार्थमितिभावः ॥ अनुष्टुवृवृत्तिमदम्॥३१॥

भा० टी -पापहरनेवाले गङ्गाके तटपर वासकरना उचित है, अथवा नोहरहारयुक्त तरुणीस्त्रीके स्तनोंके मध्यमे वासकरे ॥ ३१॥

दोहा—वास कीजिये गङ्गतट पाप निवारत वारि । कै कासिनिकुचयुगलको सेवन करहु विचारि ॥३१॥ प्रियपुरेतो युवतीनां तावंत्पदमातनोतुँ हाँदि मानैः ॥ भवैति नै यावचंदनतरुसुराभिनिंभिर्छःपवनैः ॥ ३२॥

सं ० टी ० — प्रियेति । तात्रत् प्रियस्य पुरतोऽप्रभागे युत्रतीनां हृदि मानोऽहंकारः पदमा• तनोतु विस्तारयतु । यावचदंनतरुणा वृक्षेण सुरभिः सुगंविः सुनिर्मलः स्वच्छः पत्रनोऽनिले। बल्यानिल इसर्थः न भवति । इति भोगादिलक्षगम् । गीतिर्वृत्तामदम् ।। ३२ ॥

भा ॰ टी॰—मानिनीस्त्रियोंके हृदयमें मान तभीतक टहरताहै जवतक कि चन्दनकी सुगंधिसे पूर्ण मलयाचलका वायु नहींचलताहै॥ ३२॥

दोहा-तवहीं जों मन् मान यह तवही छैं। श्रूभंग।

ज्यों जो चन्दनसे मिल्यों पवन न परसंत अङ्ग ॥३२॥ अथ ऋतुंवर्णनम् । तत्रादें। वसन्तस्य । परिमळेमृतो

अथ ऋतुवणनस् । तत्रादा चलन्तस्य । पारमलमृता वार्ताः शार्खा नवांकुरकोटँयो मधुरवितोत्कण्ठा र्वाचःप्रियाः पिकपक्षिणाम् ॥ विरलसुरतस्वेदोद्गारो वधूवदनेन्दुँवः

प्रसैरित मैघो रार्त्यां जातो नै कस्य गुणोद्यः ॥ ३३॥

सं ० टी ० — वसन्तर्तों कामवर्द्धकसर्वपदार्थानां प्राद्धभावो भवतीति तत्रादौ वसन्तं वर्ण-यति । परिमल्लेति । परिमल्लेन सुगन्धिना भृतः युक्ताः वाताः पवनाः वान्तोतिशेपः । वृक्षाणां शाखाः नवांकुरकोटयः नवांकुरयुक्ता अभवन् । पिकपक्षिणां कोकिल्पक्षिणां प्रियाः मयुरविरतो-४२ त्कण्ठा वाचः उच्चेरुःकंठितमञ्जूरवाचः अभवन् । विर्छः स्वरपः सुरते सम्भोगे यः सेर्द्धासेहः प्राकट्यं येपु । तथाभूता वधूनां वदनान्येवेन्दवश्वन्द्रा अभवन् । एवं मधा वसन्ते प्रसरित प्रहर्ण सति अभवत् । तस्य मधाः राज्यां कस्य पदार्थस्य गुणोदयः न जातः।हरिणीवृत्तिमदम् ॥३३॥

भा॰ टी॰--सुगिधयुक्त पनन चलरहाहै, वृझोंकी ज्ञाखाओं नये अं निकलरहेहैं, कोकिल आदि पक्षियोंकी उत्कण्टाभरी वाणी अत्वन्त मधुर गर् होतीहै, और स्थियोंके मुखचन्द्र रितथमसे निकलेहए प्रस्वेदोंके कणोंसे शोशि होरहेहें, ऐसी वसन्तऋतुकी रात्रिभें किस पदार्थके गुणोंका उदय नहीं होताहै।।श

छप्य—चलैं सुगंधित पवन फूल चहुंदिशमें फूले। वि बोलत मीठे वचन कामशर उरमें शूले। मुकुलित मंजिर आ करे उत्कण्ठा भारी। रतिश्रमस्वेदित वदन चन्द्रसम अद्भुतनारी को जग अस जडजीव जाहि नहिं काम सतावै। अस वसन्ता रैन महामन मोद वढावै॥ ३३॥

मधुरयं मैधुरेरपिँ कोकिलाकर्लक्ष्टैर्मलयस्य चै वार्य्भि विरहिणेः प्रणिहेन्ति दाँशीरिणो विपैदि हन्ते सुँधि विष्यैते ॥ ३४ ॥

सं टी - विपदि सुघापि विपायते इति विरहिद्द्यान्तेनाह । मधुरिति । अयं मधुर्वते द्रारीरिणोऽपि विरहिणो मधुरिरपि कोकिलानां कलकलेः द्राव्दैः, तथा मल्यस्य वार्षी प्राणिहन्ति मारयति । नन् कोकिलाकलकला मधुराः, तथा मल्यवायुरपि प्रियक्तरः, एभिर्मरणं घटते इस्ताआह । विपदि आपत्काले सुघा अमृतमपि विपायते विपिश्वाचरति । हन्त इति हं हृतविल्धितं वृत्तिवरम् ॥ ३४ ॥

भा॰ टी॰--यह वसन्तऋतु कोकिलोंके मधुर २ शब्दोंसे और मल्या चढके वायुसे विरद्दीपुरुपीका वध करताहै, इससे यह सिद्धहोताहै कि विपति कालमें अमृतभी विप होजाताहै ॥ ३४॥

दोहा--ऋतु वसन्त कोकिछ कुहुक त्योंही पवन अनूप। विरहविपतिके परतही सुधा होय विपरूप॥ ३४॥ अवौसः किर्क किंचिंदेवं दियतापिर्धे विलासालैसः हैंगे कोकिलकाकलीकलस्वः स्मेरों लतामण्डंपः ॥ गोष्टीं निकेविभिः सैमं कतिपेयैः सेव्याः सितांशोः कर्राः केषांचि-सुखयन्तिं नेत्रहेंद्ये चैत्रें विचित्रीः क्षपाः ॥ ३५॥

सं० टी०——आवास इति । भावासः यसतिः किछ इति श्रृयते किनिदेव स्वत्यकालमात्रमिष दियतायाः प्रियायाः पार्श्वे सभीपे विलासेन अलसः प्रियो भवति । कर्ण कोकिलानां काकली वृहमध्यितः तथा कलस्यः गर्म्भारो स्यः शन्दः प्रियो भवति । लतामण्टपश्च स्मेरः प्रकृष्टिनो भवति । कतिपयैः सस्कविभिः गोष्टी प्रिया भवति । सितांशोश्चन्द्रस्य कराः किरणाः निज्याः भवन्ति । एते पदार्थाः केपांचिन्नेत्रहृद्ये सुखयन्ति । ये प्रशासनस्तेषां दुःस्यस्पा भवन्ति । एवं चित्रमासादौ क्षपाः निशाः विचित्रा भवन्ति । शार्द्वलिविक्तीटितं वृत्तिमदम् ॥ २५ ॥

भा शिश्वानिक्षित्रभागसे शिथिलहोके स्रीकेषास रहना, यानसे कांकिन हके शब्दोंकी कलकलाहट सुनना, लताओंके मण्डपोंका, प्रकृष्टित होना, अन्तरं किविजनोंके संग गोष्टी करना, और चन्द्रमाके किरणोपा सेवन करना, इतनी सुसकी सामग्रियोंसे उपयुक्त चैत्रमासकी विचित्रसत्रि किसी किसी सुग्रनीयन्ष्यके हृदय और नेवोंको आमोदित करतीहै ॥ ३५ ॥

दोहा—कोकिल खफ्ली लता चैत चांद्रनी रैन।
प्रियासहित निजमहलमें सुद्धती करत सुचैन ॥३५॥
पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकैथामातन्वेती नज्जरी मार्कन्देपु पिकांगीनाभिरधुना सोत्कण्ठसालोक्थते॥ अंप्येते ।
नवपाटलापरिमलीः प्राग्मारपाटकेरी वांति छांतिवितानतानवकृतैःश्रीखण्डकेरिं।निलाः॥ ३६॥

 परिमलानां सुगन्धीनां प्राग्भारपाटचराः उत्कर्षस्य चोराः । पुनश्च हान्तेः हमस्य वितानां ि स्तस्य तानवं तनुत्वं कुर्वन्तीति तथाभृताः ! एतादृशे वसन्ते कस्योत्कण्ठा नभवत् । शार्द्धिः वृत्तिमदम् ॥ ३६ ॥

भा॰ टी॰—इस वसन्तऋतुंम पथिकोंके विरहिणीस्त्रियोंके िस आहुति देनेवाली आमकी मंजरीको कोकिला वडी अभिलापासे के और नविनपाटलके पुष्पोंकी सुगन्धिको चुरानेवाले और खेदको पड़ा मलयाचलके वायु गमन करतेहैं॥ ३६॥

छप्य्य—विरहीजन मनताप करन वन अंवा मौरे। पिथम टेर हेर विहरी किये वौरे। भौरं रहे मननाय पृहुय पिछ लके महकत। प्रफुलित मये पलास दसोंदिस दौसी दहका मिलिगिरिवासी पवनह कामआग्ने प्रज्वल करत। विन क वसन्त असन्त ज्यों घेर रहों। यह नहि टरत॥ ३६॥

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगैन्ते ॥ मधुरमधुविधुरमधुँपे मधौ भवेत्कर्सं नोर्त्कठाँ ॥ ३७।

सं ॰ टी • — सहकारित । सहकारस्याम इक्षस्य " आमृश्चूतो रसालोऽसो सहकारि सीरमः" इत्यमरः ॥ कुसुमानां केसराणि तेषां निकरः समुदायस्तस्य भरस्तस्यामोदो गर्वरे मृश्चिताः व्याताः दिशामन्ता दिगन्ताः यस्मिन् । पुनः कथभूते मधुरं मधु पुन्परसस्तिमान् विस्तासन्ता मधुपा म्रमरा यस्मिन् । एताहरो मधौ वसन्ते कस्य पुरुपस्य मनित उत्कण्ठा न भेते आर्था इत्तिमदम् ॥ ३७ ॥

भा० टी०—जिसमें आपके वारोंकी केसरकी सुगन्धिसे दिशाएं व्या होर्ग्होंहें, और मधुरमकरन्दका पानकर भ्रमर उन्मत्त होरहेंहें, ऐसे ऋतुराज वस किसके मनमें उत्कंटा नहीं होती ॥ ३७॥

सोरटा—फूले चहुंदिारी आम भई सुगन्धित ठौर सव। मधु मधुंपी अलियाम मनभये झुमत फिरें॥ ३७।

अथ ग्रीष्मवर्णनम् ।

अच्छाच्छचन्द्रनरसार्द्रकरा मृगाईयो धाराग्रहाँणि कुसु-माँनि च कोर्मुदी च ॥ मन्दो मरुत्सुमनसंः शुचि हम्प्रिष्टं श्रीष्मे भेंदं चे भेंद्रनं च विर्वर्द्धयन्ति ॥ ३८॥

सं री ० — ग्रीष्मे ये पदार्था मदनं वर्द्धयन्ति तेऽशुना श्लोकत्रयेण वर्ण्यन्ते । अच्छाच्छेति। अच्छाछः विमलतमो यथन्दनरसस्तेनाद्रीःकरा यासां ताः मृगाक्ष्यो मृगनयनाः क्लियः, तथाच धारागृहाणि जलयंत्रगृहाणि, कुसुमानि, कौमुदी चन्द्रकला च, मन्दः सुखस्पर्शो मरुद्वायुः, सुमनसो मालतीलताः, हर्म्यपृष्ठं शुचि शुश्रं। एते पदार्था ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्द्धयन्ति। वसन्तितिलकावृत्तमिदम् ॥ ३८॥

भा० टी०--अति स्वच्छ चन्दन जिनके हाथोमें लगरहाहैं ऐसी स्नियां, तथा फुहारेयुक्त घर, सुगन्धित पुष्प, विकसित चांदनी, मन्द मन्द पवन, और महलकी स्वच्छित ये सव ग्रीष्मऋतुमें मद और मदनको वढातेहैं. ॥ ३८॥

छप्य्य—मृगनैनीके हाथ अरगजा चन्दन छावत । छुटत फुहारे देख पुष्पशैया विरमावत । चारु चांदनी चन्द मन्द मारुतको ऐवो । वाजत वीन प्रवीण संग गायनको गैवो । चान्दनी ऊजरे महलकी निरखत चितगाति हित ढरत । पुरुपनकों श्रीपम विषममें ए मद मदनाहि विस्तरत ॥ ३८॥

स्रेजो ह्यामोदां व्यजनपैवनश्चन्द्रिकरणाः परागः कार्सारो मलयजरजः सीधुं विशद्मं ॥ शुंचिः सोधोत्संङ्गः प्रतेनु वसैनं पङ्कर्जेंद्दशो निदीघे तूंणं तत्सुर्वमुपलभन्ते पुर्कृतिनः ॥ ३९॥

सं० टी०—स्त्रज इति । स्त्रजः । पुष्पमाटाः हृद्यो मनोहारी खामोदः परिमटो यासां ॥: । व्यजनस्य ताटवृन्तस्य पवनो वायुः । चन्द्रस्य किरणाः । परागः पुष्परजः । कासारः ।रोवरं । मुख्यजं चन्दनं तस्य रजः । सीधु मधं विरादं । शुचिरञ्चटः सीधो राजसदनं तस्योत्सद्गः । उँपारिभागः । प्रतनु कोमछं सूक्मं वसनम् । पङ्कजदशः कमछनयनाः क्षियः । एतेपां पराः ग्रीष्मे सुखं तूर्णे शीत्रं सुकृतिनो छमन्ते । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०—मनोहर सुगन्धियुक्त माला, पंखाका वायु, चन्द्रमाकी क न्दनी, पुष्पोंका पराग, सरोवर, चन्दनकी रज, उत्तम मद्य, बहेमहलकी उत्तम सब् छत, महीनवस्त्र, और कमलनयनी सुन्दर स्त्री इत्यादि उत्तमोत्तम पदार्थीते पुष्प वान् पुरुप ग्रीष्मऋतुमें सुख उठातेहैं ॥ ३९ ॥

दोहा-पुष्पमाल पंखापवन चन्दन चन्द सुनारि।

वैठ चान्दनी जललहर जेठमहिन पटधारि॥ ३९॥

सुधौशुम्नं धामें स्फुरह्मलैरिश्मः शर्थंधरः प्रियावकी म्मोजं मलयजर्जश्रातिसुराँमे ॥ स्रौजो हद्यामोदास्तिदिँ मिखेलैं राँगिणि जैने कैरोत्यन्तिः क्षोभं नै तुँ विषयसंस राविमुखे ॥ ४० ॥

सं॰ टी॰--मुधेति । सुधया शुश्रं धाम गृहं । स्फुरन्तः अमला रहमयः किरणाः याः दादाधरश्चन्द्रः । प्रियायाः वक्त्राम्भोजं मुखक्रमलं । अतिमुर्गम सुगन्धि मलयजं रजः । सं माल्यानि ह्यः मनोहरः आमादो गन्धे यासां ताः । तदिदमिखलं सर्व रागिणि जने एतेपु पदार्वे विपयेपु रागो यस्य तिस्मन् जने अन्तःक्षोभं करोति । नतु विपयस्य संसर्गस्तस्मात् विमुखे जे होनं करोति । दिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ४० ॥

भा० टी०--चूनेसे पुताहुआ उज्ज्वल गृह, निर्मल चान्दनीयुक्त चन्द्रम प्पारीका मुखकमल, सुगन्धित चन्दन, अत्यन्त सुगन्धिपुष्पीकी माला, ये ह बम्तु अनुरागीपुरुपीके हृदयी अत्यन्त खेदकरतेहैं, परन्तु जो विषयके संग्री विदुख है उनके हृदयमें क्षोभ नहींकरते ॥ ४०॥

दोहा—हाशिवदनी अरु शरदशिश चन्दन पुष्पसुगन्ध । य रसिकनेक चित हरत सन्तनके चितवन्ध ॥ ४०॥ इति ग्रीष्मऋतुवर्णनम्

अध वर्षावर्णनम्।

तर्रणीं वेपाँ दीपितकांसा विकसितजातीपुण्यसुगौन्धः॥ उन्नतपीनपयोधरभौरा प्राटट्ं कुरुंते कर्स्य नैं हर्षम् ॥४९॥

सं० टी०—तनणी इति । एमा प्रावद् तरुणीय कस्य पुरुपत्य हर्षे न कुरुते अपि तु
नेभेपामपि युरुते। कयंभूता प्रावट् तरुणीय । दीपितः उदीपितः कामो यया पक्षे यस्यांच, विकासिता
मुनिहता जातिभीउतीउता यस्यां, पक्षे केशादी धारणत्येन विकासिता जातयो जातिपुष्पाणि
स्त्यामतएय पुण्या मनोतः सुगन्धो यस्यां, पक्षे अङ्गादिक्तीमन्थ्यं, तरुणीपक्षेऽपि तथैव बोष्यम् ।
मुनःकयंभूता । उन्तता उद्याः पीनाः पुष्टाः धरन्तीति धराः पचाय्च् । पयसां धराः पयोधराः मेघाक्तिणं भर एव भारः अतिशयो यस्यां तथाभूता । पक्षे उन्नती पीनौ पुष्टी यौ पयोधरी स्तनौ तयोः
स्थारी यस्यां इति । उपिचत्रावृत्तिमदम् ॥ ४१ ॥

भा० टी०—तरुणीके वेपवाली, कामदेवका उदयकरनेवाली, खिलेहुए जितिषुप्पोकी सुगन्धिको धारणकरनेवाली, और उन्नत पुष्ट पयोधरोंके भारमें युक्त यह वर्षात्रहतु किसके हदयमें हर्भ नहीं उत्पन्नकरतीहै। यहांपर श्लेष हैं। जितने विशेषण पावदके हैं वेही सब तरुणीमेंभी घटेंगे, और उन सबके भिन्न अर्थ होंगे। यथा जाती जुही लता और जावित्रीको तथा पयोधर मेघ और स्तनसे कहतेहैं॥४१

दोहा—पीनपयोधरकों धरत प्रगट धरत हैं काम।
पावस और प्यारी निरख हिष्त होत तमाम ॥४१॥
वियैदुपचितमेधं भूमँयः कन्दैलिन्यो नवकुटजकदम्वामोदिनो गन्धवाहाँः॥ शिखिकुलकलकेकारावरम्याँ वनान्ताः

सुिखनमसुिखन वी सर्वमुत्कण्ठयीनत ॥ ४२॥

सं० टी०—वियदिति । वियद्गानमुपिचता मेघा यस्मिन् तत् उपिचतमेघं । फन्दछा जाता यासु ताः कन्दिल्यो भूमयः। नवा नृतनाः कुटजाः कदम्बाधः तेपामामोदो गन्धो येपु तथा। भृता गन्धवाहा वायवः । शिखि कुलस्य मयूर्कुलस्य कलाः अन्यक्तमधुराः केकारवाः वाणीशन्दा-स्ते रम्याः वनान्ताः वनप्रदेशाः । एते प्रावृि वर्षाकाले सुखिनमसुखिनं या सर्वमुक्तण्ठयन्ति मदना-विभीवेन उत्कण्ठितं कुर्वन्ति । मालिनीवृत्तमिदम् ॥ ४२ ॥

भा ॰ टी ॰ -- भेघोंसे आच्छा दित आकाश, नवीन २ अंकुरोंसे पूर्ण पृथ्वी, नवीन कुटज और कदम्वके पुर्णोंसे सुगन्धित वायु, सीर मपूरोंके झुण्डोंकी सुन्दर वाणीसे रमणीय वनके प्रान्त, ये सब पदार्थ वर्षाऋतुमें सुखी और क्षेत्र दोनोंप्रकारके पुरुपोंको उत्कण्डित करतेहैं ॥ ४२ ॥

दोहा—नभवादर अवनी हरित कुटज कदम्ब सुगंध। मोर शोर रमणीक वन सवकौ सुखसम्बन्ध ॥१२१ उपरि घेनं घनपैटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः॥ वसुधा कंदलधर्वला तुंष्टिं पथिकैः के यौत् संत्रस्तः॥१३१

सं० टी०—उपरीति । कश्चन पथिको मार्ग गच्छति । यस्योपिर घनं निविदं भा मेयानां पटलं, तिर्थगागमनप्रदेशे निर्तताः मयूराः येपुते गिरयः । वसुधा भूमिः कर्देः वाङ्कुरैर्धवला । एवंसित पथिको विरहेण संत्रस्तः सन्तापितः क तुर्धि सन्तोपं यातु प्रान्ते आर्याष्ट्रतिमिदम् ॥ ४२ ॥

भा विश्व जिप्त प्रमान विषय हारहीहै, दाहिने वाऐं पर्वतींपर हीं नाचरहें हैं, और नीचे भूमि नवीनअकुरोंसे हरीभरी होरहीहै, ऐसेसमयमें जिल्ला वारों से कामोदिपन करनेवाले पदार्थ विद्यमान हैं तो विरहसे व्यक्ति प्रिक्को केसे संतोप आवे॥ ४३॥

दोहा—घटा चढी सिर मोर गिरी हरितमई सव भूमि। विरही हग डारे कहां देखरह्यो जिय घूमि॥ ४३॥ ईतो विद्युद्वञ्चीविळसितमितैः केतिकतॅरोः स्फुरद्रन्धः प्रे चज्जळदिननद्रफूर्जितँभितैः॥ इतः केकिकीडाकळकळर्थ पक्ष्मळेहशां कॅथं यास्यन्त्येते विरहदिवसीं संभृतरैसाः ४४

सं थि थि — प्रावृति स्त्रीणां विरह्ययथामाह । इत इति हो विशुद्धि विशुद्धि विद्धि विद्य विद्धि विद्धि

चा॰ टी॰—एकऔर विद्युत्इटाका विलास, इसरीओर केतरीं एपोर्कि इन्ह्य सुपत्वि, और एकऔर येवकी गर्नना, और इसरीओं मोर्गिका होत, ये सब जहां एकब है ऐसे यह रसभरे दिन विरहिणीसियां की इयक्तिकोरी ॥ ४४ ॥ होहा—इसकत दामिन सेघ इत केतिकपुष्पीवकास।
सोर तोर निशिदिन करत विरहीजनमनत्रास॥ ४४॥
असूचीलं ले हे तैसिस नमौस प्रोडजलद्ध्विनप्राये तास्मिन्
यर्तित हर्षदां नीरिनचँये॥इँदं सोदामिन्यीः कनककमैनीयं
विकेसितं मुंदं चैंस्टीनिं चें प्रधैयति पैथिष्वेर्वे सुहशाम् ४५

सं टी ०—असूचीति । असूचीसंसारे नास्ति सूच्याः संसारः संसरणं यस्मिन् तस्मिन्
तमित अधकारे एवंभृते नमित श्रावणे "नभः खं श्रावणो नभाः " इस्रमरः । कथंभूते श्रावणे
मीसे प्रीहाश्चेत जलदाध तेषां ध्वनिप्राये दपदां पापाणानां नीरेणसह निचये समूहे पति ।
एविभदं सीदाभिन्या विद्युतो विलिसतं स्कुरणं कनकं सुवणे तद्वत् कमनीयं सुन्दरं । शोभना
्द्यं यासां तासां खीणां मोगेंप्येव पाधिप्येव मुदं हर्ष च विरिहिणां म्लानिं म्लानतां च प्रथयित
प्रकटीकारोति । शिलीरणीवृत्तमिदम् ॥ ४९ ॥

भार टी॰—जिसमें कोई पदार्थ नहीं दीखसक्ता ऐसे गाढअंधकारयुक्त श्रावणमासमें यहे वह मेघोंकी गर्जना और पत्थरसहित जलदृष्टि तथा सुवर्ण के समान सुन्दर विजलीका वारम्वार चमकना स्त्रियोंको मार्गमेंही सुख और हुःख दोनों करतेहैं॥ ४५॥

दोहा—महा अंधतम नभ जलद दामिनी दमक दुरात।
हरप शोक दोऊ करत तियकों पियिंडिंग जात ॥४५॥
आसारेण न हैं म्येतः प्रियेतमेयींतुं वाहः शक्यते शीतोकम्पिनिर्मित्तमायतहशीं गींढं समािठिंग्येते॥ जातीः शीतलशीकैराश्चे महेंतो वांत्यन्तखेदिकेंदो धन्याँनां वते दुंदिनं सुदिनैतां यौति प्रियींसंगमे॥ ४६॥

सं० टी०—आतारेणेति । मेघन्छने दुर्दिने दिनोदये जातेऽपि प्रियतमेः पितिभिः निद्रारसेन आतारेण पर्जन्यवारया यदा बहिर्हर्भतो गृहात् यातुं गन्तुं न शक्यते । तदा शीतो-त्कम्पनिमित्तमायतदशा विस्तीर्णनेत्रया द्विया गाडमस्यन्तं आर्डिग्यते । अथ च मरुतो वायवः शीतराः शीकराः अम्बुकरणाः येपुते खेदं छिन्दन्तिते खेदन्छिदो जाता वान्ति । एवं धन्यानां पुण्यवतां प्रियासंङ्गमे र्रातिविछासे कुर्वित सीत दुर्दिनमपि सुदिनतां याति सुखकरं भवति । 📸 हर्षे । शार्वूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ४६ ॥

भा० टी० - वर्षाकी झडीमें दिन निकल्ञानेपरभी पुरुष गृहसे का नहींनिकलसकतेहैं, और वडा जाडा लगताहै, देह कांपतीहै, इसीसे हि उनको गाह आछिङ्गन करतीहैं, तथा शीतछजलके कणोंसें पूर्ण मैधुनके अस श्रम हरनेवाला वायु वहताहै। अहो ऐसे पुण्यवान्पुरुपोंके बुरेदिनभी भिया संगमं अच्छे दिन होजातेहैं ॥ ४६ ॥

छप्पय--महामाहमें शीत इते पर जलधर वरसत । महल वाहर पाँव परत नहीं अतिही थरसत। कम्प होत जव गा तवहि प्यारी संग सोवत । उठत अनंग तरंग अंगमें अंग समी वत । रतिखेदस्वेद छेदन करत जालरंध्र आवत पवन । इर भाँति वितावत दुर्दिवस ते सुकृती सुखके भवन ॥ ४६ ॥

इति वर्षाऋतुवर्णनम्।

अथ शरद्वर्णनम्।

अँई नीर्वा निद्योयाःसरभससुरतायासिवन्नश्रयांगः प्रोइतासह्यतृ जा सधुमद्नि रैतो हर्म्यपृष्टे विविक्ते॥ मंभोगङ्घान्तकान्ताशिथिलभुजलतावर्जितं कैंकेरीतो ज्योत्साभिन्नाच्छैधारं पिवैति में सिछेछें शारेंदं

मंद्रभाष्यः ॥ २०॥

संव दिल—अहंपित । निशाया अह मीया सरमसं सुरत रेश्ने जायासः कार्यन िला हैता द्वारा प्रताह राषाहर संग्रा हर्सपूर्व विविध प्रतासे प्रकृतियोगपूरा अगवा व्या लक्ष महाद्वांत्रक भारते मीठा छात्र मा दिव्ही सामग्रहामाः । प्रानुते सहितं सम्बेगः प्रणा पाई कृता वापरा सन्दर्भ विकित्त भूवत्रता तथा आदिक्षे आनीत शामने भएको है। इ. १९ ४ वेरे १ वर्ष १ के से १ में १९ १९ से १०३ सम्बद्ध र प्रेश १ मा प्राप्त के इस ॥ ४७ ॥

चार दीर-नेर्रेट कार्नापुर जिल्हे अंग अर्द्धसिष्टपैन मेणुन

करनेसे शिथिल होगयेहैं, जिसको तृष्णा अत्यन्तसे लगरहीहै, और जो नद्में मत्त होरहाहै, यदि उससमय संभोगके श्रमसे वह एकान्त महलकी छतपर थकी हुई स्त्रीकी भुजाओंद्वारा दिये हुए चान्दनीकेसमान स्वच्छ शीतलजलको झारीसे नहीं पीताह वह पुरुष अवस्य मन्दभाग्य है. ॥ ४७ ॥

छुप्पय—छिके सदनकी छाक मुदित सदराके छाके। करत सुरत रन रंग जंग कर कछु इक थाके। पोढरहे लपटाय अंग अंगनमें उरझे। बहुत लगी जब प्यास तबहि चित चाहत सुरझे। उठ पियत रात आधी गयें सीतल जल या शरदको। नर पुण्य-वन्त फल लेत हैं निज सुकृताहि की फरदको॥ ४७॥

अथ हेयन्तवर्णनस्।

हेर्मन्ते द्विदुग्धसिंपर्शैना साञ्जिष्टवासीर्मृतः कार्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवर्पुषः खिन्ना विचित्रे रतेः॥ पीनोरःस्थळकामिनीजनकृतारळेषा ग्रहाभ्यैन्तरे तांवूळीदळपूगपूरितमुखां धन्याः सुखं श्रेरते ॥ ४८॥

सं० टी०—हेमन्त इति । हेमन्ते ऋतौ केचित् पुरुषाः दिध च तुम्यं च रापिः मृतं च एतानि अशनं येपां ते । माजिष्टं मिष्ठिष्ठप्रया रंजितं वासो वर्ष्यं विभाति ते । माप्तिरं तृत्यमित्तरं तस्य इवो रसस्तेन सान्दं निविष्ठं दिग्धमुपिलसमेवंभृतं वपुर्येषां रीविष्येः रतिः गिष्याः रेखं प्राप्ताः । पीनं मांसलं उरास्थलं यस्य एवंभृतो कामिनीजनस्तेन कृताः आरलेपा आतिह्नानि वेपां ताम्मृलीदर्थैः पूर्गः पुरितानि मुखानि येपां ते । एवंभृता भन्याः गृह्यभ्यन्तरे गृहमाये गृथं रेशितं निद्रां कुर्वन्ति । शार्टुलविक्वीवित्तरित्विमयम् ॥ ४८ ॥

भा० टी॰—हेमन्तऋतुमें जो दहीं हुम्य और घीका भोजन करते हैं -मजी ठके रंगेहुए वस पहरते हैं, केशर और कस्त्रीका सघन हेप अपने सब शरीरमें करते हैं, पुष्टस्तनवाली स्त्री जिनका आलिइन करती हैं, और जो पान और सुपा-रियोंसे अपने मुखको शोभित करते हैं, और सुरापूर्वक अपने मृहमें सबन करते- हैं वेही धन्य हैं ॥ ४८॥

सोरठा--दही दृध पृतपान, बलन सजीटहि रंगके। आस्टिइन रितदान, फेशर चर्चि हिमन्तनें॥ ४८॥

अथ शिशिरः

चुम्बॅन्तो गंडभित्तीरलक्वांति मुंखे सीत्कृतांन ।दर्भ वक्षेःसूत्कंचुकेषुं स्तनभरपुलकोद्धेदेशपादयन्तिः॥ ५ देन प्यंतिः पृथुजघनतर्टीत्स्रंस्यंतोऽशुकीनि व्यक्तं ंताजी विटचरितकुर्तैः शैशिशे वैनित वार्तीः॥ ४९॥

सं० टी०--चम्बन्त इति । शिशिरे कामिने। भोगकाले यथा कुर्बन्ति तथा वाकी कुर्वन्तिति शेषः । अलकवित केशवित मुखे गण्डभित्तीः प्रति प्रवला वायवः मुखे केशान क्षानित तेनैय मिपेण चुम्बन्ति । पुनः कथं भृता सीत्कृतानि आद्धानाः, शीतातिशयेन स्मान्तिति कुर्वन्ति तान्येय वायुभिः कृतानि । उत्कंचुकेषु वक्षःसु स्तनभरे पुलकोद्भेदमापर्याः जन्तनाकम्पयन्तः । पृथुज्ञ्चनतटात् अंशुकानि बह्माणि स्रंतयन्तः निष्कासयन्तः । एवं कि जनानां विटचरितकृतः विटाः भाण्डास्तेषां चरितिमित्र कुर्वन्ति ते शैशिराः शिशिरे भवाः वाताः विद्वन्ति । स्वय्यराहत्तिमदम् ॥ ४९ ॥

भा० टी०--कामी पुरुष भोगकालमें जो आचरण करतेहैं वही शिहि ऋतुका पवनभी करताहै, । स्त्रियोंके केशयुक्त कपोलोंका चुम्बन कर्षे द्वीनकेकारण सीत्कारशब्द कराताहै, कंचुकीरहित स्तनोंको रोगांचित कर्षे जंबाओंको कंपाताह, और पुष्टजबनोंसे बह्नको उहाताहै, इसप्रकार क्षा पुरुषकेसमान आचरणबाला शिशिरऋतुका पवन बहरहाँहै॥ ४९॥

छण्य — चुम्बन करत कपोल सुखिह सीत्कार करावत । संहि धम जात कुचनपर रोम बराबत । जंबनको थहरात व नह दुरकात झुक । लग्यों रहत संगमांहि छारकों रोक ९ दुक । यह शिशिग्यवन विटलपधर गलिन २ अटकत फिरत निकरहे नारि नर घरनमें याकी भट भेरन फिरत ॥ ४९ ॥

केशांनाकरेयन्हेशो मुकुँळयन्यांसो बंळाताक्षिपंताते^र न्रुटकेर्द्रमं प्रकटयँज्ञालिग्ये कर्मपञ्छेनः॥ वारंबीरमुक तिकृतिकृतो दन्तर्च्छदान्पीडँयन्त्रीयः शैशिरं ऐप संप्रीति। हित्कांतासु कांतींयते॥ ५०॥

सं ॰ टी ० — फेशानिति । अथ शैशिरो मरुत् संप्रति इदानीं कान्तामु छीपु प्रायो बाहुत्येन जन्तायते कान्त इव आचरित । तःकथम् । केशनाकछयन् । दशो दर्धाः मुकुछयन् । वासो छं वछादाक्षिपन् निष्कासयन् । पुछकाः रोमाञ्चारतेषामुहममातन्यन् विस्तारयन् । आछिष्यदानः विपं प्रकटयन् । वारम्यारमुदाराणि बहूनि सीत्कृतानि कारयन् । दन्तन्छदान् ओष्ठान् पीदयन् । एवं । प्रमा प्रकटयन् । वारम्यारमुदाराणि बहूनि सीत्कृतानि कारयन् । दन्तन्छदान् ओष्ठान् पीदयन् । एवं । प्रमा प्रक्ति कार्याने । व्यापिणां मनोरथास्त्रथा इति भावः । वयं । तेषां । तिव्यानि झावा त्यक्तव्यानि चेति कारणाहुक्तानि । अधुना पक्षहयनिम्प्पणम् ॥ स्वय्यराष्ट्रसम् ॥ ६०॥

भा० टी०—वालोंको विखरता, आंग्बोंको किञ्चित् १ मृंदता, गार्टाको लिपूर्वेक उडाताहुआ, देहको रोमाञ्चितकरताहुआ, धीरे धीरे आलिह्न करके हम्पन मगटकरताहुआ, और वारम्यार सीसी घटद कराकर शौष्टीको पीडित करता-हुआ ये शिशिरऋहुका पवन मायः स्त्रियोंकेविषय पतिकासा आचरण करतार ॥५०॥

छप्पय—विलुलित करत सुकेश नयनहं छिन २ मृंदत। वसनन ऐंचे लेत देह रोमाश्रन रुंदत। करत हृदयकों कम्प्र कहत मुखहूसो सीसी। पीडा करनिह ओठ वयारह सार नि-रीसी। यह सीतकालमें जानिये अज़ुत गतधारत प्यन। निशि घोस हुरे दुबके रहो निजनारीसंग निजभवन॥ ५०॥

असाराः संन्त्वेते विरतिविरसायासविषयो जुगुप्सं-न्तांयेद्वा नर्नुं सकलदोषास्पदामिति ॥तर्थाप्यन्तस्तेत्वे प्रणिहितधियोंभैं प्यतिर्वेलस्तेदीयोऽनारुयेये स्पुरित हैंद्ये को "ऽपि" महिमी ॥ ५९॥

सं० टी०—श्वमास इति । यद् यसगद् मारणाद् । या दीन विस्ती नेतृ इति वितर्भे । इदं स्थानदोष स्पद् द्वि अगुम्सतः विस्ता सुर्वतः । इते विविधितमान्ति विस्ती वितर्भे विस्ताः विगते स्ती बेश्यः ए...भूतिः विष्याः अगस्य विभाषाः सन् । भूदाः सी प्रतिविधियां वर्षास्तव्यविद्यागि स्टिश्यः स्ता विन्याः श्वयः स्ति सी सी सी कि स्वा स्वा साम्म सार्वेषः गक्षु य श्वथः । ए...भूतः सूरे दे इद्येगस्थर्त्यः विद्याः एकः स्त्रा ५१ ॥ भा० टी०--यह सब भोगविषय असार और वैराग्यमें विरसकति हैं। यदि इन विषयोंको सम्पूर्णदोपोंका घर समझकर कोई मनुष्य इनकी लिय तौभी इनका महिमा अत्यन्त बलवान है, वर्णन नहीं हो सक्ता, क्योंकि विचारमें लीन तत्त्ववेत्ताओं के हृदयमें भी ये प्रकाशित होते हैं।। ५१॥

छप्यय—जदिष भोग निस्सार विरितमें विष्ठ करें निस्ति स्वदोषनकी खान जीवकी साधें अनिहत। करें निस्ति। हीन ज्ञानकूं धोय वहावें। सर्वसदेहि नसाय दुरी जा कहावें। तदिष सकैको वरण भोगकी महिमा भारी। रहें स्टिन करें तिनहू कीरवारी॥ ५१॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितिधयौमात्तगुरैवो दिन्तर्भ वैयमीप कवीनाँमनुचर्राः॥ तथाँ प्येतद्ध्मे नैहि दिली जैपमिधिकं ने चौरिमोर्न्स् संसारे कुवलर्यहरो। रम्येमपरैम्॥

सं टी०—भवन्त इति । भवन्तो यूयं वेदान्ते प्रकर्पण निहिता वुद्धिर्थरतेपारि गुरवश्च । वयं तु विदग्धाः आलापाः शब्दा येपां तथाभूतानां कवीनामनुचराः सेवकास्तर्याः परितात् पुण्यमिकः । एतद्धमा चास्मिन् संसारे कुवलयदद्याः अपरं रम्यं नास्तीति जार्देः शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ५२ ॥

भा० टि०—तुम वेदान्तवेत्ताओं के मान्य गुरु हो, और हमभी क् काव्यरचिता कवियों के दास है, तथापि में यह जानताहूं कि इस संसार्में पकार करनेसे अधिक पुण्य और कुछ नहीं है और कमलनयनीस्त्रियोंसे क सुन्दर दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ५२॥

छप्पय—पढे वेदवेदान्त भये विद्योद्धिपारा। तिनहके क्ष्युर बुद्धवरु पाय अपारा ॥ हम कछु जानत नाहि पढे १ विद्या भारी । रहे कविनके दास कहें ये वात विचारी। जनके दो बात लगीं सबसे अधिकाई । परहित साधन एक दूसरी निकाई ॥ ५३॥

मिहं वहुँभिरुंक्तिर्युक्तिर्यून्येः प्रंठापे**ईयंमिहं पुरुर्वाणां** ोदा सेवनीयंस् ॥ अभिनवमद्छीलालालंसं सुन्द्रीणां निभरपरिखिनैनं योविनं वी वैनं वी ॥ ५३ ॥

सं ० टी०--पुरुषिदंयं सर्वदा सेवनीयभिन्याह । किमिति । इह छोके बहुभिरुक्तेर्वचनैः गयोजनम्। कथंभूतः । युक्तिसून्येः प्रलापैरथीवेरहितः । तर्हि मयोघ्यते तच्छुयताम् । इह ्णां पुरुपेईचं सर्वदा सेवनीयम् । किममिनवाः नूतनाः अपूर्वाः मदस्य छीलास्तामिः लालस गरेण परिखितं सुन्दरीणां योवनं सेवनीयमधत्रा वनं सेवनीयम् ॥ मालिनीवृत्तमिदम् ॥५३॥ भा॰ टी॰-इस संसारमें युक्तिशून्य वृथा प्रलागोंसे; क्या प्रयोजन है,

तो पुरुपोंको दोही वस्तु सर्वदा सेवनेयोग्य हैं, नवीनमदकी छीछाभिछापी कि भारसे खेदयुक्त सुन्द्रीस्त्रियोंका यौवन अथवा वन ॥ ५३ ॥

दोहा--सुनी औरहू वातेष मुख्य वात ये दोय। के तिय जोवनमें रमें के वनवासी होय॥ ५३॥

सित्यं जना वैचिम न पक्षपाँता हो के षु सर्वेषु च तथ्य-

सेतत् ॥ नीन्धेनमनोहीरि नितम्बिनीर्भयो दुःखेकहे-तुर्न च किश्चद्रन्यः ॥ ५४॥

सं टी - भो जनाः । अहं सत्यं विम वदामि न पक्षपातात् सर्वेषु । लोकेषु एतत्त-धार्थ । तत् किं नितंबिनीभ्यः स्त्रीभ्यो मनोहारि मनःस्तुष्टिकरमन्यत् द्वितीयं नास्ति । विष-परमार्थिनां तु स्त्रीभ्यो दुःखैकहेतुः दुखस्य कारणं अन्यनास्ति । इन्द्रवन्नाष्ट्रतमिदम् ॥५४॥ र भा॰ टी॰—हे मनुष्यो! यह हम सत्य कहतेहैं इसमें कुछभी पक्षपात् करते कि इस संसारमें स्त्रियों से वटकर न कोई मनको इरनेवाली वस्तु है न कोई दुःखदाई वस्तु है ॥ ५४ ॥

द्दोहा--तीन लोक तिहुं कालमें महा मनोहर नार। दुखहूकी दाता यही देखों सोच विचार॥ ५४॥ अथ दुर्विरक्तप्रशंसा ।

देवं कृतिनामीप रफुरत्येषं निर्मलविवेकदीपँकः॥ याव-_ल में कुरंगचर्क्षुषां ताड्येते चपठछोचनीं ब्रहेः ॥ ५५॥

सं टी ि —ताबदिति । कृतिनां विवेकिनां अन्तःकरणे एप निर्मेखः कामादिकरते विवेकदीपकस्ताबदेव स्कुरित यावत् कुरङ्गस्येव चक्ष्मं यासां तासां स्त्रीणां चपलानि के नित्राणि तान्येवाञ्चलास्तैने ताड्यते । स्त्रीणां कटाक्षाः विवेकिनामिप विवेकं ध्वंसपितं भावः । रथोद्धतावृत्तमिदम् ॥ ५५ ॥

भा• टी॰--विवेकियोंके हृदयमें यह विवेकरूपी निर्मेल दीपक तक प्रकाशित रहताहै, जब तंकिक मृगनयनीस्त्रियोंके चश्चलनेत्ररूपी नहीं बुझायाजाता॥ ५५॥

देशि --दीपक वरत विवेकको तौलें या चितमांहि। जीलें तार कटाक्षपट पवनसु परसत नांहि॥ प

वर्चंसि भविति संगतैयागमुद्दिश्य वाँर्ता १८ सुर्हे केवंतं पण्डितांनाम् ॥ जधेनमरुणरत्नयि कर्जिक क्रिकं पण्डितांनाम् ॥ जधेनमरुणरत्नयि कर्जिक क्रिकं समर्थः॥ ५६॥

सं टी०—स्नींसंगं त्युक्तं न कोऽपि समर्थ इत्याह । वचसीति । श्रुतिमुखस्पुः वक्तॄणां पण्डितानां संगत्यागमुद्दिस्य वचस्येव केवळं वार्ता भवति नतु त्यागं कुर्वित । कुत्रव्यनयनानां कमण्डनयनानां स्त्रीणां अरुणानां रत्नानां प्रन्थयो यस्यां तस्याः काञ्च्याः यिसन् तत् जवनं विहातुं लक्षतुं कः समर्थः नकोऽपीत्यर्थः। माळिनीवृत्तमिदम् ॥ ५५ ॥

भा० टी०--पण्डितोंकी स्त्रियोंके संग त्यागनेकी बात केवल पात्रही हैं, नहींती लालरत्नजाटित कटिमेखला पहिनेभई स्त्रियोंके जिल्हा स्वागनेमें कीन समर्थ है।। ५६॥

कुण्डित्या—पंडितजन जब कहत हैं तिय तिजैवेकी व करत ष्ट्रथा बक वादबह तजी नेक निहें जात। तजी नेक जात गात छिव कनकबरन वर। कमलपत्रसम नेन बैन व अमृतमर। सोहत मुख मृदु हास अंग आभृपण मण्डित। तियकों तजें कोनसों है वह पण्डित॥ ५६॥ म्यपर्यतारकोऽसँ। निन्दैति यो ऽलीकपण्डितो युवैती

यम्भौत्तर्पसोऽपि पेंहं स्वेर्गस्त्रेर गपि पेंहं तथीं प्सर्सः॥

सं ॰ टी॰—- स्वपरेति । अलीकपण्डिता यो युवतीः निन्दति असौ स्वस्यापि परस्यापि ।तारकः प्रतारणमात्रं अलीकं वृथा करोति । किमिति यस्मात् कारणात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि ज्लमप्सरसः ।। पथ्यावृत्तमिदम् ॥ ९७ ॥

भा० टी०-जो मनुष्य श्चियोंकी निन्दा करताहै वह झूंठा पण्डित है, आपतो ठगाही गया औरोंकोभी ठगाताहै, क्योंकि तपस्याका फल स्वर्ग और वर्गमाप्तिका फल अप्सराओंका भोग है।। ५७॥

दोहा—नारिनकी निन्दा करत ते पण्डित मतिहीन।
स्वर्ग गये तिनकों सुने सदां अप्सरा लीन ॥ ५७ ॥
मत्तेमकुम्भदैलने मुँवि सँन्ति शूरोः केचिरंप्रचण्डमृगरांज
अधेऽपि दक्षाः॥ किं तुं ब्रेंबीमि वलिनीं पुरेतेः प्रसंहैं। कन्द
पेद्पेंदेंलने विरेंला मनुष्याः॥ ५८ ॥

सं० दी० — कन्दर्पदर्पदलेन समर्थाः मनुष्याः विरलाः सन्ति इत्याह । मत्तेति । मत्तो निदान्मत्ते यो इभः हस्ती तस्य कुम्मो गण्डस्थलं तस्य दलने विदारणे भृवि शूराः सन्ति । केचित् प्रचण्डोऽत्यन्तक्रोधनो यो मृगराजः सिंहरतस्य वर्षेऽि हननेऽिप दक्षाः कुशलाः । किन्तु अहं बिलनां शूराणां पुरतोऽप्रे प्रसहा हठात् व्रवीमि कन्दर्पः कामस्तस्य यो दर्पे गर्वस्तस्य दलने वेदारणे शूराः मनुष्याः विरलाः सन्ति । वसन्तितिलकावृत्तामदस्य ॥ ५८ ॥

भा० टी०—मस्तहाथीके मस्तकको विदारनेवाले शूर इस प्रथ्वीपर अनेक हैं, और अचण्डसिंहके मारनेवाले दक्ष योद्धाभी कितनेही हैं, परन्तु में बलवानोंके आगे हठपूर्वक कहताहूं कि कामदेवके मदका नाश करनेवालातों कोई विरलाही मनुष्य होताहै।। ५८।।

छप्पय—हाथी मारन हार होत ऐसेह सूरे । मृगपतिं वध करसके वकें निह नेकह पूरे। वडे २ वलवन्त वीर सब तिनकें आगे। महावली ये काम जाहि देखत सब भागे। अभिमान भरे या सदनकों सान भार मेटें अविधि। नर धरमधुरंधर वीर वे विरले या संसारमिधि॥ ५८॥ सन्मार्गे तावैदोस्ते प्रभवति पुरुषस्तांवदेवे निद्रयाणां है। ताविद्रिधेते विनर्थेमिपे समार्थिम्वते तीवदेवे ॥ भूगार्थे हैं उमुक्ताः अवणपथर्गेता नीलपक्षीण ऐते याविक्षीलि नां ने हिंदे धृतिभुपो हिष्टेबीणाः पैतन्ति ॥ ५९ ॥

तावन्मईत्त्वं पाण्डिंत्यं कुळीनैत्वं विवेकिती॥ यौवज्वर्कति नौंङ्गेर्पुं हंते पञ्चेपुपार्वकः॥ ६१॥

सं ॰ टी ॰—ताबिदिति । यावत् मनुष्यस्याद्वेषु । पञ । द्ययः । यस्य स पदेःपुः । सदनः स पायकोऽप्रिने ज्वछति । ताबदेय महत्त्वं प्रयस्यं, पाण्डिस्यं बृद्धिमना, कुर्छःनस्यं, सदाचाराः, दिवे-ता च तिष्ठति । अनुषुबृद्धत्तिमदम् ॥ ६१ ॥

भा० ठी०—चडाई, तुद्धिमानी, विवेक ऑग कुर्छानन्त्र ये एसुष्यमें नर्भाः र स्थिर रहते हें, जबनककि उसके शरीरमें कामाश्रि नहीं शर्धाय होता ॥ ६१ ॥

दोहा--बुद्धि विवेक कुळीनता तोळोंही यन मांहि। कामवाणकी अग्नि नन इयोंळों समक्य नांहि॥६४॥

स्त्रिज्ञोऽपि प्रथितविनैयोऽप्यात्मयोधोऽपि वाँहं संपार-रेमम् भवैति विरैत्हो भाजिनं महतीवार ॥ विनिधित-रियनगरीदारमुद्धाटर्थन्ती वार्याक्षीणां भैवति कुटित्हक्-त्तिकुष्टिकेवै ॥ ६२ ॥

भा ॰ टी ॰ — शास्त्रोध जानने याते । वस्ति हिस्सावार कोल का प्रश्नाति । यहुन होते हैं, प्रस्तु जनमें से कोई विस्ताधि हम संस्थाने वार्याति नहीं भी होता है। पारण यह है कि यहां इस्ताने वादाति हिन्दे हों जो का करता कानगर्य हारके प्रसीहर्ष कुंकी ने समाय रहेता की । इस न

. **छप्रय—स**प भंधनके हानदान अथ नीतिहान तर । दिन्हें ।क एक होत सुपानास्पर्वे नार्टर | स्टब्हें: देन वहाद चंद रनी पह नारी । जाकी पांकी भेड़ नचन अविदेश सनिदार्वतः यह कूंची करमकपाटकी खोलनकों ऊकत फिरत। जिनके व लगत मन हगनमें ते भवसागरकों तरत॥ ६२॥

कृर्राः कौणः खंजैः श्रवणैरहितः पुच्छविकैछो वैणी पूर् क्रिक्नैः कृमिकुलर्शतैरावृतैतनुः ॥ क्षुधिक्षामो जीर्णः पिर रककपालापितगैलैः शुनीमेन्वेति श्वौ हत्वैमैंपि निह्नैतेषै मर्दैनः ॥ ६३ ॥

सं टी॰—हरा इति । क्रराः क्षाणः, काणः एकनेत्ररहितः, खञ्जः पादेन हीतः ध्रवणरहितः कर्णहीनः, पुच्छेन विकलो रहितः, वर्णा सर्वाङ्गे व्रणा यस्य, पूर्येन हिलः हितः, क्रमीणां कुळं बाहुल्यं तस्य शतराष्ट्रता तनुः यस्य सः, क्षुयया क्षामः क्षीणः, जीर्णः हर्षः पिठरकस्य मृण्मयवटस्य कपाळं कण्ठः सोऽपितो गले येन एताहराः श्वा शुनीमनुपूष्टत एति। भतो मदनः हतमि चादौ शरीरावस्थया मृतप्रायं निहन्ति मारयित । विवेको नास्तीसर्थः। शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ६३॥

भा० टी०—जो दुवला, काना, लंगडा, कनकटा, और दुमकटा की जिसके शरीरमें याव होरहें हैं, जिनमें से राध वह रही है, और सहस्रों की हे किल विला रहें हैं, तथा जो भ्रासे पीडित हैं, और हांडीका मुख जिसके गलें में अटा रहा है, ऐसा कुत्ताभी कुत्तीके पीछे दोडता है। वडे खेदकी वात है कि यह कामहें मरेह ऑकोभी मारता है। इ ॥

छप्य—दुवरों कानो हीन श्रवणविन पृंछ नवांये। बूढौ विकल शरीर वारविन छार लगायें। झरत सीसतें राघ रुधिर कृति हारत डोलत। श्रुधाक्षीण अति दीन गले घट कण्ठक लोलत। यह दशाश्वान पाई तक कृतियनसे उरझत गिरत। देखों अनीति या मदनकी मृतकनकों मारतिकरत॥ ६३॥

सीर्मुंद्रां झपकेतर्नस्य जननीं सर्वार्थसम्पत्केरीं ये' मृहीः प्रविहाय याति कुँधियो मिथ्याफलान्वेपिणीः॥ ते''ते' नियंति

हर्त्यं निर्द्यंतरं नशिकृता मुण्डिताः केचित्रं बिश्विशाखीकृतार्थं निर्देशं कापालिकोंश्वीपरे ॥ ६४॥

सं० टी०—खीति। राही मुद्रया सर्व कार्य भवति। स्रतो झरेकतनस्य मदनस्य हो । प्रवा भवति। स्रतया सर्व भवति। स्रतस्तां स्त्रीमुद्रां विद्याय स्यक्त्वा ये मृद्राः कृष्टितः कृत्तित्रबृद्धः । गिनि भिष्याफलानि स्वर्गादिकानि अप्रस्तक्षाणि तानि अन्वेप्रयति तन्छीत्य भवित च ते मृद्राः। प्रश्मितां स्त्रीमृतां स्त्रीमुद्रां। मदनस्य जननीमुत्याद्यित्रीं सर्वार्थनां सर्पादनं करोतीति तथाभृतां। यस्याः श्रीना मुद्रा तस्य सर्वाः सम्पद्रो भवित्। यो मुद्राया छहुंचनं करोति तथ्य राजा दण्डकरो भवित गर्याते वार्याते च। अते। मदनेन ते मृद्रास्तिनैव कर्मणा निर्वयतरं च्याम्यात्तथा निर्द्य नर्ष्टकरो म्वति गर्याते च। अते। मदनेन ते मृद्रास्तिनैव कर्मणा निर्वयतरं च्याम्यात्तथा निर्द्य नर्ष्टकरः मृण्डिताध । केचित् प्रश्नादिकाः । केचित् जटा थेपामस्तिति जटिन्छः । केचित् प्रयादिकाः पात्रं करे भूत्वा मिक्षाटनं कारिताः । राजाप्यनयकारिणभविषय दण्डवर्तन्तर्थः । राव्वितिकिति इत्तिमिदम् ॥ ६४॥

भा॰ टी॰—यह स्त्रियां सम्पूर्ण अधीयो देनवाटी वामदेवकी मुद्रा हैं, जो मृद्ध सुबुद्धि मनुष्य इनको त्यागकर स्वगीदिककी इच्छास दिस्ता हो हाती छन्को विरक्त मत समझो किन्तु उनको पामदेवने वटी निद्यंताकेमाथ दृष्यदि पाई अधीत किसीको नंगा किया, किसीका सिर मुंडवाया, किसीके पांच चौटी रखवाई, किसीको जटाधारी किया, और किसीके गायमें टीकटा देवर भीक भंगवाई ॥ ६४॥

कुण्डालिया—कामिनि मुद्रा कामकी सकलअर्थकों देन।
मूरख याकों तजत हैं झूंठे पालके हेत। झूंठे पालके हेन नजत तिनहींकों डांडे। गहि गहि मूंडे मूंड वसनविन कर र लांडे।
भगवा करि करि वेप जटिल वहें जागत जामिनि। भीख मांगके खात कहत हम छोडी कामिनि॥ ६४॥

विश्वामित्रपराशरत्रभृतैयो वाताम्बुपर्णाशनांस्ते ऽपि र्ह्यासुन् खपंकंजं सुटेलितं टॅप्ट्रैवं सोहं गर्ताः ॥ शाल्पेतं सद्वृतं पयोद्धिर्युतं सुर्वजनित ये मानवास्तेषां सिद्धिनियहो यदि भेवी दिध्यस्तिरेत्सा गरं॥ ६५॥ सं टी०—इन्द्रियनिग्रहोऽतिकाठिन इति विस्वामित्रादिदृष्टान्तेन वर्णयिति । इतं वायुं च अम्बु उदकं च शुष्कपणीनि च अक्षन्ति भक्षयिन्ति ते वाताम्बुपणीदानाः । एतं विस्वामित्रपराशरप्रभृतयः तेऽपि सुङ्खितं अतिसुन्दरं स्त्रीमुखपङ्ग्नं दृष्ट्रेव दर्शनमात्रेणव हेतं गताः प्राप्ताः । किमुत यतः शाल्यनं तंडुङोदनं तदपि सवृतं पुनः पयोद्धियुतं ये कल् मनुष्या भुञ्जन्ति तेपामिन्द्रियनिग्रहः कथं भवेत् । अत्र दृष्टान्तः । यदि विद्यादिः सागरं तेतं तदाऽपूर्वोऽयमिन्द्रियानिग्रहः स्यात् । शार्दूङविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ६५ ॥

भा० टी०—जब विक्वामित्र पराशर इत्यादि वडे २ ऋपिभी जो बाहु जल और पत्ते स्वाकर रहतेथे, खीके मुसकमलको देखतेही मोहितहोगये, के फिर जो मनुष्य घी दूध दहींसहित उत्तम अन्न खातेहैं उनकी इन्द्रियां के वश होसक्तीहैं, यदि उन की इन्द्रियों वशमें होजांय तो विध्याचल पर्वत समुद्रिय पर तरनेलगे, इन्द्रियोंका वशमें करना वडा कटिन कार्य है यह भावार्य है ॥६५॥

छप्य—कौशिकादि मुनि भये वातपयपर्णाहारी । तेह तिय मुखकमल देख सव वुद्ध विसारी । दिध घृत ओदन दूध मधुर पकवान मलाई। नितप्रति सेवन करें रहें सुखमोद वढाई। ते निहं वस करसकें मनिह नर भोगी ऐसें। जल ऊपर परवात कठिन तरिवा है जैसें॥ ६५॥

इति दुर्विरक्तप्रशंसा समाप्ता।

संसीरेऽस्मिन्नसीरे कुन्पतिमुवनहारसेवावलम्बव्यासंगव्यः रेतिधेर्य कैथममलैधियो मानसि संविद्ध्यः ॥ येद्येतौ प्रोः चिद्दिदुद्यतिनिचयमृतो न स्युरम्भोजनेत्रौः प्रेंखत्कांची कलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभागीस्तरुण्यः ॥ ६६ ॥

सं० टी०—संसार इति। प्रकर्षेणोद्यादिन्दोर्युतीनां तेजसां निचयं समुदायं विश्वति ताः। प्रेयन् शब्दायमानः काञ्चीकछापो यासां ताः। स्तनानां भरेण विनमन् विनम्नः मन्यभागो यासां ताः। प्रेयमृता एता अम्भोजनेत्राः कमछनयनाः तरुण्य ख्रियोः यदि न स्युः न आसन् । तर्हि अम्छ धीर्येपां तथामृता मानवा अस्मिन् असारे संसारे कुनुपतयः कुत्सिताः नृपतयस्तेपां भवनद्वाराणां सेवावद्यस्वने व्यासंगस्तेन व्यस्तं नष्टप्रायं श्रेयं यस्य तत् एवंभृतं मानसं मनः कयं विद्द्युः कुर्युः।

एतस्य भावः यदि स्त्रियो न आसन् तदा चुहिमन्तः सेवां न कुर्युः । स्त्रीनिर्मित्तं राजसेवां कुर्म इति ज्यासद्वेन मनध्यत्रसम्पर्धे भवतीति । स्रम्थराष्ट्रत्तमिदम् ॥ ६६ ॥

भा० टी०—हित चन्द्रमाकीसी कान्ति धारणकरनेवाली, शब्दायमान फिटमेखलाधारिणी, बार स्तनोंके भारसे जिनकी कमर झुकगईहै ऐसी कमलनयनी युवती स्त्री यदि न होतीं तो इस असार संसारमें निर्मलबुद्धिवाले मनुष्य दुष्टराजाओंके हारोंकी सेवामें नानाप्रकारके कलंकोंसे चित्तको अधीर क्यों करते। अर्थात् यदि यह स्त्रियां न होती तो पण्डितजन राजहारकी सेवा कभी न करते यह भावार्थ है ॥ ६६ ॥

छप्टय—तो असार संसार जान सन्तोष न तजते। भीर भारके भरे भूपकों भूल न भजते। वृद्धिविवेक निधान मान अपने निह देते। हुकम विरानौ राख दुःखसम्पट् निहं लेते। जो यह निहं होती शाशिमुखी मृगनैनी के हरिकटी। छवि जटी छट निकसी छटी रस लपटी छूटी लटी॥ ६६॥

सिद्धाध्यासितकन्द्ररे हरवृषस्कन्धावगार्द्धमे गङ्गाधौतिशे-लातिले हिमवर्तः स्थानि स्थिते श्रेयिस॥कैं: कुवीर्ति शिरैं: प्रणा-मैमलिनं म्लीनं मनस्वीजैनो यीद्वित्रस्तकुरंगशावनयनौ ने स्युः स्मराँखं ख्रियैः॥ ६७॥

सं टी - सिद्धेति । यदि स्मराखं खियो नस्यः नासन् तदा हिमवतो हिमालयस्य स्थाने स्थिता कामेन कः मनस्वीजनः शिरः प्रणाममिलनं म्लानं कुर्वित । कथंभूता लियः । विवस्ता भयचिकता ये कुरङ्गशावास्तेषां नयनानिव नयनानि यासां ताः । कथंभूते हिमवतःस्थाने । सिद्धेरच्यासिता अधिष्टिताः कन्दरा यस्य तस्मिन् । हरवृपो नन्दी तेन स्कन्धेन अवगाढा अव• रुद्धा हुमा यस्मिन् । पुनः गंगाधौतानि शिलातलानि यस्मिन् । श्रेयसि पुण्यरूपे । अयं भावः । प्रशस्तं शुद्धं मनो यस्य स मनस्वीजनः यस्य मनः शुद्धं तस्य तत्साधने अनपेक्षा । यदा मिलनं मनस्तदा मनसः शुद्धर्थं सायनान्तराणि कर्तव्यानि । सम्प्रति मनो मिलनं स्त्रीभिरेव क्रियते । अतः स्त्रीणां प्रभावा एव यदि उत्पन्ना नस्युस्तदा मनोऽपि मिलनं नैव भवेत्। तदा मनस्वीजनो हिमवतः स्थाने गत्वा शिरः प्रणामेन मिलनं अतएव म्लानं किमधे कारिष्यति । मिलनतायाः कारणं स्त्री एव । स्वी मदनस्य अस्त्रं यस्याङ्गं सगच्छति स मिल्छते। भवति । शार्दूछविक्रोडितं वृत्तिमदन् ॥ ६७ ॥

भा० टी०—यदि भयगून्य, मृगनयनी, कामके असम्हप, यह सियां होतीं तौ कौन मनस्वी पुरुष सिद्धगण जिसकी कन्दरामें वैटेहें, करेपकी वृपभ जहां वृक्षोंसे कंथा रगडताहै, और जहांके पापाण गंगाजलसे वोयेजाक ऐसे पुण्यधाम हिमालयपर्वतको त्यागकर औरोंके सन्मुख मस्तक झुका का मानको मिलनकरता ॥ ६७॥

कुण्डिलिया—अभय हरिणशावकनयन कामवाणसमनार। वे घरमें होती नहीं तौ सहजिहें होतौ पार। सहजिहें होतौ पार गिरिगुहा सिद्धवन। जहां तरुनसों अंग खुजात फिरें हरवाहन। स्वच्छ फिटक हिमशैल नीच जहां वहें गंगपय। निशिक्षि हरि धर ध्यान चित्तकूं राखिह निर्भय॥ ६७॥

संसौर तंव निस्तारपंदवी ने द्वीयंसी॥

अन्तरा दुस्तरा नँ स्युर्यदि रे मिद्रिसेपाः ॥ ६८॥

सं॰ टें(॰—संसारेति । रे इति नीचसम्बेधिने ! रे संसार ! यदि अन्तरा तन्त्रे मदिरेक्षणाः स्त्रियो दुस्तरा नस्युस्तदा तव निस्तारपदवी स्थितिः न दवीयसी अतिदीधी नैव । अनुष्टुवदृत्तमिदम् ॥ ६८ ॥

भा॰ टी॰—रे संसार ! यदि सुन्दरनेत्रवाली दुस्तरा स्त्रियां तेरे वीर्ष न होती, तौ तुझसे पार हौना कुछ कठीन नाहिया ॥ ६८ ॥

सोरठा--जो निह होती नार तौ तरिवौ जगमें सुगम। यह छांवी तरवार मार छेत अधवीचही॥ ६८॥

इति स्त्रीपरिस्यागप्रकरणम्ै।

रोजन्तृष्णांवुरौद्दोनीहिँ जगैति गर्तः कॅश्रिवेवांवसाँनं को विधिने देश देवांवसाँनं को विधिने देश देवांवसाँनं को विधिने देश देवांवसाँनं को विधिने देश देवांवसाँने स्वति स

सं॰ टी॰--राजिति । भो राजन्! इह जगति संसारे कश्चिद्रिय तृष्णाम्नु राहोस्तृष्णा -समुद्रस्यावसने पारं निह गतः । स्ववपुपि स्वहारीरे सानुरागे अतिप्रिये योवने गिटते सित प्रभूतै: पुष्किटेरथें: द्रव्ये: कोवार्थः प्रयोजनम् । तावत् विकासितानि नयनान्येव इन्दीवराणि कमटानि तैराठोकितुं द्रष्टुं शीळं यासां तासां प्रेयसीनां प्रियाणां सद्यगृहं प्रति गच्छामः । यावत् ज्रया वृद्धाः वस्थया तासां रूपं सीदर्थमाकम्य झिटति शीव्र न लुप्यते । स्वय्वरावृत्तिमदम् ॥ ६९ ॥

भा० टी०—हेराजन्! इस तृष्णारूपी तमुद्रके पार कोई नहींगया, और जब हमारी अनुरागभरी युवावस्था देहमेंही नष्टहोगई तब अधिकद्रव्योपार्जन करनेसे हमको क्या प्रयोजन है। इम उससे पहिलेही प्रफुल्लिकमलसमान नेत्रींवाली स्त्रियोंके घर जातेहैं, जबतककि दृद्धावस्था उनके रूपको जल्दीसे न विगाडे ॥६९॥

कुण्डिखि — राजन् ! तृष्णासिन्धुके पार न कोई जाय। कहा अर्थसंचय किये कालसर्प वय खाय। कालसर्प वय खाय नेह अरु प्रेम नसावै। कहा होय घर गये तवै कछु हाथ न आवे॥ तासौं तवलों वेगं भाग चिलये घरहारै। कमलनयन तियरूप जरा जवलों न विगारे॥ ६९॥

रागंस्यागौरमेकं नरकज्ञतमहादुःखसंप्राप्तिहेर्तुमीहरूयोत्प-तिवीजं जलधरपर्टलं ज्ञानताराधिपर्यं ॥ कन्द्रेपरयेकं-मित्रं प्रकटितविविधरपष्टदोषप्रवर्नधं लोके ऽस्मिन्त्यर्नधं निजकुलंदहनं योर्वनादन्यदस्ति ॥ ७० ॥

सं टी॰—याँवनं हि सर्वानर्थानां मूळिमित्याह । अस्मिन् होके योवनात्तारूण्यात् हि-गीयमनर्थमनर्थकरं नास्ति । कथंभृतं योवनं । रागस्य हृन्द्याया एकमागारं गृहं । नरकाण्या हातानि तेषु महादुःखानि तेषां सम्प्राप्तिरतस्या हेतुः कारणं । मोहस्योत्पित्तिरतस्या बीजम् । हान् इक्षणस्य ताराधिपस्य चन्द्रस्य जळधरपटळं मेघपटळमान्द्यादक्तम् । कन्द्रपे गदनक्तस्य एकं मेत्रं । प्रकटिताः विविधा नानाप्रकाराः स्पष्टा दोषारतेषां प्रवन्धो रक्तना येन । निजं स्वकीयं हाळं तस्य दहनं दाहपाम् । एवं योवनं निय्यतिति भावः ॥ स्वम्धराह्न्विस्यम् ॥ ७० ॥

भा० टी०—अनुरागका एक मात्र गृह, रेकटो नरकोंके हु:ख मामहोने-हा हेतु. मोहकी उत्पत्तिका यीज, ज्ञानस्परी पन्डमाके इक्केको सेघस्पप, कामदेवका एक मात्र त्रियमित्र, नानानकारके दोषोंको प्रकटकरेनेवाला, और अपने कुलको स्थकरनेवाला जो गोवन है इससे बटकर संसारमें कोई दूसरा अनर्थ नहीं है ॥७०० छप्पय—इन्द्रिनको हित धास कासको सित्र सहावर । नरक दुःखको हेतु सोहको वीज सनोहर । ज्ञानसुधाकर सीसं सजह सॉवनको वादर । नानाविधि वकवाद करनकों वडो वहादुर। सबिह अघको है सूळ यह यौवन अञ्चतिहको कवच । याविना औरको करसके सुन्दर सुखपर इयासकच ॥ ७० ॥

गृंगारहुमेनीरदे प्रचुरते की डारसको तासि प्रद्युम्पप्रियवार्ये वे चतुरतामुक्ताफलोद् विति ॥ तन्वीने प्रचुम्पप्रियवार्ये सीभाग्यल भीति थी धन्यै को ऽपि नै विकिथा कैलयि प्रांति ने वे वेविने ॥ ७१ ॥

सं० टी०—याँवनं प्राप्य ये। विकारं न बजित स एव धन्य इसाह । शुङ्गोरित । नी नृतेन याँवने तार्येष प्राप्त सांत ये। विकियां विकारं न कलयित न करोति स धन्यः । कथेमूर्वे दीवने । शृंगारा एव हमा वृक्षास्त्रयां नीरं ददातीति नीरदो मेवस्तिसम् । यथा जलप्राप्ती वृक्षाः दोभन्ते । प्रचुरतो बाहुदेधन क्रीडानां रसस्तेषां स्रोतिसि । प्रमुणे मदनस्तन्य प्रियवान्यवे बन्धे । चतुरतालक्षणानि मुक्ताकलानि तेषामदन्यति समुद्रे । तन्त्री सुन्द्री नम्या नेत्रे तै। एव चक्रीसे तथाः पारण तस्य विधी चन्द्रे । सीभाग्यलक्ष्मीनिधी स्थापनामित्रे । हार्युक्तिकि दिनं वृत्तिहरूम ॥ १९ ॥

भाव देवि—जूहारजारीहर्षीका भीचनेवाला मेघ, विस्तरित कीदारसका प्रवाद, कार्यदेववा विश्ववस्थ, चतुरतार्राधिविषीका समुद्र, स्त्रियोंके नेत्रस्थी चक्रीरको पूर्वचन्द्र, और सीक्षायलक्ष्मीका भवार, जो सह नवसीवन है साक्षी पारस को पुराप विकासको नहीं कार्यक्षीक दही धन्मीह ॥ ७१ ॥

ह्यस्य-पह डोवन घनराय सदां सींचत शृंगारतर। कीडी रहको सीत चतुरवारक देव कर। नारीनयनचकोर चोषको चन्द विराहत। कुलुनाहुको वन्धु सिन्धु शोभाको श्राजत। रेको यह योदन पायको है नहि धरन विकार मन। ते भरम धरंबर बीरकाणि श्राकितिको एननान॥ ७१॥

ता इति योजन-योक्षामकर्णम् ॥

अथ कामिनीगईणप्रज्ञंसा ॥

कान्तेत्युत्पर्हलोचनेति विपुर्लश्रोणिभरेत्युत्सुर्कः पीनोत्तुंगर्पयोधरेति सुमुख्यिसोजेति सुर्भूरिति ॥ दृष्ट्वां माद्येति
मोद्देतेऽभिर्मेते प्रदेतोति जानन्तिप प्रत्यक्षाशुचिपुत्तिका
स्त्रियमहो मोहरूवें दुंश्येष्टितं ॥ ७२ ॥

सं ॰ टी ० — विद्वानि क्षियं दृष्य मोहं प्राप्तोतीत्याह । पुरुपः खियं प्रत्यक्षमशुचीनां पुत्तिकां जाननि उत्सुको विमर्यादो भवति, मोदते च हर्ष प्राप्तोति, अत्यतिशयेन रमते रमणं करोति चेति स्तौति । इतीनि कथं । तस्या अभिधानं गृहाति सा कान्ता सुन्दरी उत्पठ्छोचना कमछ्छोचना । विपुछो विस्तृतः श्रोणीभरः कटिप्रदेशो वस्याः सा तथाभूता । पीनौ मांसछौ उत्तुक्षी कच्यों पयोधरी स्तनौ वस्याः सा । सुष्ठु मुखाम्भोजं यस्याः सा । शोभनौ भुवौ यस्याः सा । एवमभिधानीन गृहीत्वा स्तौति माद्यति च । अहो इति आश्चर्यमिदं । मोहस्य -दुश्चेष्टितं दुर्व्यापारोऽस्ति । शार्द्छिविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ ९२ ॥

भा० टी॰—विद्वान्यजुष्यभी प्रत्यक्षही अपवित्रताकी पुतलीरूपी स्त्रीको देख उत्कण्टित होकर "यह द्धी कैसी सुन्दर है, यह कमलनयनी है, इसके नितम्ब बहुत वहें हैं, इसके स्तन वहे स्यूल और दल हैं, इसका मुस्तकमल बहुत सुन्दर, इसकी भैंद अच्छी हैं "ऐसा कहकर मोहित होजाताहै, हर्पको माप्त होताहै, रमण करताहै, और उनकी स्तुति करताहै। देखो ! यह मोहकी कैसी बुरी चेष्टा है॥ ७२॥

कुण्डिटिया—कान्ता उत्पर्छ लोचना प्रिया कृशोदिर वाल । घटस्तनी पंकजमुखी कामिनि अधर प्रवाल । कामिनि अधर प्रवाल सुश्रु किह किहिके वोलें । आनंद अधिक उछाह मत्तवन पण्डित डोलें । अशुचपूतरी नारि ताहि सन जाने शान्ता । महानरककी खान सोहवस सानै कान्ता ॥ ७२ ॥

रमृंता भैवति तापाँय हप्टाँ चोन्मार्ट्विती॥ स्पृष्टा भैवति कोर्हाय सी नार्ने द्यिती कथेम् ॥७३॥ सं° टी॰—समृतिति या स्त्री समृता सती तापाय भवति समरणमात्रेण तापं करोति। तथाच दृष्टा उन्मादवर्द्धनं करोति तच्छीला एवंविधा भवति दर्शनमात्रेण उन्मादं वर्धयित। तथ स्पृष्टा सती मोहाय भवति स्पर्शमात्रेण मोहमुत्पादयित। सा दियता प्रिया कथं नामिति सम्भावना। अनुष्टुवृक्तमिदम् ॥ ७३॥

भा॰ टी॰—जो स्मरणमात्रसे सन्ताप करतीहै, देखतेही जन्मादको वहाती है, और स्पर्श करतेही मोह उत्पन्नकरनीहै, ऐसी स्त्रीको प्रिया कैसे कह सक्ते हैं॥७३॥

दोहा--सुधि आये सुधि वुधि हरत दरसत करत अचेत। परसत मन मोहित करत यह प्यारी किंहि हेत॥७३॥

तौवदेवामृतमयी योवङ्घोचनगोचेरा ॥ चक्षःपंथादपगता विषाद्यंतिरिच्यंते ॥ ७४॥

सं वि ---ताबिदिति । यावत् सी छोचनगोचरा नेत्रप्रत्यक्षभूता ताबदेव अमृतम्यं समृतप्रचुरा भवति । चक्षुःपथात् नेत्रमार्गात् अपगता दृरीभृता सती विपादितिरिच्यते अधिका भवति । अनुष्टुबृहत्तिमिदम् ॥ ७४ ॥

भा॰ टी॰—जवतक स्त्री नेत्रोंकेसन्मुख रहतीहै तभीतक वह अमृत मयी है, नेत्रोंके सामनेसे हटनेही वह विषसेभी अधिक होजातीहै।। ७४॥

दोहा—जोंछों नसिनयन हिंग तों तों अमृत वेल ॥

दूरभये ते जहरसम लगत विरहकी सेल ॥ ७४ ॥ नामृतं न विपं किंचिँदेकां सुक्त्या निताम्बनीम् ॥

ैंसेवामृतिर्हता रक्ता विरक्ती विषवर्हिशी ॥ ७५ ॥

मंद ही देन-सेति । एकां नियस्थिती कामिमी गुण्या त्यक्या किविद्यों अमृतं नामि । इसकि दिवं सन्ति । कित्यु सेव को स्था अनुसराकी सती अमृत्यता अमृत्यद्धी म^{मी} सदाब किसा अस्त्युक्त सरी विवस्ता विवस्ता सर्वति । प्रेनिक द्वाविद्य ॥ ७९ ॥ .

भा र दें। च रहीते अतिरिक्त इस ग्रेमार्ग्ने में कोई अपूर्व है और न की दिए हैं। प्रारंगीत की की मीति की प्रारंगीत की की मीति की प्रारंगीत के हैं। की प्रारंगीत की की दें। अपूर्व के हैं। इस प्रारंगीत की दें की दें। अप ॥

देहा-नहि विष नहि अपन कहं एक निया तृ जान। निछंबेने अपन नदी विछुर विषकी खान ७५॥ आर्वेर्तः संश्यानामविनयभैवनं पर्त्तनं साहसाँनां दोवार्णां सान्तिधाँनं कपटशतर्मयं क्षेत्रें मप्रत्ययानाम् ॥ स्वर्गहारस्यं विद्वो नरकपुरमुँखं सर्वमायार्करण्डं स्त्रीयंन्त्रं केनं
सुष्टं विधेममृतर्भयं प्राणिनां मोहपींशः॥ ७६॥

सं० टी०—आवर्त इति । लोके यंत्राणि सन्ति तैर्मारणोचाटनवशीकरणादिकियाः केयन्ते । अतः स्त्रीयंत्रं केन सृष्टं निर्मितं । कथंभूतं स्त्रीयंत्रं । संशयानामावर्तः श्रमरः नल्श्रमणवदिवरतसंशयजनकामित्यर्थः । पुनः अविनयभवनं । साहसानां पत्तनं नगरम् । रोपाणां सित्रधानं सर्वे दोपास्तत्सिन्धाने भवन्ति । कपटशतमयं कपटशतप्रचुरमित्यर्थः । अप्रस्ययानामविश्वासानां क्षेत्रमुत्पत्तिस्थानम् । स्वर्गद्वारस्य विग्नोऽन्तरायभूतं । नरकपुरस्य मुखं द्वारम् । व्वीसां मायानामलीकानां करण्डं स्थापनपात्रम् । विपन् । प्रचुरममृतं यस्मिन् तदमृत्तमयं । पुनः । । पश्चिम्तं प्राणिनां मोहपाशः ॥ पश्चायन्मोहेन वन्धकमित्यर्थः । स्वग्धरावृत्तिमदम् ॥ ७६ ॥

भा० टी०—सन्देहोंका भंवर, अविनयका घर, साहसका नगर, होपोंका पात्र, सेंकडोप्रकारके कपटोंसे भराहुआ, अविश्वासकी भूमि, स्वर्गद्वा का विश्वकारक, नरकनगरका द्वार, सम्पूर्णमायाओंका पिटारा, विपरूप, अमृतमय, और मनुष्योंको मोहके फन्देयें फसानेवाला यह स्त्रीरूप यंत्र किसने निर्माण किया है ॥ १६ ॥

छप्पय—परम भरमको भौर, भवन है गूढ गरवको। अनु-चित कृतकों सिंधु कोष है दोष अरवको। प्रगट कपटको कोट खेत अप्रतीति करनको। सुरपुरको वटमार नरकपुरद्वार करनको। यह युवतियंत्र कोने रच्यो महा अमृत विपसों भर्यो। थिरचर नर किन्नर सुर असुर सवके गळ वंधन कर्यो॥ ७६॥

सत्यत्वे नं शर्रांक एषं वदनीभूँतो नेवेन्दीवरहन्हं लोचर्नतां भैतं ने कर्नकैरध्येंगयेष्टिः कृतीं ॥ किन्त्वेवं केंविभिः प्रतारितेंमनस्तत्वें विजीनक्षेपि त्वङ्मांसास्थि-भैयं वैपुर्मृगहर्रेां भेंदो जनें सेवेंते॥ ७७॥ सं० टी०—सत्येति । एपः शशांकश्चन्द्रः सत्यत्वे याथार्व्यंन विचारिते वर्दन्ते नैव । नच इन्दीवरहन्द्रं नीलोत्पलयुग्मं सत्यत्वेन लोचनतां गतं । कनकः सुवर्णरिष सत्यत्वे व यष्टिनं कृता । किन्तु एवमुक्तप्रकारेण कविभिः लपमा दत्ताऽतः प्रतारितं मनो यस्य तथाभृतेन्त्रे जनस्तत्वं जानन्त्रिष मृगहशांत्मङ्मांसास्थिप्रचुरं वपुः शरीरं सेवते । शार्दृलविक्रीडितं वृत्तिमदन् ॥ अ

भा । टी ॰ -- सच पूंछो तौ न चन्द्रमा स्त्रीका मुख है, न कमलही दोरें नेत्र हैं, और न सुवर्णसेही उसका देह बनाहै, परन्तु कवियोंद्वारा वहकाणी अंध अर्थात् विवेकरहित मनुष्य इस वातको जानतेहुएभी कमलनपर्द स्त्रियोंके चर्म, अस्थि और मांसमय शरीरका सेवन करतेहैं॥ ७७॥

कुण्डिं । अंग कनकसम है नहीं कोकिलसम नहि बैन ॥ कोकि सम नहिं बेन झूंठ कि उपमा दीनि । जानत हैं सब भेद त जपट आंखिन कीनी । हाड चाममय नार मन्दमति निसदिन ते वहिं । करें उपाय अनेक ग्लानि चित नेकन आनहिं ॥ ७७ ॥

छीळांवतीनां सहजा विळासारतॅएवं मृहर्स्य ही रफुर्रन्ति ॥ रीगो निळन्यां हिं निसर्गसिद्धेरतेत्र अमिले मुंघा पेंडांत्रि:॥ ७८॥

मे॰ टी॰—खीणां महत्रविद्यासान् हृष्ट्या मृहपुरुषा मोहिता भगशीत भगीत हृष्ट्या स्ट प्रस्ति । छोडावतीनां छोणां विद्यासा हावभाषाः महत्राः स्थमावेष्पद्याः ने विद्यासा मृहस्य उपय एवं हृदि चेत्रति स्पृत्यति प्रकाशन्ते । अत्र हृष्टानाः । दिस्समाप् गीर्ष्यं स्तावेश स्वत्योति । स्त्र हृष्टानाः । दिस्समाप् गीर्ष्यं स्त्र स्त्र हृष्टि वित्र विद्यासायः । दिस्समाप् गीर्ष्यं स्त्र विद्यासायः । दिस्समाप्तिः स्त्र विद्यासायः । दिस्समाप्तिः स्त्र विद्यासायः । दिस्समाप्तिः स्त्र विद्यासायः । विद्यासायः ।

भा व दीए—वीकावर्गास्त्रयोदे जो दिलाय है वे स्थापायिक है, वे पूर्व महत्त्रवे हरामेंद्री पदार्थित होतेंद्र अभीत मृतिही उनकी देशावर मृत्य होतातेंद्री देखें। कार्यवर्गेने कराई स्थापायिकहींद्रे अगत अभा स्थापा व्यविधी आगत होता देखें। कार्यवर्गेने अपने देखें कार्यवर्गेने अपने प्रदेश वह यह समाजाती कि हमती देश यह लागी दे में द्। । -- कामिनी कसकत सहजरें मृरख मानत प्यार । सहज सुगांधित कुमुदिनी भौरा श्रमत गंवार ॥ ७८ ॥

यंद्रेतंत्पृणेन्दुं युतिहरमुदारीकृति वंरं मुखाँवजं तंन्वंग्याः केले यर्रीत तर्वाधरमधु॥ ईदं तीवत्पाकहुमफेलिमिवातीवे येरेंसं व्यंतीतेऽस्मिन्कीले विपेमिवे भविष्यत्यसुखेदम्७९॥

सं त ट्री त—नारवंग्या अमृतमयं मुखाव्जं परिणामे विपामिय भवतीति पक्षफल-१९११-तेनात । यथित । यत् यस्मात् चारणात् पृर्णेन्दुस्तस्य द्युतिस्तेजस्तां हरतीति उदारा स्वस्य वाद्यनिर्धरय तत् यरं श्रेष्ठं एवं तन्यद्वयाः स्वशाद्वया मुखाव्जं मुखकमलम् । तत्र अधरमधुः स्वर्मानि थितः श्रृवते । सर्वि इदं सायत् पाक्षद्वमस्य महाकाल्द्वमस्य फलं असिन् काले यौवनेऽतीते श्रीवश्रमिते सनि असीय थिरसं विविधवासुखदं भविष्यति । यथा पाक्षद्वमस्य फलं पक्त्वा कालेप-थितं स्वत् रसदत् । नो चेत् तत्कालातिज्ञमेण तत्र नहयति विपामिय भवति तरुण्या मुखमपि वीदेव भवतीत्वर्यः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ७९ ॥

भा० टी०—-पृणिमावे चन्द्रकी छावेको इरनेवाला सन्दर आकारवान् और श्रेष्ठ जो यह स्थिपोका मुखकमल है इसमें अधरामृत रहताहै, यह मुख मन्दारके फलकेसहब अज्ञात वा युवावस्थामेंही अच्छालगताहै, किन्तु वह बाल व्यक्तिकेतिपर अधीत् ज्ञान अथवा वृद्धावस्था माप्तहोनेपर विपकेसमान दुःखदाई होजाताहै॥ ७९॥

दोहा--अधर मधुर मधु साँहेत मुख हुतो सवन सिर मौर। सो अव विगरे फलनसम भयो औरसों और ॥७९॥

उन्मीलित्रवलीतरंगिनलैया प्रोत्तंगपीनस्तनद्वैनोच-तचक्रवाकिमिथुना वक्त्राम्बुजोद्गासिनी॥ कान्ताकारधरा नंदीर्यमिताः कूरादाँया ने देवैते संसाराणविमेजनं थेदि र्तितो दुरेण संत्यर्ज्यताम्॥ ८०॥

सं ॰ टी॰—उन्मीटदिति।कान्तः नाम नदी कृत्वा उभयोः सादश्यं वर्ण्यते। उन्मीटन्स्रो याम्ब्रियत्यस्ता एव तरङ्गास्तेषां निट्यं स्थानं यस्यां सा । प्रक्रपेण उत्तुङ्गं उन्नं पीनं मास्टं स्तनद्वयं कुचद्वयं तेन उद्यतं चक्रवाकि भिथुनं यस्यां सा कुचद्वयमेव चक्रवाकि मिथुनि मित्यर्थः। ते अम्बुजं कमछं तेने द्विता शोभायमाना। एवं भूता कान्ताकारधरा नदी इत्यमितः त्रिकृतः आश्रयोऽभिप्रायो यस्याः सा। नदीपक्षे आश्रयः आवर्त्तः। हे जनाः। यदि भवतां विकान मेजनं नेष्यते इच्छा नास्ति तार्हे भवदिर्धे दूरेण सन्त्यज्यताम्। शार्द्वश्विकी डितं वृत्ति मदस्य

भा० टी०—शोभित उदरकी त्रिवछीही तरङ्गोंका समूह है, उन्हें पुष्ट दोनों स्तनही चक्रवाकके जोड़े हैं, और मुखरूपी कमलसे शोभायमान है। जो यह स्त्रीरूपी नदी है सो चारों औरसे क्रुराशय (नदीपक्षमें कच्छप युक्त और स्त्रीपक्षमें कितनाशय) है, इसमें यदि मम्र होना नहीं चाहते। दे मनुप्यो ? इसको दूरसेही त्याग दो ॥ ८०॥

छप्यय—त्रिवली तरल तरंग लसत कुच चक्रवाकता प्रफुलित आनन कंज नार यह नदी मनोरम । कि प्राल चलत भवसागर सन्मुख । हाथ धरतही ऐंच जात कों अपनी रुख । संसारिसंधु चाहत तस्यों तो तू यासों दूर जाकों प्रवाह अतिही प्रवल नैक नहातही जात वह ॥ ८०

जल्पैन्ति सौर्ह्सन्येनं पर्ह्यन्त्यन्यं सविभ्रमाँः॥ इद्ये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः कोनाम योपिताम्॥८१

सं शि॰—योपितां प्रियः कोऽपि नास्तित्याह् । जल्पन्तीति । स्त्रियः अन्येन १ सर्दे साकं जल्पन्ति भाषणं कुर्वन्ति । सिवभ्रमाः विलासादिचेष्टायुक्ताः सत्यः अन्यं पूर्णं निय्तयन्ति । तस्मान् योपितां स्त्रीणां प्रियः को नाम । तु योऽपि नेत्यर्थः ॥ अनुष्टुत्रुवृक्तियम् ॥ ८१ ॥

भा० टी०--स्री वाते किभी पुरुषते करती है, विलागसीका किभी कीम्कोहि है, बीट हृदयमें किमी बीस्कीही चिन्ता करती है। बड़ी स्त्रियोंडा प्याम कीत है ? ॥ ८२ ॥

दे[हा--मनमें कलु वातन कलु नेननमें कलु और।

चितकी गति कहु औरही यह प्यारी किहि होर ॥ मैं यु तिहिति याचि यापिता है दि हालाहल मेर्व केवल अत्रेष निर्वादित होते॥ दिया निर्वादित है है है है है है है से सिर्वेद ताहें वैते॥ देव से सिर्वेद केवल सिर्वेद सिर्व

. सं टी०--योपितां स्त्रीणां वाचि वाण्यां मत्रु तिष्टति । हृदि सन्तःकरणे केवलं हाला-हृदं विपमेव तिष्टति । सत्तर्व पुरुषेण तासामधरा निपीयते किन्तु हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते वैतालीयं वृत्तमिदम् ॥ ८२ ॥

भा० टी०—िस्त्रयोंकी वाणीमें मधु होताहै किन्तु हृदयमें केवल हलाइल विप होताहै, इसलिये पुरुष उनके अधरामृतका पानकरतेहैं और हृदयको सृष्टिसे तादनकरतेहैं॥ ८२॥

दोहा--अधरनमें अमृत वसत कुच कठोरता वास। याते इनको छेत रस उनकों मर्दन त्रास॥ ८२॥

अप्सर सखें दूराँद्रस्मात्कटाक्षविषानलैत्प्रकृतिविष-माँचोषित्सपीदिलासफणाञ्चतः॥ इतरफाणिना दृष्टाः श-स्याश्चिकित्सितुमोषेधेश्चतुरवनिताभोगियस्तं त्यंजन्ति हे" मन्त्रिणैः॥ ८३॥

सं० टी०——अपसरेति । हे सखे ! अस्मात् योपित्सर्पात् दूरादपसर गच्छ । कथंभू
ात् । कटाक्षा एव विपानलोऽग्निर्यस्मिन् तस्मात् । पुनःकथंभूतात् । प्रक्तत्या स्वभावेन विपमात्

विलात् । विलासा एव फणास्ता विभार्ति तस्मात् । किभित्युच्यते । इतरफणिना सर्पेण दष्टा

गैपविश्विकित्सितुं शक्यन्ते । चतुरविनताभोगिना ग्रस्तं मंत्रिणो हि निश्चयेन त्यजन्ति । अतो

रादेवापसर । हरिणीवृत्तमिदम् ॥ ८३ ॥

भा॰ टी॰—हे सखे! कटाझकोणानल धारणकरनेवाले, स्वभावसेधी रेपम और विलासरूपीफणाधारी इस स्त्रीरूपीसपेसे दूर भागो; क्योंकि अन्य-पोंसे डसाहुआ मनुष्य औपधियोंसे अच्छा होसक्ताहै, परन्तु चतुरस्त्रीरूपी सपेसे सेहुएको मांत्रिकभी त्यागदेतेहैं॥ ८३॥

दोहा—मंत्र यंत्र औपधनते तजत सर्पविष लाग।
यह क्यों हूं उतरत नहीं नारिनयनकी नाग ॥८३॥
विर्तारितं मकरकेतनधीवरेणै स्त्रीसंज्ञितं विड्शंमत्रं
वाम्बुरोशो ॥ येनाँचिरात्तदघरामिषलीलमर्त्यमत्र्यांन्
वेहैंष्य पर्वतीत्यनुरागीवहाँ॥ ८४॥

छप्रय—कान निरन्तर गान तान सुनवौही बाहत लोचन चाहत रूप रैनदिन रहत सराहत । नासा अतर हो चहत फूलनकी माला। त्वचा चहत सुखसेज संग कोमल वाला। रसनाहू चाहत रहत नित खाटे मीठे चरपरे। पंचन या परपश्चसों भूपनकों भिक्षुक करे॥ ८७॥

नं गर्म्यो मन्त्रौणां र्न चै भवति भेषज्यविषयो न चौषि प्रध्वंसं त्रैजिति विविधेः शान्तिकैशतेः ॥ २ वे से प्रि कि'मिपि विदेधद्भव्यमसम् स्मरापरेमारोऽयं भ्रमैयति च घूर्णयेति चै ॥ ८८॥

सं० टी०—नेति । अयं समरो मदनोऽपस्मारो वर्तते । न समारिनवारणार्थमुन ते कर्तत्र्या इति चेत्ति अयं तथा न भवति । अयं कथंभूतः । मंत्राणां न गम्योऽत्र मंत्रेण कर्तु कोऽपि न समर्थ इत्यर्थः । भैपञ्यविपयो न भवति । न च विविधैरनेकप्रकारैः शानि प्रम्वंसं नाशं व्रजित प्राप्नोति । अथ च श्रमास्यविशात् अङ्गे किमिप भव्यं कर्तव्यमसमं अविकिश्चित् करोति दशं दृष्टि श्रमयति वृर्णयति च ॥ ८८ ॥

भा० टी०—यह कामदेवस्त्वी अपस्मार रोग अमके आवेशसे ह दुःखदाई कमकरता हुआ मनको अमाताह और नेवाँको घुमाता है। इस रे तो मंत्रोंकी कुछ गति है, न बापध कुछ काम करसक्ता है, और न न । द्यान्तिकम पाटपूजा आदिसे यह नाथको प्राप्तहोताह ॥ ८८॥

दोहा—मंत्र दर्श और आपसों वेदन मिटे न वेद।

कामवानमों भ्रमत मन केसे मिट है केद॥ ८१
जात्यन्थाय चै दुर्मृखाय चै जराजीणांखिलाङ्गाय चै ।

मीणाय ची दुर्कृत्याय चै गलकुष्टामिभृतीय चै॥ १३

माणाय च दुःकुलाय च नाळलुः छा। समृताय च ॥ ः नेतीयु मनोहरं निजवेषुर्यक्षमी छवक्षवया पण्यस्तीयु ि

कलपटनिकादासीपुँ रेज्येन के ॥ ८९ ॥

सं० टी०—जात्यन्धायेति । पण्यात्रीपु वेश्यासु को रज्येत इच्छां करेति । कथांभूतासु । जात्यन्धाय जन्मान्धाय, दुर्भुखाय कुरूपाय, च जरया जीर्णानि अखिलानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य तस्म, प्रामीणाय अचतुराय, दुष्कलं नीचकुलं तत्रीत्पन्नाय च, गलत्कुष्टेन अभिभूताय पीडिताय च, एव-मिद्ये लक्ष्मीलवश्रद्धयाऽल्पद्रव्यप्राप्त्यर्थे मनोहरं सुन्दरं निजं स्वकीयं वपुः शरीरं प्रयच्छन्तीपु । पुनः कथंभूतासु । विवेक एव कल्पलिका कल्पवृत्ती तस्याः शस्त्रीपु शस्त्रभूतासु छेत्रीपु । शार्दृलिक्षीटितं वृत्तमिदम् ॥ ८९ ॥

भा० टी० — जो जन्मान्ध, कुरूप, बृद्धावस्थासे शिथिछ, गवाँर, नीचजाती और कोढीकोभी अल्पद्रव्यकी आशासे अपना सुन्दर शरीर समर्पण करदेतीहैं, और जो विवेकरूपी कल्पलताकेलिये सुरीके समान हैं ऐसी वेश्याओंसे रमण करनेकी कोन बुद्धिमान इच्छा करेगा॥ ८९॥

छप्पय—जातिहीन, कुछहीन, अंध, कुित्सत, कुरूपनर,। जरा-प्रसित कृशगात गिछतकुष्टी अरु पांडर। ऐसौहू धनवान होय तो आदर वाको । अपनो गात विछाय छेत रस सर्वस ताको । गिनका विवेककी वेछकों कदन करनवारी निरख। वचरहे वडे कुछवन्त नर रचत पचत मूरख हरख॥ ८९॥

वेश्यासी मदनज्वालाँ रूपेन्धनसमेधिताँ ॥ कांमि-भिर्यत्रं हुर्यंन्ते योवनांनि धनांनि र्च ॥ ९० ॥

सं० टी०—वेरयेति । असै। वेश्या पण्यस्त्री रूपमेवेन्धनं काष्टं तेन समेधिता वार्द्धता मदनश्वाद्या कामाग्निरस्ति । यत्र यस्मिन् कामिभिः कामुकैः यैवनानि तारूण्यानि धनानि च हूयन्ते । चनुष्टुवृत्वत्तिमदम् ॥ ९० ॥

भा॰ टी॰--यह वेश्यातौ सुन्द्रतारूपी इन्धनसे प्रचण्डरूपसे जळताहुवा कामाप्ति है। और कामीपुरुप इसमें अपने यौवन और धनकी आहुति देतेहैं॥९०॥

दोहा—गिनका किनका अगिनकी रूपसिमध मजवूत। होम करत कामीपुरुप धन योवन आहूत॥ ९०॥ कंश्युम्बति कुलपुँरुषो वेश्याधरपर्ह्वं मैनोज्ञमैपि॥ चारभटचोरचेटकनटविटिनिष्टीवनशरावंस॥ ९१॥

भर्तृहरिविरचितं-

सं टी०—क इति । चारो दूतः भटो योद्धा चौरश्चोरः चेटकं करोति स चेट नटः नर्तकः विटः भाण्डः इत्यादीनां निष्टीवनस्य छाछोदकस्य शरावं पात्रं एवंविधं मनेश सुन्दरमि वेश्याया अधरपछ्यं कः कुछपुरुषः कुछीनश्चुम्बति । अकुछीन एव चुम्बति कुर्व नेतिभावः ॥ आर्यावृत्तमिदम् ॥ ९१ ॥

भा॰ टी॰—वैश्याका अधरपछ्व यदि सुन्दर है तोभी उसको कुर्ण पुरुष निहं सुम्बता है क्यों कि बह तो ठग, योद्धा, चोर, दास, नट और जार्ण धुकनेका पात्र है ॥९१॥

सोरठा—गनिकाके मृदु ओठको कुलीन चुम्वन करें। नट, भट, विट, ठग गोठ पीकपात्र है सवनको ॥९१

इति कामिनीनिगईणम्।

धन्येरित एवं तरलायतलोचनानां तारुण्यरूपघनपीनप्ये धराणाम् ॥ क्षामोदरोपरिलसन्निवलीलतानां हर्ष्ट्राक्टेंति विक्टितमेति मैनो नं येपाम् ॥ ९२॥ भा० टी०--जो मनुष्य रसखेदमे खिन्न होकर मत्तहाथीके कुम्भोंके समान विस्तीर्ण तथा कुङ्कुमसे भीजेहुए स्त्रीके स्तनींपर अपने वक्षःस्यल को रखकर स्त्रीके भुजारूपी पंजरके मध्यस्थ होकर क्षणमात्रभी निद्राल होकर सात्रि व्यतीत करताहै वह धन्य है॥ ९६॥

छपय्य—सत्तगयन्दके कुम्भसे राजत केसरकर्दम साने। तिन पीनपयोधरमें विलसें रसरीति सयाने। रसखेदहि दूर वहाय करें कौतुक मनमाने। डार प्रियामुजकण्ठ रहें सुखसों लपटाने। सोवत अस गल लाग उरोजन ऊपर करधर। तेही जगमें धन्य धन्य वे धन्य सुभगनर॥ ९६॥

सुधांमयोऽपि क्षयरोगशांन्त्ये नासायमुक्ताफलकच्छलेर्न। अनङ्गसंजीवनदृष्टिशंक्तिर्मुखामृतं ते पिवंतीवं चन्द्रं ॥९७॥

सं० टी० — प्रियाया नासाप्रमासिकां चग्द्रविनात्प्रेश्य वर्णयति । गुधागय हि । है नाथिके! सुधानयोऽमृतमयः अतएव अनङ्गस्य वामस्य संजीवने दृष्टिशक्तिर्दृष्टिसागर्ध्य यग्य मः। कामोदीपक इत्यर्थः। एवंविधोऽपि चन्द्रः क्षयरोगस्य शान्त्ये शगाय नासाया नासियाया यद्यं तस्यम्बन्धि वन्मुक्ताफळकं तस्य छ्ळेन भिषेण ते मुखागृतं पिवतीवेसतं गन्य हित देापः।। उपन

जातिर्वतिभदम् ॥ ९७ ॥

भा० टी०--हे सुन्दारे! अमृतमय अतएव कामदेवके चेतन्यकरनेषी

दृष्टिसामध्ये रखनेवाला चन्द्रमा क्षयरोगकी शान्तिकेलिये नाकगतिके मिषसे हेरे
अधरामृतका पान करताहे॥ ९७ ॥

सवैया—होय अनंग सतनु सरसावत देखतही जानं टग भरके। सोई निजरोगक्षयनाशन हित करत उपाय छहरके॥ जदिप सुधामय आप तदिप नकवेसररूप सुधरके॥ अधरस्धारस सुंदरि तेरी पीवतहै चन्दा मिस करके॥ ९७॥

दिशं वनहरिणिभ्यो वंशकाण्डच्छेवीनां कवंटमुपटको-टिच्छिर्नेमूळं कुशानाम् । शुक्युवतिकपोटांपाण्ड्तान्वृट-वह्यदिल्मरुणनेखायैः पीटितं वां वधूर्भवः॥ ९८॥ संग कहा सुख वातन है है। कहा अधर मधुपान कहा लेकि छिन है। मुखकमलइवाससीगन्ध कहा कठिनकुचकी परस् पररस्भन चुम्चन कहा जोगी जन मन एकरस ॥ ९४॥

अजितात्मेसु सम्बेद्धः समाधिकृतचैषितः ॥ भुजङ्गुर्कुंटिलः स्तर्व्धो भ्रूविक्षेर्पः खलायते ॥ ९५॥

सं० टी०—अजितात्मखिति । ख्रिया अविक्षेपः कटाक्षचालनं खलायते खलायते विकासि चरति । कीहरो। अविक्षेपः खलायते । ति जात्मा चित्तं थैस्तेष्वजितेन्द्रियेपु संबद्धः । ति समाधी चित्रैकारन्ये पक्षे सम्यगाधी मनःपीडायां विषये कृतं चापलं येन सः । तथा भूवि जारस्तद्वत् पक्षे भुजङ्गवत् सर्पत्रत् कुटिलः । तथा स्तब्धः स्थिरः पक्षे गर्षिष्ठः एवं भिष्ठः पत्रः । तथा भष्ठः भष्ठः भष्ठः । तथा भष्ठः भष्ठे भष्ठे भष्ठः । तथा भष्ठे भष्ठः । तथा भष्ठे भष्ठः । तथा भष्ठः । तथा भष्ठः । तथा भष्ठः । तथा भष्ठे भष्ठः । तथा भष्ठः । त

भा॰ टी॰—अजितेन्द्रिय मनुष्योंसे सम्बन्धरखनेवाला, समाधि (विं नाग्रता अथवा मानसिक पीडाओं)में अत्यन्त चञ्चलता करनेवाला, भुजा (विं अथवा जार) के समान कुटिल, और स्तव्य यह स्त्रियोंका कटाक्ष खलकेसमा आचरण करताहै॥ ९५॥

दोहा—तिय कटाक्ष खळ सरस है करत समाधि भंग । प्राकृत जन संसर्गरत शठ इव कुटिल भुजंग॥९५॥ मत्तेभकुम्भपरिणाँहिनि कुङ्कुमौद्रं कान्तापँयोधरतहे रसखेदाखिकः ॥ वैक्षो निधार्य भुजपञ्जरमध्यवती धैन्यः क्षपाँ क्षपैयति क्षणलब्धनिद्रः ॥ ९६ ॥

सं शिक्यमहर्णाभृजाविद्वितःसन् रात्री शेते स धरम इत्याह । मनेभेति । यः प्रि स्व धूरापितस्य नेवन जन्मे। यः सेदर्भन चित्रः श्रास्त्यस्त् मनी महोत्मनी। य द्गो। मजस्ताय द्वि सादस्य हे तहन परिवादिन विम्तीर्थे बहुनेनार्थे बान्तायाः पयोधस्तेरे स्वनतरे यश्च संगित्रि स्वीति विकाद प्रभूतिक प्रवस्तिकार्यकी सन् क्षण श्वायात्रं स्वता निष्टा येन एता प्र स्वीति क्षण्यति स्वीति स धरमः । अभिन्य समीर स्वयतिहानपूर्वक श्वायनीत्रायस्त्रमृष्टि

भा० टी०--जो मनुष्य रसखेरसे खिन होकर मत्तहाथीके कुम्भोंके समान विस्तीर्ण तथा कुडुमसे भीजेहुए स्त्रीके स्तनींपर अपने वक्षःस्थल-को रखकर स्त्रीके भुजाम्हणी पंजरके मध्यस्थ होकर क्षणमात्रभी निद्रालु होकर ्रानि च्यतीत करताहुँ वह धन्य है ॥ ९६ ॥

छपय्य-मत्तगयन्दके कुम्भसे राजत केसरकर्दम साने । तिन पीनपयोधरमें विलसें रसरीति सयाने। रसखेदहि दूर वहाय ंकरें केोतुक मनमाने । डार प्रियाभुजकण्ठ रहें सुखसौं लपटाने॥ · सोवत अस गल लाग उरोजन ऊपर करधर । तेही जगमें धन्य धन्य वे धन्य सुभगनर ॥ ९६ ॥

ंसुधांमयोऽपि क्षयरोगशांन्त्ये नासायमुक्ताफलकच्छलेनं। अनङ्गसंजीवनदृष्टिशैक्तिर्मुखामृतं ते पिवंतीवं चन्द्रः॥९७॥

सं ० टी ० --- प्रियाया नाताप्रमोक्तिकं चन्द्रत्वेनोत्प्रेक्ष्य वर्णयति । सुधामय इति । हे ं नाथिके! सुधामये।ऽमृतमयः अतएव अनङ्गस्य कामस्य संजीवने दृष्टिशक्तिर्दृष्टिसामर्ध्यं <mark>यस्य सः।</mark> ् कामेादीपक इत्यर्थः । एवंविचेाऽपि चन्द्रः क्षयरोगस्य शान्त्यै शमाय नासाया नासिकाया य<mark>दप्रं</mark> तत्तम्बन्धि यन्मुक्ताफल्कं तस्य छलेन मिपेण ते मुखामृतं पिवतीवेसहं मन्य इति शेषः ॥ उप-, जातिर्वृत्तमिदम् ॥ ९७ ॥

भा० टी०--हे सुन्दारे! अमृतमय अतएव कामदेवके चैतन्यकरनेकी दृष्टिसामर्थ्य रखनेवाला चन्द्रमा क्षयरागकी शान्तिकेलिये नाकमोतीके मिषसे तेरे , अधरामृतका पान करताहै ॥ ९७ ॥

सवैया-होय अनंग सतनु सरसावत देखतही जाकूं हग भरके । सोई निजरोगक्षयनाशन हित करत उपाय छहरके ॥ जदिप सुधामय आप तदिप नकवेसररूप सुधरकै ॥ अधरसुधारस सुंदरि तेरौ पीवतहै चन्दा मिस करके ॥ ९०॥

दिशं वनहरिणीभ्यो वंशकाण्डच्छेवीनां कवंछमुपलको-टिच्छिर्समूलं कुशानाम् । शुक्युवतिकपोलीपाण्डुताम्बूल-वल्लीदलमरणनेखायैः पीटितं वाँ वधूर्मयः ॥ ९८ ॥

सं टी॰—दिशेति । हे जन! त्वं वनेऽरण्ये या हरिण्यो मृग्यस्ताम्यो वंशत के काण्डो दण्डः "काण्डोऽस्त्री दण्डवाणार्ववर्गावस्त्रवारिपु" इत्यमरः । तस्येव छिः कान्ति कुशानां दर्भाणां उपलस्य पापाणस्य कोटिरप्रभागस्तेन छिनं मूलं यस्यैवंविधं कवलं प्रात्तः "प्रासस्तु कवलः पुमान्" इत्यमरः । दिश देहि । वाऽधवा वधूम्यः स्त्रीभ्योऽरुणानि कुल्ले हितानि "करणः कृष्णलोहितः" । ईषद्रक्तानीतियावत् । यानि नखानि तेपामप्राणि तैः पर्टे छिनं एवंविधं शुक्तयुवत्याः कीरिक्षयाः "गृष्ट्री कीरशुकौ समी" इत्यमरः । कपोलो गण्डतर्यः सा ईपत् पाण्डुः पीतिमिश्रश्वेतवर्णा "पाण्डुस्तुपीतभागार्धः केतकीधूलिसिन्नमः" इतिशब्दान्तिः या ताम्बूलवल्लो तस्या दलं पर्ण दिशेत्यर्थः । मालिनीवृक्तमिदम् ॥ ९८ ॥

भा० टी० —हे मनुष्यो ! तुम यातौ वनमृगियोंकेलिये वांसके दण्डा समान छविवाली पत्थरके अग्रभागसे कटीहुई जडवाली कुशाओंके प्रात है अथवा उत्तमिस्त्रयोंकेलिये अरुणनखोंसे तोडेहुए शुक्रयुवती (सुई) के कपोले समान किञ्चित पाण्डुवर्णवाले ताम्बूल दो ॥ ९८ ॥

दोहा—वनमृगीनके दैनकों हरे हरे तृण लेहु। अथवा पीरे पानको वीरा वधुवन देहु॥ ९८॥

वैरोंग्ये संचैरत्येको नीती अर्मति चापरें ॥ शृंङ्गारे रमंते कॅश्चिद्धंवि भेदी परस्पेरम् ॥ ९९ ॥

सं ॰ टी॰—वैराग्य इति । एकः पुरुषे वैराग्ये संचरित । चापरोऽन्ये। नीते। मिन् भन्यं करोति । कश्चित्पुरुषः शृंगोरे रमते । एवं भृति पृथिव्यां पुरुषाः परस्परं भेदिविशिष्टा इत्यदेश अनुष्टृबृहद्यनिदम् ॥ ९९ ॥

भा दि है। कोई पुरुष वैराग्यमें संचार करताहै, कोई मनुष्य नीति अमणकरताह, और कोई शृंगीरमें रमताह, इसमकार मनुष्योंकी इच्छा पर्ण एक्ट्सरेसे नित्र हैं! नीति, शृंगार और वराग्य तीनोंक्षतकोंके निर्णाणकर्ति महेटरिकीका यह प्रयोजन है कि जिसकी जिसमें रुचि हो वह उसीको विचारे ॥९९३

देहा—काहुक विगयमधि काहुक रुचि नीति। काहुक शृंगारमधि जुदी जुदी परतीति॥९९॥ येदान्यं नौन्ति रुचिरं नैसिंग्नस्यास्प्रही भैनोज्ञेऽपि॥ रमेणियेऽपि सुंघांद्री नैमनःकीमः सरोजिन्धीः॥ ९००॥ सं दी • — यदिति । यस यत् रुचिरं नानि तसिन् मनोतेऽपि सुन्दरेऽपस्य सृहा न भवति । शव रहान्तः । चन्यन्त संदेषां प्रियमारे स्मणीयः । तसिन् सृर्यविकासिन्याः संरोजिन्या गत्मः स्तानः श्रांतनं भवति । एवं यस्य यत्र प्रीतिन्तस्य तत् रुचिकरं । अतो नीतिः शृहास्थ देसस्य च एकताः । एतेष यत्र यस्य प्रीतिन्तेन नहरूत्यम् । इदं शृंगारशतकं भर्तृहरिणा कृतम् । सत् प्रामहत्याः म एतं । शाद्यविव " समस्यभविः सन्दु बन्धनं क्षियः " इसुक्तम् । मन्येऽपि " इस्तिन्तेति यदिवदिन " इस्याविनि वचनानि स्त्रद्धे स्थले स्थितानि । तासां कामिनीनां प्रशंका कामिनीः श्रांका कामिनीः प्रशंका कामिनीः । श्रांका कामिनीः ।

अराता क्षामानाः अयवन्तानानवता आत्त स्व विवक्षक्षया नान्द्रतम् ॥ आवाष्ट्रतामदस् ॥ १००॥
भा ० टी ० — जो वस्तु जिसको पिय नहीं वह चाहे जसी सुन्दर क्यों न
हो परन्तु एसको अच्छी नहीं लगतीः जसे चन्द्रमा सवको पिय हे परन्तु सूर्य-विद्यासिनी कमलिनियोंकी प्रीति उसपर नहीं होतीः अर्थात् कमलिनियोंको चन्द्रमा अच्छा नहीं लगताहै॥ १००॥

होहा—जो जाके मन भावतो ताकों तासों काम । कमलन चाहत चांदनी विकसत परसत घाम ॥१००॥ इति श्रीमद्गर्दहरिकृतं भाषाटीकोषेतं द्वितीयं शृंगारशतकं सम्पूर्णम् ॥ २॥

> आम् । ओम् । श्रीहरिम्बन्दे । श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः अथ भृतृहरिकृतं ।

तृतीयं वैराग्यशतकं प्रारम्यते।

मङ्गलाचरणम्।

चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकिकाचञ्चिच्छखाभारवरी ठीळाद्रग्धविछोळकाम्दाळभः श्रेयोद्द्राये स्फुरन्।

अन्तःस्फूर्जद्पारमोहितिमिरंप्राग्मारमुबाटयर्नं चेतःसैद्मिन योगिनां विजयते ज्ञानं प्रदीपो हर्रः॥१॥

सं० शे०—विश्वेशं मोक्षदातारं भैरवं भीतिनाशनं । वृद्धिप्रदं वृद्धिराजं सर्के सादरम् ॥ १ ॥ छम्बेादरमुखं ध्यात्वा नत्वा कृष्णं सदाशिवम् । वैराग्यशतकव्याख्यां यथाप्रवं के हम् ॥ २ ॥ दिकालाद्यनवच्छित्रा मूर्तिर्थस्य महात्मनः । तस्मै कृष्णाय महते तेजोरूपाय वै नमः

इह खलु सकलवसुधेशाशिखामणी राजर्पिप्रवरः श्रीमद्भितृहिरिवेराग्यशतकमेवारम् राजकुलोत्पन्नत्वात् राज्ञो नीतिशृंगाराववश्यमपेक्षितावतः प्रथमं नीतिशृंगारशतके वैराग्याति वतरणरूपे निर्मायेदानी वैराग्यशतकमेवारममाणः स्वेष्टदेवं सदाशिवं विशेषयन्नमिते । चूडोत्ते चूडातां केशपारो उत्तंसिता भूषणभूता चारु रमणीया या चन्द्रकलिका चन्द्रकल तस्यावं देदीण्यमाना या शिखाः किरणास्ताभिर्मास्वरः शोभायमानः । लीलया दग्धो विलोलश्च श्चलः कामान् मदनपतङ्गो येन सः । श्रेयः कल्याणं तस्य दशा अवस्था तद्धे अग्रे स्फुरन् प्रकाशमानः लेल कल्याणं कर्तुं प्रकटीभूत इतिभावः । अन्तरभ्यन्तरे स्फूर्जत् प्रकाशमानोऽपारः पाररिहतो यो स्व एव तिमिरमन्धकारोऽज्ञानं यावत्तस्य प्राग्भारोऽतिशयस्तमुचाटयन् समूलं नाशयन् । क्षेत्रं भक्तान्तःकरणे ज्ञानं प्रदीपयति प्रकाशयतीति ज्ञानप्रदीपः । हरः शिवः योगिनां चेते । सम्मगृहं तिसमन् विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । शार्द्विविज्ञीडीतं वृत्तिमदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—राजिंपवर श्रीभर्त्हरिजी अपने इष्टदेव सदाशिवकी स्कार करतेहैं। जिनकी जटाओंमें चश्चल और दैदीप्यमान चन्द्रकला विराग्त है, और लीलाहीसे जिन्होंने कामदेवरूपी पतङ्गको भस्म करिदयाहै हैं। महादेवजी हैं सो कल्याणकी स्फूर्ती करतेहुए और पहिले भयेहुए और अधकारका नाश करतेहुए योगिजनोंके हृदयरूपीगृहमें दीपककेसमान समान हैं।। १।।

छप्यय—चन्द्रकलामय भानित कानित बहु भांतिन जार्यो कामपतंग अंग विन भयो जुःपरसत । महामोह इदयको तिमिर नसावत । अपनो आतमरूप प्रकट कर दिखावत । दुति दिपत अखंडित एकरस अद्भृत अतुलित कवर। जगमगत संत चितसदनमें ज्ञानदीप जय जयित हर

वोद्धीरो मत्सरग्रस्ताः प्रभैवः स्मयदूषिताः ॥ अवोधोपहताँश्चांन्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥ २॥ सं टी०—वेत्ता मार्स्सयंसुक्तः प्रभुगेवेण दूषितः। छीनं सुभाषितं सर्वं देह एव तु
नी विहः॥ महतां गुणान् महत्त्वेव छीनानाछोक्य शोचयनाह। बोद्धार इति। बोद्धारः सदसिद्वेकः
कर्तारोऽहमेव बहुन्नोऽल्पन्नं किमन्यं पृच्छेयिमसन्यस्मिकत्पन्नत्वदोपदर्शनरूपेण मार्स्सयेण
प्रस्ताः सर्पेण भेका इव निर्गाणीः। प्रभवः सर्वगुणग्रहणसमधीः मां धनादिसम्पप्रमाछोक्य सर्वे पण्डिताः सन्यासिनश्च जीविकार्थमागमिष्यन्तीति स्मयेन गर्वेण दृषिताः
पुष्टान्तःकरणाः। अन्ये तु प्रभुपण्डितेभ्योऽतिरिक्ता अवोधेन पदपदार्थान्नाने।पहता हतप्राया
प्रयधिकार्यभावात् सुभाषितं सच्छास्त्रमंगे शरीर एव जीर्णं विगिष्टितमहो भाग्यं छोकस्येति भावः॥२॥
भा० टी०—विद्वान् मनुष्य तो अपनी विद्याके अभिमानसें ग्रस्तहें, धनीहोग अपने द्रव्यके गर्वसे किसीविद्वान्का आदरही नहीं करते, और शेप अन्य
पनुष्य जो हैं वे अल्पन्न हैं कुछ समझहीं नहीं, इत्यादि कारणोंसे मुभापित
शरीरमेंही नष्ट होजात।है॥ २॥

कुण्डलिया—पण्डित मत्सरता भरे भूप भरे अभिमान। और जीव या जगतके मूरख महाअजान । मूरख महा अजान देखके संकट सिहये। छन्द प्रवन्ध किवत्त काव्यरस कासों किहये। वृद्ध भई मनमांहि मधुरवाणी गुणमण्डित। अपने मनकों मार मौनधर बैठत पण्डित॥ २॥

नैं संसारोप्तेन्नं चिरतैमनुपश्यामि कुशैंलं विपाँकः पुण्यांनां जनैयति भैयं में विमृश्तिः॥ महेंद्रिः पुण्यो-घैश्रिरपरिगृहीताश्रें विषयीं महाँनतो जायनेते व्यस-नैंमिवें दीतुं विषयिणामें॥ ३॥

भा० टी॰—संसारसे उत्पन्न चरित्रांको हम कल्याणकरनेवाले ता देखतेहैं, और पुनीतकर्मोंका फल स्वर्गादिकभी मुझको भयरूप दीखताहै, क्याँ पुण्योंके नाशहोनेपर स्वर्गस पतनहोजाताहै; वहे वहे पुण्योंके समूहसे विष्ट्र लसे संचित्तकियेहुये विषयभी अन्तमं विषयीपुरुषोंको दुःखरूपही होजांतेहैं॥

छप्यय—या जगसों उत्पन्नभये जे चरित मनोहर। सिवही क्षणभंग प्रगट यह पूर रह्यों डर। यज्ञादिकतें स्वर्ग में तेहूं डर मानत। इन्द्र आदि सब देव अवधि अपनीकों जानता फलभोग करत जे पुण्यकों तिनकों रोगवियोगभय। दुक्र सकल सुख देखके भये सन्तजन ज्ञानमय॥ ३॥ उत्कौतं निधिशंकैया क्षितितेलं ध्मार्तां गिरे धीत्वो निस्तीणः सरितां पितिर्नृपतंयो थैत्नेन संतोषितीं॥ मन्त्राराधनतत्परेणं मनसीं नीतीः इमशींने निशीं। प्राप्तीः काणवराटेकोऽपि ने मर्यां तृष्णेऽधुनीं मुर्खे मीम्॥ अ

सं टी - धनिल्प्सया नानािक्रयाः कुर्वन् फल्मल्ममानोऽत्युद्दिग्नस्तृष्णे मां हुँ प्रार्थयति । उत्खातिमित । हे तृष्णे ! तव प्रभावािन्तिधिशंकयाऽत्र निधिर्भविष्यतीित या शङ्काति क्षितितलं मयोत्खातमुत्खनितम् । तथा गिरेः पर्वतस्य धातवो हरतालादयो मया ध्मातास्तात्रं हुँ भिष्मियतीत्याशयाऽग्निना संयोजिताः । सिरतां पितः सागरोऽपि निस्तीर्णः धनिल्प्सया पिते कानतः । नृपतयो राजानो यत्नेन सन्तोपिताः प्रसादिताः । तथा मंत्राराधने तत्परं यन्तन्ते मनसा राज्यः स्मशाने नीताः । कश्चिरप्रेतः प्रसन्तो भूत्या धनं दद्यादिति निर्गमितास्त्यापि मया कान्ति वरायकोऽपि न प्राप्तः भग्नकपर्दिकापि न ल्या । हे तृष्णेऽधुना मां मुख परित्यज्ञसर्थः । तृष्णे पर्यशो नरो महद्यनं करोति फलं तु भाग्यानुसारेण लभतेऽतः सर्वथा तृष्णा परित्याव्येति भाषः। निग्वनेद्दमुधां प्मायादिर्धातुं सद्येपयैः । निस्तरेदुद्धिं यत्नात् यद्दा शान्तिविचारतः । राष्ट्रि विक्रीडितं वृत्तिमिदम् ॥ १॥

भाव टी०--द्रव्य मिलनेकी आशासे मैंने प्रथ्वीको खोदी, रसायन मिर् होनेके निमित्त पर्यनको अनेक यातु श्रोंको फुंक डाली, रत्नणाप्तिकी आशासे निर् योंक पति समुद्रकेशी पार गया, राजाशोंको अनेकप्रकारके यत्नोंसे क्रम किये, और मंत्र सिद्धकरनेकेलिये मन लगाकर निरन्तर रातेंको महास्माने र्डरीत कि.डा. परत्त पर सद कुछ करनेपरका एक कानी कीडीभी मेरे हाथ नहीं लाई स्मेल हे तुर्ण किट की मेरा विषय छोड़ ॥ ४ ॥

एपच्य-चाँचत डोन्या भृमि गढीहृ न पाई सम्पति । पाँचत राष्ट्रा परवान यनकके लोभ लगी सित । गयो सिन्धुके पाल ततां सुनताहृ न पाया । कोडी कर नहीं लगी नृपनकों सीस नवाया । लाधे प्रयोग शमशानमें भृत प्रेत वेताल सिन । कित-ह भयो न बांछित करू अवनो तृष्णा मोहि तन ॥ ४॥

भ्रांन्तं देशंमनेकहुर्गविषेमं प्राप्तं नं किंचिंत्फळं त्यकेंत्वा जातिकुटाभिमानमुचित्तं सेवीं कृतीं निष्फळीं ॥ भुंकं मानविधिंजितं परर्गृहे साशंकधीं काकवैंतृष्णे कैंभिंसं पापकिमीनरते नींचीपि संतुष्येंसि ॥ ५॥

सं० ही०—- एवमनुगय पेरायाध्यन्तिविरोधस्यासावनृष्णां द्ययीत । श्रान्वेति । हे नृष्णे ! त्रमदापि न सन्तृष्यित नृष्णे न भवति । त्रव प्रभायाद्यदेयोग्यं गया छतं तच्छुणु । अनेके देशेः वाहिनएयांनिर्वियमे दुर्गेषे यो देशस्तं श्रान्या क्रिक्षिद्विप सन्नं द्रन्यं मया न प्राप्तम् । किंच सातिश सुन्नं च नये। मनित् योग्यमिनानं त्यक्या नीचानां सेवा छता साऽपि निष्पत्न जाता । किंच मानेन विवर्षितं निषंप्रणेन विना परगृहे मया भुक्तं तदिष दुर्वचनं मा त्रृयदिति काकवत् साक्ष्याया भेवन सहेत्येवं मम दुर्दशां छत्याऽपि नृग्मीत वर्दसे । हे पापकमिनरते दुष्टकमे-पारियित्र हे निर्द्ये ! अद्यापि त्रव सन्तायो न जायते इत्यर्थः । छोभादनेकदेशेषु मनो श्रमित छोलुष । शिवस्तरणतन्देशेषु मनो श्रमित

भा० टी०—मैंने अनेक दुर्गमदेशों में भ्रमणिकया तथापि कुछ फल नहीं प्राप्तदुआ: यथार्थ जाति और कुलका अभिमान त्यागकर पराई सेवा की साभी निष्फल हुई; और मानको त्यागकर कौएकेसमान सशंकित पराये घरपर भाजन किया। तृष्णे! (यह सब तेरेहीकारण हुआ) हे पापकर्ममें महत्त सदेव बर्द्धमान तृष्णे? तुज्जको अवभी सन्तोप नहींहोताहे॥ ५॥

छुटप्य--भटको देश विदेश तहां फल कछुव न पायो। निज-कुलको अभिमान छाँड सेवा चित लायो। सहि गारी और खीझ- हाथ झारत घर आयो। दूर करतहूं दौरि स्वान जें। परगृह लागै। इहि ऑति नचायो मोहितें वहकायो दै लोभलत। अजहं व तोहि सन्तोष कहुं तृष्णा तू पापिन प्रवल ॥ ५॥

खलोड़ोपाः सोढां कथमँपि तदाराधनेपरैनिंग्द्यान्तर्वाः प्रं हंसितमँपि जून्येने मनसी ॥ कुर्तेश्चित्तरतें मः प्रहः सितिधयीमर्झेलिरंपि त्वमांशे मोर्थाशे किंभपरमीते निर्तयिस मार्मे ॥ ६ ॥

सं० द्री०—-तृष्णायामनेकानि दुःखानि प्रदर्श तद्भेदाशायामि तानि दर्शयस्तां स्वाती प्रार्थयते । खलेल्लापा इति । तदाराधनपरेः खलसेवनपरेरस्माभिः खलेल्लापाः खलानां दुष्टानामुल्ला दुर्घानयानि सोला मिर्पताः तद्दुवंचनेजीतं यद्दाष्पमश्च जलं तत्कथमप्याशाप्रभावेनानतानिगृत्व संति श्चिम्येनोत्साहरिहेतेन मनसा हिसतमप्यथं दुष्टो न जानीयानमद्दाक्यात् खिन्नोऽयमिति हास्यमाप कृति मिर्स्यथः । दुष्टवचनात् चेतस्यद्वेगे जातेऽप्येनं दुष्टं विहाय गच्छ्यमिति तथापि हे आशे ! विल्ला स्तम्भः कृतः । एवं विहाय गमने किमिप न मिल्लियतीति मनसो निरोधः कृतःतव प्रभावात् कि सत्मः कृतः । एवं विहाय गमने किमिप न मिल्लियतीति मनसो निरोधः कृतःतव प्रभावात् कि हतावियां धनमदेन प्रतिहता नष्टा धीर्नुद्धियेपां तेपामम् अञ्जलिः करसंपुटोऽपि कृतो न जानीयस्य मदचनादुद्दिम्न इति । मोवाशे मोवा निष्फला आशा अभिप्रायो यस्यास्तथाभूते हे आशेऽतः प्रस्ति नमां किमु करमावर्तयस्यभुना तु मां मुश्चेतिभावः । खल्याग्वाणिवद्धोऽपि तत्सेवानिस्तो भवेत् । विष्रं सेवारते। न स्याद् यत्रानन्दो निराश्यः । शिखरिणीवृत्तिमिदम् ॥ ६ ॥

भा० टी०--दुर्ननोंकी सेवा करनेमं हमने उनके कुवावय सहति। नेत्रोंके आसुओंको रोक उदासमनसे उनके सन्मुख इंसाकिये, और विक् स्थिरकर उन हत्युद्धिमनुष्योंकेसन्मुख हातभी जोडे, अब हे व्यर्थआशाहरी दाळी आगे! क्यों मुझको हथा नचातीहै॥ ६॥

छप्पय—सहे खलनके वेन इतेपर तिनाहि रिझाये। नैननको कर रोक शृत्यमन मुख मुलक्याये। देत नहीं कछ वित्त तऊ कर दिखाये। कर कर चाव करोर भारही दौरत आये। सुनि प्याम नेरी प्रवल तृ अति अञ्चतगत गहत। इह भांति मोहि अब ऑर कहा करिया चहत॥ ६॥ आदित्यस्य गतागैतेरहरहें संक्षीयंते जीवितं व्यापाँ-रैर्बहुकार्यभारगुर्रुभः काँलो ने विज्ञीयते ॥ दृष्ट्वी जन्म जराविपत्तिमरेणं त्रासैश्चें नोत्पर्यते पीत्वी मोहभैयीं प्रमादमदिर्रीमुन्मत्तीभूतं जगैत् ॥ ७॥

सं० टी०—गमनागमनं कुर्वन् रिवर्हरित जीवितम् । सेवितं येहरेः पादकंजं तेपां सुजीवितम् ॥ १ ॥ जगदुन्मादं दुःखसिहिष्णुतां कालाज्ञानं च दर्शयित । आदित्यस्य गतागतेग-मनागमनेरुदयाचलादस्ताचलं प्रति गमनमागमनं तु ततः पुनरुदयाचलं प्रति । एवंप्रकारकैर्गता-गतैरहरहः प्रतिदिनं जीवितमायुः क्षीयते नश्यित । न्यापौर्जगदनेकन्यवहारेः । कथंभूतैः । बहुकतं र्यमारगुरुभिः बहूनि कार्योण्येव भारा बोद्धमशक्यास्तैर्गुरुभिर्महिद्धः । कालो मरणं कियदायुर्गा-कियदवशिष्टिमिति तु कैक्षिदिप निवज्ञायते न विशेषेणानुभूयते । जन्मादिमरणान्तकर्म सर्वेपामात्मनोऽपि दृष्ट्वा स्वनेत्रगोचरिक्त्वाऽपि त्रासो भयं नोत्पद्यते । अनिष्टकरणात् किथदिप न निवर्तत इति भावः । तत्र हेतुमाह । पीत्वेति । मोहमर्यी मोहप्रचुरां प्रमादरूपां मिदिरां पीत्वा जगत् उन्मत्तभूतं फर्तन्याकर्तन्यविचारशून्यं जातिमिति शेषः । शार्दृलविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ ७ ॥

भा० टी०—प्रतिदिन सूर्यके उदय अस्त होनेके संग जीवन क्षीण होता जाताहै, और वहुत वहे २ कार्य ज्यापारोंकेकारण समय जाताहुआ नहीं जानाजाताहै; और जन्म, वृद्धावस्था, विपत्ति और मरण देखकरभी भय उत्पन्न नहींहोताहै; इससे ज्ञातहोताहै जगत् मोहमयी प्रमादरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त होरहाहै ॥ ७॥

छ्रप्य--उदै अस्त रिव होत आयुकों क्षीरण करत नित।
गृहधन्देके मांहि समय वीतत अजान चित। आंखिन देखत जन्म
जरा अरु विपत्ति मरन नित। तउ डरत निहं नेक शंकह् नांहि करत
चित। जग जीव मोहमदिरा पिये छाके फिरत प्रमादमें। गिरपरत उठत फिर फिर गिरत विपयवासनास्वादमें॥ ७॥

दीनाँ दीनमुँखैः सदैवं शिर्शुंकैराकृष्टजीर्णाम्बर्रा केर्रां-द्रिः क्षुधितेर्न रैने विधुर्रा दृश्येते 'चेद्रेहिनी ॥ याज्ञा- भंगभयेर्नं गहद्उसत्युट्यहिलीनीक्षरं 'को देहीं' ति' वैदित्स्वद्ग्धजर्टं रस्याँथें सनस्वीजर्नेः ॥ ८॥

सं० टी० — अतिदीनमुखेः पुत्रेर्युक्ता पत्नी कदम्त्ररा । न मनेदेहिनी गेही देही क्यं बदेत् ॥ १ ॥ पुत्रादिसंप्रहो विवेकिनामि टुःखद इत्याह । दीनेति । दीनानि मुखाने हे तैः शिशुकेत्रां छेराकृष्टं जीर्णमम्बरं यस्याः सा अतएव दीना । क्यंभृतः क्रोशद्भिरत्वार्थं स्दिर्द्धं गृहनरेः क्षुधितार्ववृद्धार्थतदुःखनती एतादशी गेहिनी भाषी चेत् यदि न दश्येत मनित्रना हे नितिशेषः । याज्ञाभङ्गभयेन याज्ञा देहीति प्रार्थना तस्या भंगो नाशः न दास्यामीति दार्वकिन तद्भयेन गद्भदं सवाष्पं गछत् पतत् पदतो वर्णतो वा तुत्र्यत् विछीनानि अस्पष्टानि अक्षाते यसिन् वाक्ये तत् क्रियाविशेषणं वा को मनस्वीजनः धीरः वदेत् देहीति कः कथयेत् । तर्ष ठरानछेन दग्धस्य जठरस्यार्थे स्वोदरपूरणायेत्यर्थः । अत्र आकारप्रक्षेपः कार्योऽन्यर्गार्थं स्थात् । शार्द्छविक्तीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८ ॥

भा० टी॰—अत्यन्त दीनमुखवाले वालक सदेव जिसका फग्ड्र विस्त्र खींचतेहैं और अन्नकेलिये चिन्तातेहुए क्षुधितमनुष्योंसे जो दुः लिखे ऐसी गेहिनी यदि न होती तौ ऐसा कीन धीर मनुष्य है जो अपने पेटभरनेकिन याचनाभंग होनेके भयके कारण गद्धदकंण्डसे हुटे फुटे अक्षरोंमे "मुझकों अर्व दीजिये" ऐसी वाणी वोलता, अर्थात् स्त्री सब अन्योंका मूल है ॥ ८॥

छप्यय--फट्यो पुरानो चीर ताहि खेंचत अरु फारत। होरे २ बाल भूखही भूख पुकारत। घरमांही नहिं अन्न नार्षि निर्देय यातें। भई महाजडरूप कडत मुखसों नहिं वातें। यह दशा देख अरवरत चित्त जीव थरथरत रुकत सुख। अपने सुजरे या उदरहित "देहु" कहै को सतपुरुष॥ ८॥

निरुत्तों भोगेच्छा पुरुषबुहुमाँनो विगि तिः समानाः सर्पादः सर्

सं ॰ टी॰—भोगशत्तयायमावेऽपि भोगाशया मरणं नेच्छति पुमानित्याह । निष्ट्वेति । इन्द्रियाणां शिथिळत्वात् भोगच्छा निष्टता गता । पुरुषेपु बहुमानः आदरोऽपि विगाळितो नष्टः । समानाः स्वयसः स्वर्याताः मृता इत्यर्थः । सपदीदानीं येऽवशिष्टाः सुदृदः स्वभोवने।पकारकास्ते जीवितसमाः जीवितं समं पूर्णे येपामथवा मम जीवनतुल्या असमर्था।स्तिष्टन्तु वियतां वा तर्नि किमिप सिच्यतीत्यर्थः । अधुना शन्येष्ट्युत्यानं छकुटं भृत्वाऽऽसनाटुत्यानं तदिप न शीर्य मवि । निविडन तिमिरेणान्धकारेण रुद्धे आहते नयने अधत्वमिप जातं तदिप तथाविधदशायामध्यहो धृष्टो निर्छजः कायो देहो मरणरूपो योऽपायस्तेनचिकतः भोगतृण्णाया पतिनुं नेष्छतीति मावः । अशक्ततार्मिद्रयाणां दृष्ट्वा स्यक्ता भयं मृतेः । भवसागरपाराय भोगेष्छां च परिस्यजेत् ॥ शिख-रिणीवृत्तिमदम् ॥ ९ ॥

भा ॰ टी॰—इन्द्रियोंके शिथिल होनेसे भोगोंकी इच्छा निवृत्तहोगईहै, मनुष्योंमेंसे अपना आदरभी घट्याहि, समानअवस्थावालभी मरगर्यहें, जो इष्ट मित्र हैं वेभी समाप्तहोनेवाले हैं, अथवा अपनेसमान हैं, आपभी लक्ष्कि सहारे उटनेलगेहें, और नेत्रोंमें घोर अथकार छागयाहै, नथापि यह काया ऐसी निर्लब्ज है कि अपना मरण सुन चिकत हो जातीहैं।। ९॥

छप्य—भगी भोगकी चाह गयो गौरव गुमान सव। मित्र गये सुरलोक अकेले आप रहे अव। उठत सु लकडी टेक तिमिर आंखनमें छायो। शब्द सुनत नहिं कान पचन पोलत वहकायो। यह दशा बुद्धतनकी तऊ चिक्ति होत मरिया सुनत। देखो विचित्र गति जगतकी दुखह्कों सुखसों हुनन॥९॥

हिंसाशून्यमयत्न कैंग्यमश्तं धात्रों मर्हत्किल्पेंतं व्या-लोंनां पर्शवस्तृणांकुरभुजेः सृष्टीः स्थलीशांचिनः ॥ संसाराणीवलंघनक्षंमिधियां देंतिः कृतीं सीं नृणीं पीव-न्वेषयेतां प्रयानित सर्ततं सैंवें समीतिं गृणीः॥ १०॥

संव टीव-विधिष्ठतिवयमां षृतिमानीस्य देशेषकार । तिनीत । एक तकीत् पालयित पोषयवीति पाता तेन तिसारम्थं जीववयप्तितिमयक्तानः स्वतः एक कार्य कार्यः पालयित पोषयवीति पाता तेन तिसारम्थं जीववयप्तितिमयक्तानः स्वतः एक कार्यः कार्यः पालयो सर्पाणां मर्ग्यापुरुषं पाल्यते रिवत्तर् । परावत् तृत्यापुरुष्यते भागति । पाल्यते रिवत्तर् । परावत् तृत्यापुरुष्यते भागति स्वति राधिकाः दामकार्याणाः स्वति । पाल्यति स्वति प्राप्ति । स्वति । पाल्यति । स्वति । स्वति

चितं कृतमितिभावः । धात्रा तु निर्मिता सृष्टिजीविका न यथोचिता । कृतातःसर्वजीविकारं शिवं भजेत् ॥ १ ॥ शार्दूळविकीडितं कृतमिदम् ॥ १ • ॥

भा॰ टी॰—विधातानें सर्पीकेलिये हिंसारहित स्वयंपाप्त वायुका भोक जीविका बनाई, और पशु ऐसे बनाये जो घास पात खातेहें, और पृथ्वीप सोतेहें, परन्तु जिनकी बुद्धि संसार्रक्ष्पीसमुद्रके पारकरनेमें समर्थ हैं ऐसे बे मनुष्य हैं उनकी वृत्ति ऐसी बनाईहै कि जिसकी खोजमें सम्पूर्ण गुण समाह होजांय पर वह न प्राप्तहोय ॥ १०॥

छप्रय—विन उद्यम विन पापपवन सर्पनकों दीन्हों। तेसंही सबठौर घास पशुअनंकों कीन्हों। जिनकी निर्मलवृद्धि तर भवसागर समरथ। तिनकी दूबर वृत्ति हरत गुन ज्ञान प्रंथ गथ। विधि अविध करीं तें अतिअधिक याते नर परघर फिरत। निर्शि घौस पचत तनमन तचत लचत रचत उरझत गिरत॥ १०॥

नें ध्यांतं पद्मिश्वरस्ये विधिवत् संसारविच्छित्तये स्वर्गः द्वारकपाटपाटनपँदुर्धमींऽपि ंनोपार्जितः ॥ नारीपीनपयोधः रोरुयुर्गुंछं स्वैप्नेऽपि ंनीछिङ्गितं सातुः केविलमेवे योवनकः नैच्छेदे कुठौरा वयम् ॥ ११ ॥

सं० टी०—अधुनोत्तममध्यमिनकृष्टिमिति जन्मनिक्षिविधं फलं क्रमेण दर्शयंतक्रास्मार्थे किमिप न प्राप्तमित्यनुतपित । न ध्यातिमिति । संसारस्य जन्ममरणरूपस्य विच्छित्तये विनाशायिक्षास्य पदं पादकमलं यथोत्तमैध्ययिते तथाऽस्मामिविधिविचित्तेक्षारम्यण न ध्यातं नैव चिन्तितम् । तथा ह्यां ह्यास्य कपाटमावरकं यत्पापं तस्य पाटने उच्चाटने पटुःसमर्थी धर्मी यो मध्यमेः स्त्रर्गकामेः क्रियो स्ताऽप्यस्माभिनीपार्जितः । अथ च नार्थाः पानौ यौ पयोधरौ स्तनौ ऊरू च तथोर्युगुलं द्वयं व्यापार्थं विषयमोग एव पुरुपार्थ इतिमितिभिरािलंग्यते तथाऽस्माभिः स्वप्नेऽपि नािलङ्गितम् । अतः केयलं मातुर्योवनमेव वनं तस्य छेदे कुटारा एव वयं जाताः वृथेव जन्म गतं किमिप न कृतिमिति भावः । शिवच्यानं सदा कार्यमेनसो नाशहेतवे । रागािदिविपयासक्तो न नयेत्कालमात्मनः ॥१॥ वर्तम पूर्वोक्तम् ॥ ११॥

भा॰ टी॰--संसारके छेदनकरनेकेलिये ईश्वरके चरणकमलका विभिन्त इमने ध्यान नहींकिया, स्वर्गद्वारके कपाट खोलनेमें निपुण धर्मका संबय नहीं किया, और नारीके दृढकुचोंका स्वप्नमेंभी आलिङ्गन नहींकिया, हमतो केवल माताके योवनरूपी वनके काठनेकेलिये कुठारही उत्पन्नहुए॥ ११॥

छप्पय—विधिसों पूजे नाहिं पांय प्रभुके सुखकारी। प्रभुकों धरों न ध्यान सकल भवदुखकों हारी॥ खोलें खर्गकपाट भर्महू कर्यों न ऐसो । कामिनिकुचके संग रंग भर रह्यों न तैसों। हिर हाय हाय कीन्हों कहा पाय पदारथ नरजनम। जननी-जोवन वन दहन अग्निरूप प्रगटे सु हम॥ ११॥

भोगों ने भुक्ती वर्यमेवं भुक्तीरतंपोर्न तंप्तं वंयमेवंतप्तीं॥ कौंठो नें यीतो वैयमेवं यार्तास्तृष्णों नें जीणे वेयमेवें जीणेंाः॥ १२॥

सं॰ टी॰—भोगाशक्तौ वृद्धावस्थायामनुतपित । भोगा इति । अस्माभिभीगा न भुक्ताः किन्तु वयमेव भोगैर्भुक्तास्तच्छिक्तिशून्या जाताः । तथाऽस्माभिस्तपो न तप्तं किन्तु वयमेव तताः सन्तापं प्राप्ताः । तथा कालो न यातो गतः किन्तु कालस्य विद्यमानस्वे वयमेव गताः । एवं तृष्णा न जीणी जर्जरीभूता अद्यपि तरुणैव वर्तते किन्तु वयमेव जीणीः दुविला जाता इत्यर्थः । भोगाद-यस्तु नैवासास्तैः प्राप्तं निधनं खलु ॥ भजे न जीणी तृष्णा मेऽहन्तु जीर्णः कथंशिवम् ॥ उपजातिर्धन् त्तिस्म् ॥ १२ ॥

भा० टी०—विपयोंको हमने नहीं भोगा किन्तु विपयोंहीने हमको भोग-लिया अर्थात् विपयोंके भोगनेमें हमही असमर्थ होगये; हमने तप नहीं किया किन्तु तपनेही हमको तपादाला; काल व्यतीत नहीं हुआ किन्तु हमही व्यतीत होगये अर्थात् हमारीही अवस्था समाप्त होगई; और तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हमही जीर्ण होगये॥ १२॥

छप्पय-भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सव। तप्यो नाहिं तप मृढ अवस्था तपत भई अव। काल न कितह जात वैस यह चलीजात नित। वृद्ध भई नाहि आस वृद्ध वय भई छांड हित। अजहं अचेत चित चेतकर देहगेहसों नेह तज। दुखदों हरन मंगलकरन श्रीहरिहरके चरण भज॥ १२॥ क्षान्तं नेक्षमयां ग्रहोचितसुँखं त्यं तं नं संतोषतं सेहें दुःसहशीतवाततपर्नाः क्षेत्रों ने तेतं तपेः ॥ ध्यातं विके हैंनिशं नियमितंत्राणेनी शंभोः पेदं तेत्तिकेमें कैंतं येहें मुँनिभरतेरेतः फैंटेरंचितमें ॥ १३॥

सं० टी०—मुनिकर्मसदृशं तप आदि कर्मास्माभिरिप कृतं परंत्वाशया द्यारेति तम प्रलं किमिप न ल्यामित्याह । क्षान्तमिति । अस्माभिः खलानां दुर्वचनताहनादि क्षानं हें परन्तु क्षमया न किन्त्वशक्ततया । तथा गृहोचितं यरसुखं तत्तिदिच्छासत्वेऽपि अदृष्टवशाद्याति स्यक्तं न सन्तोषतः यथालंबुच्या मुनिभिस्यज्यते तथा नेत्यर्थः । तथा शीतं वातश्च तपन्य क्षं जन्या ये हेशाः दुःखविशेषास्तेऽप्यस्माभिः सोढास्त्यापि यथा मुनिभिः स्वरुचिवशात्तपत्या किं तथा तपो न ततं किन्तु विपत्त्या दुःखसहनं कृतम् । तथाहर्गिशं वित्तं धनमेव व्यातं किं तमतो नियमितप्राणैः प्राणायामैः शम्भोः पदं स्वरूपं न व्यातं । एवं मुनिभिस्तत्तत्मलेतिषं कर्मणां तस्तैः प्रलेरिवतं पूजितमादरेण कृतिमित्यर्थः । क्षमादिसाधनैर्युक्तेस्यक्ता न गृहसन्तः सोढा मुनिसमाः हेशा आश्चाया विफलीकृताः ॥ १ ॥ शार्डूलविकिडितं वृत्तमिदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—क्षमा तो हमने की परन्तु धर्मविचार कर नहीं की अर्धात् क्षां कतासे ही की, धरके सुखोंका त्याग तो किया परन्तु सन्तोपसे त्याग नहीं किया श्वात वात किया परन्तु तप नहीं किया, और दिनात हमने धनका ध्यान तो किया परन्तु प्राणाया प्रहारा शिवचरणार विन्दका ध्यान नहीं किया, इसप्रकार जो जो कर्म मुनि करते हैं वह सब हमने किये परन्तु उने मुनिलभ्यफलों से विचत रहे अर्थात् उनकमों के करने से जो फल मुनियों को प्राप्त हुए वह हमको नहीं हुए कारण इसका यही है कि चित्त से दुए आशा दूर नहीं हुई ।। १ ।।

छप्य्य--क्षमा क्षमा विन कीन विना संतोष तजे सुख। सह सीत तप घाम विना तप पाय महादुख। धर्यो विषेको ध्यान चर्छ शेखर नहि ध्यायो। तज्यो सकल संसार प्यार जब उन विस रायो। मुनि करत काज सोई करें फल दीसत विपरीत अति। अव होत कहा चिन्ता कियें अजहूं कर हरचरणरित ॥ १३॥

वैळिभिर्मुखंमाक्रौन्तं पाँछितैरंकितं शिरैंः ॥ गात्राणि शिथिळार्यन्ते तृष्णिकां तरुणाँयते ॥ १४॥ सं १ टी० — पादंनेयऽपि राजापितयं भवतीति दर्शयति । बर्टाति । बटिभिः शिथि-म कर्मनिर्मे मुख्यादास्य स्थानं तथा पर्टिनः स्टब्वेदीः शिरोऽद्गितं चिन्हितम् । मात्राणि तु हस्तपा-दादीनि विभिन्नायते विभिन्नमियाचानित अहास्तानि भवन्तीत्यर्थः । परन्तेका तृष्णा विपयभोगाशा परणायते नरणमियाचानि । दुर्वणं यदनं बन्ह्या केदीः शृक्षः शिरोऽद्वितम् । मात्रं तु शिथिछं सर्वमादा सार्य्यमेत्यरो । अनुसृब्युन्तमिदम् ॥ १४॥

भार दीर-एदानस्थामें मुखपर द्वरी पडगई, सिरके वाल श्वेत होगये, सीर सर अंग शिथिल दोगये, परन्तु केवल एक तृष्णादी वटतीजातीहे ॥ १४ ॥ दोहा—सेत चिकुर तन दशन विन वदन भयो ज्यों कूप । गात सर्वे शिथिलत भये तृष्णा तरुणस्वरूप ॥ १४ ॥

ंयेनैवाम्बरखंडेर्नं संबीतां निर्दि चन्द्रमाः॥ "तेनेवं चं दिवां भांतुरहो द्यार्गत्यमेतंयाः॥ १५॥

सं० टी० — मूर्यचन्द्रादीनां कारकाणागिष भृत्यानाभित्र नियतप्रशृत्तिरूपक्केशदर्शना-तत्पदादापि विरुष्य संसारितृहत्तेष यतित्वयमिति सृचयित । येनेति । येनेवान्वरस्याकाशस्य खण्डे-नेकदेशेन पक्षे पद्मार्ग्येन निशि रात्री चन्द्रमाः संवीतो विष्टितस्तेनैवं चाम्बरखण्डेन दिवा दिवसे मानुः सूर्योऽपि संवेष्टपते । अहे। कप्टमेतयोरिप दौर्मत्यं यदि तदा क्षुद्राधिकारिस्थितानां किं वक्तव्यमिति भावः । पराधीनतया दुःखं दृष्ट्रा सूर्यादिकष्विप ॥ पेन्द्रान्तं तत्पदं स्वक्त्वा मुक्तये प्रयतिसुर्धाः । अनुष्ट्रवृक्तमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०—िनस आकाशके एक खण्डको ओढकर रात्रिको चन्द्रमा व्यतीत करताहै दिनमें उसीको ओढकर सूर्य व्यतीत करताहै, अहो जब इन्हीकी ऐसी दुर्गति है तो हम धुद्रजनोंका क्या कहना ॥ १५॥

दोहा—इक अम्बरके ट्ककों निशिमें ओडत चन्द ।
दिनमें ओडत ताहि रि तूकत करत छछन्द ॥ १५॥
अवर्श्यं यार्तारिश्चरतेरमुषित्वापि विषयो वियोगे को मेद्रेत्यजीति नैं जैनो यैत्स्वयममूर्ने ॥ व्रजन्तः स्वातन्त्रयाँ-द्रुलपरितापाँथ मनसः स्वैयं त्यक्ता ह्येते शमसुँखमन-नैतं विद्धैति ॥ १६॥

सं ॰ टी॰ — विषयवियोगस्यावश्यं भिवतन्यत्वान्महत्मुख्वेन सेच्छ्येत्र स क्रिं इति शिक्षयन्नाह । अवश्यमित । एते विषयाश्चिरतरं बहुकाल्मुपित्वा निवासं छ्वाऽक्वयातारः स्वेच्छाभावेऽपि गमिष्यन्ति । स्वेच्छया वा स्वेछाभावे वा वियोगं को भेदो न क्रिं भेदोऽस्ति तथापि स्वयं त्यागन वियोगस्य सम्यक्कल्वादयं जना यद्यसमान् स्वयममृत् हि. यान्न त्यजति तत्तस्य मौद्धमेत्र । स्वेच्छाभावे वियोगस्य फलं दर्शयन्त्वेच्छया वियोगस्यापि फल्वः व्रजन्त इति । एते विषयाः स्वातन्त्र्यात् व्रजन्तः पुरुपस्य त्यागेच्छाभावे गच्छन्ते। मनतेऽङ्गे यः परितापस्तस्मै भवन्ति । हीति प्रसिद्धं स्वयं त्यक्ताश्चेतेऽनन्तमपारं यच्छमसुखमनर्यनिद्यकुर्णे थः परितापस्तस्मै भवन्ति । हीति प्रसिद्धं स्वयं त्यक्ताश्चेतेऽनन्तमपारं यच्छमसुखमनर्यनिद्यकुर्णे क्षितमोक्षानन्दं विद्यति करिष्यन्तीत्पर्यः । भोगा नरं त्यजेयुश्चेद्धृत्तापोऽस्यातुले भवेत् । ह्रां त्यक्तास्तु विषयाः कुर्युः सुखमनुत्तमम् । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ १६ ॥

भा॰ टी॰—वहुतकालपर्यंत भोगेहुए विषय अन्तमें अवश्य तुमकी हो। देंगे तो फिर उनके वियोग होनेमें संशयही क्या रहा; इससे मनुष्यको उति है कि इनको पहिले स्वयंही त्यागदे, क्योंकि जब वे आपसे छोडेंगें तो मनमें वडा सन्ताप देंगे और जो मनुष्य स्वयं उनको त्याग देगा तो अपारस्रक्ष भागी होगा॥ १६॥

छप्पयः — जे वे वारे भोग कहा जो वहुविध विलसे।सा सर्वदा संग रहत नहि काहू मिलसे। तू तौ तिजहै निह आपही ये उठजेहें। तव व्हें है सन्ताप अधिक चितचिन्ता छैहै। जी तजें आप यह विषयसुख तौ सुख होय अनन्त अति। दुस्तर अपार भवसिन्धुके पार होत वह विमलमित ॥ १६॥

विवेकैच्यांकोशे विदेधित शैमे शाम्यति तृषाँ परिष्णे तुंगे प्रसरतितेंशं साँ परिणातिः॥ जराजीणेश्वर्ययसनगहना क्षेपकृपेणस्तृषापात्रं यस्यां भवाति मस्तामध्यिधिपतिः॥१७॥

सं० टी॰—तृष्णाधिकारमाह । विवेकित । तृपा तृष्णा शमे उपशमे सित शाम्यति उपशमं गच्छित । पुनःकरिमन् सित । विवेकस्य व्याकोशे विकाशे सित । सा परिणितः तृष्णापि णामः तृहे उन्नते परिष्येहे आर्थ्ये सित प्रसरित । युक्तोऽयमर्थः । अपरापि या विद्यासिनी मनि सा तृहे परिष्येहे सित नितरां प्रसरित न तु व्याप्ति भजते उच्धावकाशत्वात् तथा सा तृष्णाऽपै। मस्तां देवानामध्यविपतिरिन्दः यस्यां तृष्णायां तृपापात्रं भवित तृहे परिष्येहे छेत्तुमशक्तो भवति सर्थः । मनुजानां तु का कथा । किविशिष्टो मस्तामविपतिः जराजीर्थिध्वयप्रसनगहनाक्षेपछपणः जराजीर्थिध्वयप्रसनगहनाक्षेपछपणः जराजीर्थिध्वयप्रसन्ति । दिरारिणीर्यस्तिन्दम् ॥ १७ ॥

भा० धी० — जब तृष्णाकी शांति (निवृत्ति) होतीहै तब विवेक (ज्ञान) ह्यू के मकाश होनेपर विस तृष्णाकी निवृत्तिके होनेसे पुरुप शांतिको प्राप्तहोताहै, और जैसे र तृष्णाका परिपाक अंगमें अतिशय आलिंगितहोताहै वसे वसेही वो तृष्णा आलिंगनिकथी नायिकातरह शरीरमें फेलतीहै, और जब तृष्णाका अनादर होताहै तब तिरस्कृतनायिकाकीतरह तृष्णाभी निवृत्त होतीहै; देखी जिस तृष्णाके विद्यमानहोनेसे जराजीण ऐश्वर्यके ग्रमनेसे (नाशसें) जो दुःख है उसके द्रकरनेको असमर्थ जो महत्रणाका पति इंद्र है वोभी उस तृष्णाका पात्र (आधार) होताहै हस्से जानतेहैंकि तृष्णा वही मवलहै ॥ १७॥

छएपय—तृष्णा मूल नसाय होय जब ज्ञान उदय मन। भये विषयमें लीन बढ़े दिनपर दिन चौगुन। जैसे मुग्धा नार किटन-कुच हाथ लगावत। बढत काममद अधिक अधिक तनमे सरसावत। जराजीर्ण ऐश्वर्यत्यागमें लगे कृपण अति। होय तृपाको पात्र रंक पति बन्यों देवपति॥ १७॥

भिक्षाद्रीनं तर्देषि नीर्समिकवारं शर्या च र्मृः परिजनो निजदेहमात्रीम् ॥ वेक्षं चे जीर्णशतखण्डमछीनकन्था ही ही तर्थापि विषया नै परित्येजाति ॥ १८॥

सं टी०---मामादिविषयप्रावल्यं दर्शयति । मिक्षादानमिति । अनेकगृहयावाल्य्यः या मिक्षयाऽशनं भोजनं तदिष नीरसं मधुरादिरसयितं सृहमभेकवारं च । शय्या च मृः श्राण्योः पक्ररणहीना पृथ्यी । परिजनः परिवारो निजदेहमात्रं न तु पुत्रकल्वादयः । वसं तु जीर्णिनि शतानि खण्डानि प्रमुराणि यस्यां सा यान्या । हा हाऽही कष्टं तथापि सर्वप्रकारितिमानि जनविषया न परित्यज्ञिति वस्ययं विना पुरुषं न जहतीत्यर्थः । अशनादिवित्यां च परिवारेण विजेन्तम् ॥ देहमात्राविशित् हा विषया न त्यजन्ति माम् ॥ १ ॥ वसन्तिरिक्षानृत्तम् ॥ १८ ॥

भा० टी०—जो भिक्षा मांगरूर खातेहें सोभी नीरस बाँद एकदार ही भिलतीहै, भृमिही जिनकी घट्या है, स्वदेहमान्नी जिनका परिवार है, बार जो सेफटों दुक्टोंने पनीहर्द जीर्णकन्याओं धारणकरेतेहें, हाय ! विषयदास-ना जनकाभी त्याग नहीकरतीह ॥ १८॥

छप्पय—भीख अन्न एकवार लीन विन खाय रहतहूं। फरी गुदडी ओढ वृक्षकी छाँह गहतहूं। घास पात कछु डांसि भूमि पर नितप्रति सोवत। राख्यो तन परिवार भार यह ताकी ढोवत। इह भांति रहत चाहत न कछु तऊ विषय वाधा करत। हरि हाय तेरी सरन आय पर्यो इनसों डरत॥ १८॥

रूपतिरस्कामाइ।

रतेनो मांसयंथी कनेककलँशावित्युपिमंतो मुखं छेष्मा गाँरं तद्पि च शशांकेन तुलितम्॥ स्रवेन्मूत्रक्किनं करिवरक रेरेपिधं जधेनेमहो निधं रूपं कविर्जनविशेषेगुंरे कृतम्॥१९॥

सं टी - स्त्रीणां रूपं किवजनिवशेषैः कि विश्रेष्टेर्गुरु महत् रमणीयिमितिमानः । कृतं किएतं वस्तुतस्तदिनिद्यमित्याह । स्तनाविति । अहो इति दुःखे निद्यरूपं किवजनिवेशेर्गुरु कृतं किएतम् । कथं निद्यम् । स्तना कुचौ मांसस्य प्रन्था । परिभत्युपमितौ उपमानितौ । इति कि फनककछशौ सुवर्णकछशौ । चान्यत् मुखं स्त्रेष्मागारं तदिप च शशाङ्किन तुष्ठितं चन्द्रमसा समिनं कृतम् । जघनं स्त्रवन्मूत्रेण क्रिमार्गई तदिप किरिवरकरस्पित्रं गजेन्द्रशुण्डादण्डेन स्पर्धाकारकं तत्सादश्येनवितिति भावः । किविभिरितरमणीयत्वेन विजितमि स्त्रीक्रपमितिनन्द्यम तस्तिद्विप्योऽ स्यन्ताभिष्ठापो न स्वीकरणीय इतिभावः । शिखिरणीवृत्तिमिदम् ॥ १९॥

भा० टी॰—सियों के स्तन हैं तौ मांसके लोथडे परन्तु उनको उपमा दी गई है सुवर्णकलशकी अर्थात् उनको ऐसे सुन्दर बताते हैं जैसे सुवर्णके कल्य, सुख है तौ कफका स्थान परन्तु उसकी तुलना करते हैं चन्द्रमासे अर्थात् सुख है तौ कफका स्थान परन्तु उसकी तुलना करते हैं चन्द्रमासे अर्थात् सुख है चन्द्रमा केसमान कान्तिमान् वताते हैं, स्त्रीके जघन हैं तौ मूत्रसे भी गेहुए पान्तु उनको उपमा देते हैं गजेन्द्रके शुण्डकी, इसमकार निन्दितक पको कविजना देखों केसा वे परिमाण ववादियाह ॥ १९ ॥

छुप्य — कुच आभिपकी गांठ कनकके कलश कहत किन । मुखहू कफको धाम कहत शाशके समान छिन । इरत मूत्र अरु धातु भरी दुर्गंध ठोर सन । ताकों चम्पकवेल कहत रस रेल ठेल दन । यह नारी निहारी निन्दतन नहके निप्यी नानरे । याकों नदाय नांको निरद नोले महुत उतानरे ॥ १९॥ अर्जानन्माहातेम्यं पततुं रालंभो तीव्रद्हॅने सं मी-नेर्डिं प्यज्ञानाद्दीडरायुँतमश्चातुं पिशितम्याविजॉनन्तोऽप्ये -ते वैयमिहं विपज्जालजिटलें ब्रें मुश्रामेः कार्मानहें हैं गैं-हनो मोहमहिमीं ॥ २०॥

सं ॰ टी ॰ — अधुना मोहमाहात्म्यं चिन्तयननुतपित । अजानिनिति । शलभः कीटिवि-शेपित्तीवदहनस्य प्रश्विलताभ्रेमीहात्म्यं भस्मीकरणरूपमजानंस्तस्मिनेव पततु । स मीनो मस्योऽ प्यज्ञानान्मारकत्वज्ञानाभायाद्विश्चिन लोहकण्टकेन युतं पिशितं मांसमश्रातु खादतु । वयं त्वेते संसारिणो विपदांजालैः समूहैर्जिटिलानुद्मिथितान् कामान् विपयभोगान् इह संसारे जानन्तोऽपि न सुधामोऽहहाहो कष्टं मोहस्य महिमा गहनोऽतक्यं इत्यर्थः। नश्यतो विपयात्रान्तानज्ञान् ज्ञान-विशेषतः। पश्यन्तोऽपि न तत्थागं कुमों मोहप्रमावतः॥ १॥ शिखरिणीवृत्तमिदम्॥ २०॥

भा० टी०—पतङ्ग अग्निकी शिखामें गिरताहै परन्तु वह यह नहीं जानता कि उसमें गिरनेसे भस्म होनाऊंगा, मछली वंशीमें लगेहुए मांसको खातीहै परन्तु वह यह नहीं जानती कि इसके खानेसे कांटा उसके कण्डमे छिदेगा किन्तु हमको देखो कि हम जानतेहुएभी इन दुःखदायी विषयोंको नहीं त्यागेवेहैं। अही यह मोहमहिमा कैसी मवलहैं! ॥ २०॥

छप्पय—जानत नांहि पतंग अग्निको तेजमयी तन। गिरत रूपकों देखि जरत अपने अविवेकन। तेसेही यह मीन मांसको लोभ लुभायो। कण्टक जानत नांहि न्याय वह कण्ठ छिदायो। हम जान बूझ संकट सहत छांड सकत नाहि जगतसुख। यह महा मोहमहिमा प्रवल देत दुहुनकों दोप दुख॥ २०॥

अथ दुर्जनमुह्दिश्याह।

फलेमलेंमशनांय स्वादुं पानोंय तोयं शर्यनमविन्षृष्टे वासेंसी वेंल्कले चै ॥ धनलवमधुपानभ्रान्तसवेंन्द्रियाणीं-मविनेंयमनुमेन्तुं 'नोत्सेंहे दुर्जनानींम् ॥ २१ ॥ सं० टी०—येनकेनिचिनिर्वाहे धानेनां निरादरों न सोढन्य इसाह । फर्डामी अश्वनाय भोजनाय फरूमळं पर्य्याप्तमस्ति । पानाय स्त्राहु तोयमरूम् । अश्वनिष्टुष्टे शयनमरूम् । वस्त्रेल्ट हे त्राससी अरूमिसेशंवियं सतां वृत्तमेवं सति धनस्य ठ्यो छेशः सएव मधु मादकसुरों स्त्रान्तान्यस्थिराणींद्रियाणि येपां तेपां दुर्जनानामायेनयं औद्धत्यरुक्षणमप्तमानमनुमन्तुं स्वीकृषि तु नोत्सहे पामराः सहन्ति चेत्तिहें सहंत्वहं तु न सहामीत्यर्थः । वसनं चाशनं धात्रा वक्षितं जलम् ॥ शयनं विपुलं भूमिर्नुर्वाक्यं कि वृथा सहे ॥ १ ॥ माळिनीवृत्तिमदम् ॥ २०॥

भा० टी०—फल भोजन करनेकेलिये, मधुर जल पीनेको, पृथ्वी अपन करनेकेलिये, और वृक्षकी छाल पहिरनेकेलिये यथेष्ट है फिर धनरूपी मिरिगाँ उन्मत्त दुर्जनोंके सन्मुख निरादर सहनकरनेकेलिये क्यों उत्सुक हों॥ २१॥

दोहा-भूमिशयन वल्कल वसन फल भोजन जलपान। धनसद साते नरनको कौन सहत अपमान॥ २१॥

मानितासुद्दिश्याह।

विपुलेहद्येर्धन्येः केश्चिज्ञगंर्जानतं पुराँ विधृतमपरिं 'सं चान्ये' विजित्थं तृणं यथां ॥ इहे हि" मुवनान्यं धीर्राश्चतुर्दशं मुं अते कतिपयपुरस्वीन्ये पुंसां के एषे मद्वेरः ॥ २२ ॥

मं० टी०—स्वश्यसाम्ये नराणां मदाधिक्यमनुचितिमित्याह । विषुष्टहर्योरिते । कि इत्युर्वितिपुरुद्धर्यः सर्वद्ववृद्धिनः किथिदेत्रज्ञात्युरा जानितम्यादितमप्रैरिवृतं पाठितम्योर्द्धिः स्वित्यत्यात्यः कि इद्धादितम्पर्यात्यः पाठितम्याद्धिः स्वत्याद्धिः विजयत्याः विजयत्याः विजयत्याः पात्याः स्वत्याः स्वत्याः स्वत्याः स्वत्याः स्वति स्वित्याः दिविचतुर्गाः पुराणां स्वास्य आविष्यः द्वाः स्वत्यारः स्वत्याः स्वत्याः स्वत्याः स्वत्याः स्वत्याः स्वति स्वति स्वोऽत्याममानाः मदेन सर्वे नोतितः इत्यतिः । स्वत्याः दिविचत् स्वत्यः स्वत्याः प्रतिन्तिः । स्वति स्वति

भाव टीट-चेंडिती ऐस सरीत महात्मा हुए जिनेन यह जगत् वस्ति। विद्या, बोर्ड ऐसे हुए जिनेन इस जगत् के धारणीक्या, कोर्ड ऐसे हुए जिनेन इस जगतको धारणीक्या, कोर्ड ऐसे हुए जिने इस त्यातको धारणीक्या, कोर्ड ऐसे धारी इस त्यातको स्वाहित स्वाहित

एएय-भेषे जगतमं धन्य धीर जिन जगत रच्योंहै। गाह धारी शीश अजी यह नौहिं लच्यों है। काह दीनो दान जीत काह बस कीनों। शुद्रन चनुर्दश भोग कहों। काह जस लीनों। एकसों एक अधिकहि सबे नुम हो तिनसें तुच्छिनत। दस बीस नगरके नृषति इहै यह सदको न्वर तोहि कित॥ २२॥

निरष्ट्राणामधिकारनाह ।

त्वं रोजा वंयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नतोः रूर्या-तर्रत्वं विभविर्यक्षांसि कवियो दिख्नु प्रतन्वैन्ति नेः॥ ईत्थं मानेंद्र नातिदेरमुभेयोरंप्यीवयोरन्तेरं थैयस्मासुं पराङ्मु-खोऽसि वेयिमेप्येकान्तेतो निस्पृहीः॥ २३॥

सं० टी॰ — अथ यतिराहोः संदादं याध्यंस्तत्र तायत्विर्धनं कधिद्राजानमाह । स्विभिति हाग्यां । हे मानद मानं ददाक्षीति मानदः त्तत्तंपुद्धी हे मानद स्वं राजा राज्याभिमानी ययमि लपातितः सेवितो ये। गुरुस्तस्माहुज्या या प्रद्धा सदसाहिवेकशालिनी बुद्धिस्तदिभमानेनो-पता लजति प्राप्ताः । स्वं विभवेगीजनुरमादिसम्बद्धिः ख्यातः प्रसिद्धः नोऽस्माकन्तु यशांसि कवयः परगुणवित्तारो दिश्च प्रतन्वन्ति विस्तारयन्ति । इत्यनमुना प्रकारेण मानं चति खण्डयति ददाति या तत्त्तंस्वोधनं हे मानद ! आवयोरुभयोरन्तरं भेदोऽतिदृरं नास्ति तथापि यदासमानुं पराङ्गुखः लदासीनोऽसि तर्हि वयमप्पेकान्ततो नियमेन निस्पृहास्तवेष्ण्यान्या इत्यर्थः । विरक्तो गुरुतो लव्या प्रश्नी च भवतारिकाम । राज्याभिमानिनं तुन्छं झात्या भूमी समावरेत् ॥ १ ॥ शार्द्वलिक्नी-हितं यत्तिसम् ॥ २३ ॥

भा० टी०--है राजन ! तूं राज्याभिमानी है तौ हमभी गुरुकी सेवा करके उत्तम बुद्धि प्राप्तकर उचपदको प्राप्तहुएहैं, और तूं यदि अपने धनके कारण प्रसिद्ध है तो देख हमारे यहाँका वर्णन कविगण देश देशान्तरों कररहेहैं, इस-प्रकार है मानद ! (मानके खंडन करनेवाले अथवा मान देनेवाले) तुझमें और हममें बहुत अन्तर नहीं है इसपरभी तूं यदि हमसे गुख फेरता है तौ हम तुझसेभी अथिक निस्प्रह हैं ॥ २३ ॥

भर्नृहरिनिराचितं-

छप्पय-नुम एथ्वीपति भूप भरे अभिमान विराजत। इन पाई गुरु गेह बुद्धि वल ताके गाजत। तुम धनसों विख्यात सुकवि गावत कछु पावत । हम जससों विख्यात रहत निश्नि पात पठावत । तुम हमहिं बीच अन्तर बडो देखों सोच विनार

चित । एते पर जो मुख फेर हो तो हमकों एकानत हित ॥२३॥ अभुकेंग्यां यसेवां क्षणमिष ने यांतं नुपंश्तिभूवसेतस्या संनि के इवे बहुमीनः क्षितिभुजीम् ॥ तद्शैंस्यार्थ्येशे तदः क्यबंद्रकेडिये प्रतियो विषादे केर्त्वये विदेशित जडी

प्रत्नेन महम ॥ २४॥

मृिलेंण्डो जलरेखया वलियतः सेवींऽ पैयं ने त्वण्रंगीलियं सं एवं संयुगर्शति श्रीं इति गिलिर्मु पैयते ॥ नो दें सुदिनेतेऽथवीं किमेपि ते अद्भी दिन्दी श्रीर्थें धिक्षे तिनपुस्पिधमान्धनकेणं वाञ्छीनित ते भैयोऽपि ये ॥ २५॥

सं० टी०-धुद्रा दरिद्रास्ताषद्राजानस्तेभ्यो धनकणं ये षाच्छन्ति तान् धिक्कारयित ! इतिण्ड इति । सर्वे।ऽप्ययं मृत्यिण्डो भूभागो जलरेखया समुद्ररूपया वलियतो बेष्टितोऽतो निर्वार्थभाणे पद्मभूतेषु गगनादारभ्य वाल्वादीनौ द्यातगुणन्यूनतया सर्विषक्षया पृथिन्या न्यूनत्वासनु निर्देशनाणुः सूक्ष्मस्तमेव मृत्यिण्डं राह्यो गणाः संयुगानौ संप्रामाणौ हातैः स्वोशीक्रस्य स्वस्वभागं हत्वा मुद्यते । भृद्यामतिशयेन क्षुद्रा दरिद्रास्ते राजानः पूर्व नो दशुरथवेदानौ किमिप ददते तेभ्योऽपि वे मन्दा धनलवं वाल्छिन्त तान् पुरुरेण्यधमान् धिक् धिक् । ल्रष्यी पृथ्वी समुद्दिश्य युद्धं कृत्वा सहस्रशः। तृथैः सा भुज्यते तेभ्यो धनं वाल्छिन्त तांस्तु धिक् ॥१॥ शार्द्छविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥२९॥

भा॰ टी॰—यह सम्पूर्ण पृथ्वी भिट्टीका एक बहुत छोटा थिण्ड है जो गरों और समुद्रक्षी पानीकी रेखासे थिराहुआ है, फिर मृत्तिकाके इसी छोटेसे थिएको अनेक राजागण आपसमें युद्ध फर छोटे छोटे भागोंपर अपना स्वत्व जमाकर राज करते हैं, ऐसे छुद्र और दिरद्री राजाओं को दानी कहकर परीक्षा करते हैं कि देखें अवभी दान देते हैं वा नहीं इसतरह इन नी चोंसे धनकी आदा करने वाले अथम पुरुषों को थिकार है।। २५॥

छप्प्य-एक मृतिकाको पिण्ड रहत जलमांहि निरन्तर। सोज सबही नाहि तनकसो ताहूमें डर। करत हजारन जंग भूप तब भोग करत वित। मिटत आपनी प्यास दानको होत कहा चित। ऐसे दरिद्र दुखसों भरे तिनहुं सो जो चहत धन। धि-कार जन्म वा श्रधमकों सदा सर्वदा लीन मन॥ २५॥

दुर्भगतेवकस्य वाक्यमाह ।

ने विटां ने नर्टा ने गार्थका ने परद्रोहनिवर्धेंबुद्धयः ॥ तेव संसैदि के वैंयं विभो स्तनभारोन्नभितीं ने योषिता।२६॥

सं० टी०—न नटा इति । हे नृप। तत्र संसीट सभायां ये योग्यास्तेषु वयं केन केशे भवामः । एतदेवाह न नटा नर्तका न विटाः प्रस्तायोक्तिभिः प्रसादकरा न । नापि गावरः गानकुश्राखाः । नापि परद्रोहे निवद्धा बुद्धियरेताहशाः पिशुना इसर्थः । न च स्तनभारेणेक्ति नतीभूताः क्षियो वयं भवामः । एते मटुक्तास्तव प्रिया भवन्ति तेषां मध्ये वयं सन्यासिनः न केशि त्येथः । अतस्तव प्रीतिरस्मासु कथं भवेदिति भावः । नटादिसक्तं राजानं कुकथाश्रवणित्रम् । स्वात्मानं तदनहें च पश्यन्यतिव्येतकीयत् ॥ १ ॥ वैताखीयं वृक्तियस् ॥ २६ ॥

आ॰ टी॰-हे राजन्! न तौ हम नट हैं, न हम विट हैं, न गर्वेपे हैं। परत्नोह करनेकी हमारी इच्छा है, और न हम स्तनोंके भारसे नमीहुई हिंगी हैं, फिर हमको तेरी सभागें कौन पूछेंगा॥ २६॥

दोहा—नट भट विट गायन नहीं नहिं नादिनके मार्हि। कौन आंति भूपति मिलन तरुणीओ हम नाहिं॥१६॥

पुर्शं विद्वेत्तांसीदुपश्सवंतां क्षेत्राहतंये गतां काठेनासीं विषयसुखिसदेशे विषयिणार्स् ॥ इदीनीं सन्त्रेक्ष्यं क्षितितः छभुंजः शाह्मविर्युखानेहो केष्टं सीऽपि प्रतिदिनंमधीं प्रशिवानेही प्रविश्वेषा प्रविश्वेषा प्रशिवाने । २७॥

सं० टी०—अधुना कालप्रभावात् सिंद्ध्याया उत्तरीत्तरं न्हासं पश्यन्ननुतपित । पुरित । अमे विद्वारी भावे। विद्वत्ता पाण्टित्यममंदिनिध्यां न कामक्रीधादिना महिना धीर्यपं तेषां मुमुक्ष्णां हेशहर्वरे दहायनात्मम् आत्मभानयादिनिध्ययं आसीद्भवत् । असी विद्वता कालेन पश्चात् किर्वित्समेवन विपियणां काभिनां यदिपयमुखं तिस्तद्वयं गता प्राता । इदानीं वर्गमानकाले क्षितितलभुनो गर्वः साक्षिमुखन् साहाश्रवणक्षियां जैतान् सम्भेष्य दृष्ट्वा साइपि विषयसुखसाधिकाडपि प्रतिदिनमृतीम् त्रात्मधेडयो नीर्चनित्तेः प्रविद्वति विषयसुखम्भपे न माध्यत्यहे। दीर्माणं लोकस्येत्यर्थः । विद्वति पुग्नस्वाभित् मृतियां हेशहारिणां । तत्रोडभूहिष्यप्रार्थ्य याधुना नास्ति साइपि वे । शिलांगि इत्तरिस् ॥ २७ ॥

भा० टी॰—एहिले में। विद्या पण्डितोंके छेब दूर करनेके मिमिन पी किर कुछ समय व्यक्ती होनेपर वह दायीजनोंकी विषयसुखसिद्धीका हेते औं भीर अब इससम्बर्भे की यह विद्याभी राजाओंको द्याखविमुख देखकर मिनिर्देश अधीर्जाको माम होतीजातीं ।। २७॥ दोहा—विद्या दुखनाशक हती फेर विश्य सुख दीन । जात रसातलकों चली देख नृपन्ह मतहीन ॥२७॥ साहंकारं पुरुषमुद्दिश्याह ।

सं जोतः केऽप्यासिन्मदनारिपुणां मूर्झिं घवँलं कर्पालं यंस्योचे विनिहित्सिंगलंकारंविधये ॥ र्वंभिः प्राणत्राणप्रव-णमंतिभः 'केश्चिद्धनीं नमिंद्धः केः पुंसीमयमतुलदर्प-व्यरभैरः ॥ २८॥

सं ६ २० — अधुना प्राणपे।पक्षमृहजनक्रतप्रणामेनाहं क्रतार्थ इस्रामिमानो नोचित इस्राह । स जात इति । एरा स प्रतिस्ते जात उत्पन्नः सन् कोऽप्यचिन्त्यमिहमाऽऽसीत् । यस्य धवलमुञ्जलं कपालं शिरोऽस्थि मदनिरिषणा महादेभेनालक्ष्मार्यविधये शोमार्थ मूर्धि स्वमस्तके उचैरादरएर्वकं ययास्यात्तया विशेषेण निंदितं स्थापितम् । अपुनः प्राणानां त्राणे रक्षणे प्रवणा प्रवाहवती
मतिर्थपां तैः केश्चित्रृभिर्नमिद्धः सद्धिः एतां धनिवद्याभासवतामयं प्रत्यक्षोऽनुलोऽनुपमे द्पेंऽभिमानः
स एव व्यरस्तस्य भरो भारः कः वयमीश्वरा यानेत नमन्तिस्यभिमानः कर्तुमयोग्य इस्पर्धः ।
शिखरिषा,वृत्तीनदम् ॥ २८ ॥

भा० टी०—-पहिले तो ऐसे मनुष्य उत्पन्न हुए ।जेनके उज्वलकपालों-की मालाको शिवजीने शोभाकेलिये अपने मस्तकपर धारणाकिया, अब देखो अपने प्राण पोपणकरनेवाले थोडेसे मनुष्योद्वारा प्रतिष्ठा पाकर मनुष्य अभिमान-रूपी ज्वरसे केसे भारी होरहेहें॥ २८॥

दोहा--ऐसे हू जगमें भये सुण्डमाल शिव कीना

धनलोभी नर नवतलिख तुमको मद ज्वर लीन ॥२८॥ अर्थानामिशिषे त्वं वयमिषि च गिरामिशिषे यांविदिर्श्यं गूरिस्तेवं वादिदण्जवरशमनविधींवक्षयं पार्टवं नेः ॥ सेवेन्ते त्वां धनार्ट्या मितमलहैंतये मीमिषि अोर्तुकामा मर्च्येप्या-स्थी ने चे तेंत्वाय ममें सुतरामेष राजेन गैतोऽस्नि ॥२९॥ सं० टी०—अर्थानामिति । हे राजन् ! त्यमर्थानां मोगसाधनद्रव्याणामीशिपे ईशिता भविस वयमपि च गिरां वाणीनां इस्मेहे ईशितारः स्मः । त्यं शूरोऽसि नोऽस्माकमपि वादिनां यो दर्पोऽहङ्कारः स एव ज्वरस्तस्य शमनविधो शान्तिकरणे अक्षयं पाटवं कुशळत्वमिति । धनान्वा धनप्राप्तये गतिविवेकास्त्वां सेवन्ते मितमळहत्तये वृद्धिस्थाज्ञाननाशायोपनिपदः दिशास्त्रं श्रोतुकामा मामपि सेवन्ते । यावद्स्मादित्यमुक्तेन प्रकारेण समत्वेऽपि मिय चेद्यदि हे राजंस्तवः स्था विश्वासो न तिर्हि त्विय मम सुतरामास्था नेत्येपस्तव प्रत्यक्षोऽहं गतोऽस्मि गच्छामीत्यर्थः । नृपस्य यतिसाम्येऽपि मवत्येका विशेषता । राजानो नरकं यान्ति यतिर्विण्णोः परं पदम् ॥ १ ॥ स्वग्वरावृत्तमिदम् ॥ २ ॥ स्वत्येका विशेषता । । राजानो नरकं यान्ति यतिर्विण्णोः परं पदम् ॥ १ ॥ स्वग्वरावृत्तमिदम् ॥ २ ॥

भा० टी०—हे राजन्! यदि तूं धनके कोपका स्वामी है तो हमभी वाणीके ईश्वर हैं, तूं युद्ध करनेमें शूर है तो हम वादियों के अहंकाररूपी ज्वरके नाशकरनेमें कुशल हैं, तुमको धनाथिलोग सेवनकरतेहैं तो हमकोभी बुद्धिकी मिलनता दूर करनेकेलिये शास्त्रश्रवणकरनेकी इच्छावाले मनुष्य सेवनकरतेहैं, इसमकार समता होनेपरभी हे राजन्! यदि तुझारी श्रद्धा हममें नहींहै तो हमारीभी तुममें कुछ आस्था नहींहै, लो अब हम जातेहैं। २९॥

छप्य--तुम अवनीके ईश ईश हमहूं वाणीके। तुम हों-रणमें धीर वीर गाढे अति जीके। त्योंही विद्यावाद करत हमहूं निहं हते। प्रतिपक्षीके सान सार अपने विस्तारे। सब लोभी नर सेवत तुद्धों हमको सिव श्रोता भले। तुमकों न हमारी चाह तो हमहुं ह्यांसे उठचले॥ २९॥

निमर्भतास्वरूपसाह।

अतिक्रान्तः कौलो लटभललनामोगसुभँगो भ्रमन्तः श्रान्ताः स्मैः सुचिरैनिहँ संसारसरंणो ॥ इदीनीं स्वासिन्धिमित्रं संसारसरंणो ॥ इदीनीं स्वासिन्धिमित्रं सुतिरे पूर्वेशैरे शिवैं शिवैं शिवैं शिवैं शिवें शिवें

सं० टी०—अनुना संसारे उत्पन्नग्छानिर्गङ्गातीरे सप्रेम शिवान्हानं प्रतिजानीते । अतिकान्त इति । हे सखे । छटभछछनाभोगसुभगः छटभाः प्रातछावण्या या छछनाः ख्रियस्तासं भोगेन सुभगो मनोज्ञे यः काछः सोऽतिकान्तो गतः वयं तु इह संसारसरणा जननमरणछक्षणे संसारमार्गे सचिरं बहुकाछं श्रमन्तः सन्तः श्रान्ता ग्छानि प्रातास्म तस्मादिदानी स्वःसिन्बोः स्वर्गी पालटसुवि तीरभूमा सुनार्दः पूरकारेः समाजन्दनारिरः उत्तरसहितेरूर्धिश्वासेः सह सप्रेमा गप्रदा गीवितां सारक्षाः सन्तो वर्धं है शिव हे शिव हे शिवेत्यमुना प्रकारेण शिवेत्युत्तमं नाम प्रतनुनी विस्तारवामा न पुनः संसोर भीगद्यार्धं कुर्म इत्यर्थः।मानुपं जन्म सम्प्राप्य भीगांस्यक्वाऽथ द्रतः। महातीरे शिवाव्हानं कुर्यात् सप्रेमविक्तलः॥ १॥ शिखरिणीवृत्तमिदम्॥ ३०॥

भार टी र--हे तस्ते ! सुन्दर २ स्त्रियोंके संग भोग करनेमें सुभग यौवन-काल तो व्यतीत होगया और अब हम इस संसारसरणिमें श्रमणकरतेहुए वहुत धकायेंहें, अब तो हम श्रीगङ्गाजीके तटपर उचस्वरसे प्रेमपूर्वक शिव शिव ऐसा कहतेहुए जप करेंगे और पुनः संसारमें भोगदृष्टि न करेंगे ॥ ३०॥

दोहा—रमणकाल योवन गयो थक्यो भ्रमत संसार। देहुं गंगतट होपवय शिव शिव जपत विसार॥ ३०॥

मीन स्लीयिनि खण्डिते चै वसुँनि व्यथं प्रयातेऽथिनि क्षीणे वन्धुंजने भैते परिजेने नेष्टे देंनियोंवने ॥ युंकं केवेंलमेतिदेव सुधियां येजन्हुकन्यापयःपूत्रयाविगरीन्द्रक-न्द्रद्रीकुँक्जे निवासैं कचित् ॥ ३१॥

सं० टी०—सर्वहानी गङ्गातीरगिरिगुहानिवास एवोचित इत्याह । माने इति । माने सत्कारे म्हायिनि क्षणि सति, वसुनि धने च खण्डिते नष्ट सति, अर्थिनि याचके व्यथे स्वगृहानि-राशे प्रयाते गते सति, वन्धुजने पुत्रभार्यादौ क्षणि नाशं प्राप्ते सति, परिजने भृत्यवर्गे वेतनामावेन गते निर्गते सति, यावने शनैनष्टे सति, तदा सुधियां प्राज्ञानां केवल्येनतदेव युक्तम् । किमेतजन्ह-कन्या श्रीगङ्गा तस्याः पयसा पूता ग्रावाणः शिला यस्य ताहशो यो गिरीन्द्रो हिमालयस्तस्य कन्दरे महागते या दरी स्वल्पे गर्तस्तस्याः कुञ्जे लतापिहितस्थाने किचित्रेवासः कर्तव्य इति । सन्माने गिलिते नष्टे योवने विल्यं गते । परिवारे शिवः सेव्यो गङ्गातीरिनवासिना ॥ १ ॥ शार्द्लिविक्तीडितं वृत्तिम्दम् ॥ ३ १ ॥

भा० द्वी०-इस समय जब मान नष्ट होगयाहै, धनका नाश होगयाहै, याचकगण विमुख होनेछगेहें, भाता स्त्री पुत्रादि नष्ट होगयेहें, और शनैः शनैः युवावस्थाभी नष्ट होतीजातीहे, तो अब बुद्धिमान् मनुष्योंको उचित है की श्रीगङ्गाजीके जलसे पावित्रकीहुई हिमालयपर्वतकी किसी गुहामें निवास करें ॥ ३१॥

दोहा-गयों मान जोवन रु धन भिक्षुक जात निरास। अव तौ मोको उचित यह श्रीगङ्गातटवास॥३१॥ परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्यं वर्हुधा प्रसादं किं नेतुं विश्वीस हद्यं क्लेश्वाकिलेम् ॥ प्रसादं किं स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे विसुक्तः संकर्देषः किमीभिलेषितं पुष्यिति ने ते ॥ ३२॥

सं० टी०——चित्तं प्रायो बोधयन् हे चेतः! पराराधनमुःस्टब्य स्वशुद्धी यःनो निभेष इत्याह। परेपामिति। हे हृद्य! परेपामन्येपां धनमन्दाधानां चेतांसि प्रतिदिवसं बहुधा नानाप्रकारणाराच्य प्रसादं परेपां प्रसन्नतां नेतुं प्रापयितुं किं करमात् क्षेशालक्षणं कललं पंकं विशासि तत्र मग्नो भवसि। ननु परेपां प्रसादे ते ममाभिलपितं पूर्यिष्यन्तीति तत्राह। प्रसन्न इति। अन्तः स्वाप्तन्येय स्वयं स्वेनेय व्यथि प्रसन्ने साति ते तत्र विविक्तः शुद्धः सङ्कल्पस्तेऽभिलपितमीपितं किं न पुष्यित पुष्टं न करिष्यित। कथंभृते व्यथि उदित उत्पन्नश्चिन्तामणेर्गुणः सर्वेदिसतप्रकावण्यः सर्णे। यर्भिसरतिसम् स्वयं व्यथि प्रसन्ने पदार्थचनुष्टयं मिल्पितिति भावः। यथान्येपां प्रसादाय यतते मानवोऽनिशम्। तथा स्वान्तःप्रसादाय यतते किं न मृद्धाः। ॥ र ॥ शिखरिणीष्टतिमदम् ॥ २२ ॥

भा० टी०—हे मन! नानापकारसे प्रतिदिन पराये चित्तको प्रसन्न करनेके छिये त् क्यों हेबान्द्रपी कीचडमें फंसताह, अपनेहीमें प्रसन्न होक्र जब तृं चिन्तापणिकेसे गुण प्रगटकरेगा अर्थात् बान्ति सन्तोप आदि गुण प्रहण करेगा तो क्या तरे गुळु वाश्छित संकल्प पूरे न होंगे॥ ३९॥

दोहा—तृही रीझत क्यों नहीं कहा रिझावत और । तेरेही आनन्दसे चिन्तामणि सवटौर ॥ ३२ ॥ अथ भोगपद्वतिः ।

भोगे रोगंभेयं कुँछ च्युतिभैयं वित्ते नृपार्छां हुँयं भीने देन्यभेयं देखे रिपुभैयं केंपे जर्गया भयेष् ॥ शोंखे वादेभयं गुँपे त्वर्लभयं कींचे कृतीन्ताईयं सैर्थ वर्र्लु भयाँन्विनं भृषि नृणां वैराग्यमेर्थेभियम् ॥ ३३ ॥

सीर ही के — इंडानी के स्वयन्ति इत्या क्षति र करित होता होता होता होता । की से सामित की हीती क्षतिक क्षति के के विकास होता है। का स्तुति है जूडि के सकी यादि सकी समा समापन सम्बद्धि वैराग्यमेवाभयं वेराग्यवतो भयं कुतोऽपि नास्तीत्पर्थः । देहाभिमानयुक्तस्य भयमस्ति तृणादपि । सर्वस्मात् किं विरक्तस्य ब्रह्मणोऽपि भयं भवेत् ॥ १ ॥ शार्दृङ्विक्वीडितं वृक्तमिदम् ॥ ३३ ॥

साठ टी०—भोगीको रोगका भय है, कुछीनको क्षतिका भय है, धनीको राजाका भय है, मोनीको दीनताका भय है, बलबानको ब्रह्मका भय है, म्यको जराबस्थाका भय है, बाह्ममें वादिबवादका भय है, गुणवानको दुर्जनका भय है, शरीरको मृत्युका भय है, इसमकार सम्पूर्ण बस्तु भयान्वित है, अभय तो केवल एक वैराग्यही है।। ३३॥

छप्रय— चहुत सोसको संग तहां इन रोगनको डर । धनहं-को डर भूप आग्ने अरु त्योंही तस्कर । सेवामें भग त्याभि समर-में शत्रुनको अय । कुलहमें भय नारि देहको काल करन छप । आभिमान डरत अपमानसो गुन डरपत सुन खलश्यद । स्य गिरत परत भयसों भरे अभय एक वैराग्यपद ॥ ३३ ॥

अमीपां त्राणांनां तुलितविसिनीपत्रपर्यंसां होते विद्या-स्मामिविंगालितविवेकेव्यवसितम्॥ यदार्वानामेये हिवणम-दिनःशंकमनसां कृतं वीतैंबीडेनिजगुणकथापींतकसीप॥३१

सं० टी०—क्षणभदुरप्राणपीपणार्थं मृहानागम याविभिनाम सक्ति है कियान प्राप्ति है कियान प्राप्ति । तुलितमुपितं विसिनी कमिलिनी रायहर र प्राप्ति । विभिन्न कमिलिनी विसिनी कमिलिनी रायहर र प्राप्ति । विभिन्न कियान कियान

 कुण्डलिया--जैसे पंकज पत्रपर जल चञ्चल दुरि जात। त्योंही चंचलप्राण हू ताजि जैहें निजगात। ताजि जेहें निजगात वात यह नीकें जानत। तौऊ छांड विवेक नृपनकी सेवा जानत। निजगुण करत वखान निलजता उघरी ऐसें। भूलगयो सतज्ञान मूढ अज्ञानी जैसें॥ ३४॥

श्रातैः कष्टैमहो महान्सं नृपातः सामन्त चैकं च तैत्यां वें तर्र्य चै सीपि राजपरिषेत्तीं श्रान्द्र विम्वानेनाः ॥ उद्वित्तः से च राजपुत्रे निवहरते वनिद्नै रत्ताः केंथाः सैर्व यस्य वर्शीद्र गीत्रमृतिपेदं कालीय तैरमे नमैः ॥ ३५॥

सं टी० — सर्विमिदं कालाधीनं बुध्वा नाशशीलनृपाणां सेवनं त्यक्त्वा केवलं भगवासे वनमेव कार्यिमिति सूचयन्नाह । श्रातिरिति । तस्मै कालाय नमः। अहो इत्याश्चर्ये । भो श्रातः । कष्टं विल्लोक्यताम् । किं कष्टं स एव महान्तृपतिः चान्यत्सामन्तचकं माण्डलिकराजमण्डलं चान्यः तस्य पार्थे सापि राजपरिपत्सापि राजसभा चान्यत्ताश्चन्द्रविम्वानना नार्यः । चान्यत् स राजपुत्रनिवहः नृपकुमारसमूहः । कथंभूतो राजपुत्रनिवहः टिवृक्तः सद्र्पः । चान्यत्ते विन्दनः भद्राश्चान्यास्ताः कथाः यस्य वशात् तत्सर्वे पूर्वेक्तं स्मृतिपदमगात् कथाशेपं जगाम । कालाय तस्मै नमः । यतः सर्वे क्षीयते परन्तु कालो न क्षीयते । शार्वूलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ३९॥

भा॰ टी॰--पिहले यहां कैसा उत्तम राजा था, उसके समीप सेनाओंका समूह कैसा था, उसकी राजसभा कैसी थी, कैसी कैसी चन्द्रमुखी स्त्री थी, राजाके पुत्रोंका समूह कैसा था, कैसे वन्दीगण थे और वे कैसी अच्छी कथा कहतेथे, वे सब अब जिस कालके वशीभूत •होगये उस कालको हम नमस्कार करतेहैं॥ ३५॥

दोहा—नृपति, सैन सम्पति सचिव सुत कलत्र परिवार। करत सवनको स्वमसम नमो काल करतार॥ ३५॥ पुनः कालमुद्दिश्याह।

वैयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एवं खळु ते संमं यैं: संदर्दीः स्मृतिविषयंतां "तेऽपि" गमितीः॥ इदीनीमेते"

रमेंः प्रतिदिवेंसमासन्नपतर्नाद्रतीरतुल्यावेंस्थां सिकतिलन-दीतीरतेंरुमिः ॥ ३६ ॥

सं० ही०—अधुना स्वजनकान् स्वसावींश्व स्वातमना सह शोचित । वयमिति । येभ्यः पित्रादिभ्यो वयं जाता उत्पनाम्ते चिरं बहुकालेन परिगता नष्टा एव खलु । यैः समं सार्द्धे संगृद्धः गृहिं प्राप्तास्तेऽपि स्मृतिविषयतां गिमताः प्राप्ताः । इदानीमविशिष्टा एते ये वयं तेऽपि प्रतिदिवसं दिनं प्रति आसन्तं प्राप्तं पतनमायुःक्षयो येषां तथा सन्तः सिकता विद्यते यस्यां सा सिकितिला नदी तस्यास्तीरतरुभिस्तटवृश्वेस्तुल्यावस्थां पतनोन्मुखत्वेन साम्पतां गताः स्मः । यदा सिकताप्रधानो देशः सिकितिलस्तस्य नदीतीरतरुभिरिति सम्बन्धः । यभ्यो जिनरमूद्द्य गतास्ते पितरो मम । आसन्तं मरणं मेऽपि शम्भो त्वं शरणं भव ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तिमदम् ॥ ३६ ॥

भा० टी०—िनसे (मातापितासे) हम उत्पन्नहुएथे उनकोती गये वहुतकाल ज्यतीत होगया, और जिनके संग हम वढे हुए वेभी स्मरणपदमें गये अथीत वेभी मृत्युको प्राप्तहोगये, और अब हम जो शेप हैं सो हमभी प्रतिदिन मृत्युके निकट पहुंचतेजातेहें, और हमारी दशा नदीकिनारे वालूमें उत्पन्नभये दुसकसमान होरहीहें॥ ३६॥

छप्टय—जो जन्मे हम संग सु तौ सब स्वर्ग सिधारे । जो खेले हम संग काल तिनहूँ कँह मारे । हमहू जर जर देह निकट ही दीसत मरिवो । जैसे सरितातीरवृक्षको तुच्छ उखरिवो । हमहू निहं छाँडत मोह मन उमग २ उरझो रहत । ऐसे अचे-तके संगर्सो न्याय जगतको दुख सहत ॥ ३६ ॥

यंत्रानेक के चिद्रिप गृहें तर्त्र तिर्ह्य थेकों यंत्रीप्ये-केंस्तर्नु वहें वस्त त्रें ने को ''ऽपि' चीन्ते ''॥ इंत्यं 'चेमो 'रज-निद्विसो दोळ्यंन हें विवेधिकों काळें काल्या सहें वहुकेंळः की हैंति प्राणिसारेः ॥ ३७॥

सं० टी०—अधुना कालस्याक्षजीटां दर्शयति । यत्रेति । यस्मिन् काचिदिपि गृहे अनेके : पुत्रकल्जादयो वहव आसन्त्रथ तदनु एकस्तिष्टति । यत्राप्यकस्तदनु वहवः पुत्रपौत्रादयो भवन्ति यत्र वहवस्तत्र चान्ते एकोऽपि नैव तिष्टतीत्थममुना प्रकारेणेगो रजनिदिवसावक्षावि हास्तिद न्तानिर्मितः

ऋडिनकविशेपाविव देालयन् भ्रामयन् काले। वन्हीः कला ज्वरोद्रपिंडाादिन्याजलक्षणा विद्या यस स काल्या स्वमारिकशक्या सह प्राणिन एव साराःसारिकास्ताभिः ऋडिति सततं खेलती त्यर्थः। यद्गे हे वहवस्तत्र चैकस्तिष्ठति देहभृत्। यत्रेको वहवस्तत्र कालस्य गतिरीदृशी ॥ १॥ मन्दान्नानतावृत्तामिद्म्॥ ३७॥

भा० टी०—जिस किसी घरमें अनेक पुत्रपौत्रादिक थे वहां एकहीं हाष्टि पडताहै और जहां एक था वहां अनेक दिखाईपडते हैं और फिर वहां अन्तमें एकभी नरहा, इसमकार इस संसारक्ष्पी चौपडमें रात्रिदिनक्ष्पी पासोंको लुड़का २ रकर और प्राणियोंकी गोट वनाकर कालपुरुष अपनी कालित्वशक्ति साथ खेल रहाहै ॥ ३७॥

छप्पय—वहुत रहत जिहि धाम तहां एकहिकों राखत। एक रहत जिहि ठौर तहां वहुतहि अभिलापत। फेर एकहू नांहि करि तहां राज दुराजी। कालीके संग काल रची चौपड़-की वाजी। दिनरात उभय पासालियें इह विधिसों क्रीडा करत। सव प्राणी सोवत सार ज्यों मिलत चलत विलुरत मरत॥ ३७॥

तपस्येन्तः सन्तः किंमधिनिवसीमः सुरर्नेदीं गुणोदी-रान् दारानुत परिचरीमः सविनयम् ॥ पिवीमः शीस्त्रीधा-नुति विविधकाव्यामृतरसीक्षे विद्यैःकिं कुर्मः कतिपयनिमे-पीयुपि जैने ॥ ३८॥

सं दी०—द्दानीमायुपे।ऽत्यत्वात् कर्तव्यानां बाह्त्यात् संशयापनः सद्द्वानेताहः। तप्रस्वन्त देति । कातिप्याः स्यद्वा निभेषा आयुर्थस्य ताइक्षे जने जायते इति जने। देहत्वाभिन् सित वर्षे जि हुनि इति व विशेष न जानीमः । कि तपस्यन्तः तपः कुनिन्तः सन्ते। महामितियमं विश्वस्यो वृद्धः । उत्तत्वश्च गुनैः मृत्यिक्षे स्वायम् श्रेष्टान् द्वागम् युन्तीः मित्यमं विश्वस्य कृष्टिः । उत्तत्वश्च गुनैः मृत्यिकं नानाविषं कात्र्यं क्योगां व्यान्तर्वानं स्वयान्यः । उत्तत्वश्च विश्वयं नानाविषं कात्र्यं क्योगां व्यान्तर्वानं स्वयान्यः । उत्तत्वश्च स्वयानं स्वयानं व्यान्तर्वानं स्वयानं स्ययानं स्वयानं स्य

द्धाः द्वीर--हमः नहीं जानेती हि इस निगपमात रिथर्ग्हनेताले देहमे बदा दर्रे। बदा हम नद २४तेतुद् भंगात्रद्वर् वास गरें। अथवा वया हम गुणवतीस्त्रियोंकी विनयपूर्वक मेवा करे ! अथवा क्या हम च्यासवसिष्ठ आदि कवियोंके अमृतरसस्त्री विविध काच्यों और बाह्योंका अध्ययन करें॥ ३८॥

दोहा--तप तीरथ तरुणीरमण विद्या वहुत प्रसंग ।

कहा कहा मन रुचि करे पायो तन क्षणमंग ॥ ३८॥ गंगांतीरे हिमगिरिशिठाव दपद्मासनस्यं ब्रह्मध्याना-भ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य॥ किं तें भिंधं ममं सुद्वित्विय्त्री तें निर्विशंकीं कैंण्डूयन्ते जरठहारिणां शृंगेंमड़ें मेंद्विये॥ ३९॥

सं० टी०—इदानी शिष्टानां कर्तव्यं सूचयन् निर्विक्तपसमाधियुक्तान् दिवसान् प्रार्थं - यति । गङ्गतीर इति । मम तः मुदिवसैः किमिति सम्भावनायां माव्यं भवितव्यं कदा ते भविष्य-निर्वित्त । सम वेष्य प्रदासेपु जरठहरिणा वृद्धमृगा निर्विशंका गतभयाः स्वर्युगं मदीयेऽङ्गे शरीरे कण्ड्यन्ते संवर्षयन्त स्वृं गृत्वर्षण्यञ्चालं करिष्यन्तीत्यर्थः । कथंभृतस्य मम गङ्गातीरे या हिमगिरेहिन् माल्यस्य शिला तस्यां बद्धं पद्मासनं येन तस्य । पुनः कथंभृतस्य ब्रह्मगो ध्यानं तत्र प्रत्ययेकता-निर्वाल्पं तस्याम्यसनमम्यासस्तस्य यो विधिर्गुरूपदिष्टप्रकारस्तेन योगश्चित्तश्चितिरोधस्तद्व्या या निद्रा तां गतस्य-प्राप्तस्येवर्थः ॥ गङ्गातीरे कुरी कृत्वा तत्रापि गिरिसिनियौ । वसन् शियं हरि ध्यायेन्मुगत्रृगैश्च वर्षितः ॥ मन्दाकान्ताष्ट्तिस्य ॥ ३९ ॥

भा ॰ टी॰ — मेरे वह अच्छे दिन कव आवेंगे जविक मैं गङ्गानटपर हिमालयपवेतकी शिल्छापर पद्मासन लगाकर वैद्ंगा, ब्रह्मध्यानमें लीन हो निधिपूर्वक नेत्र मुंद योगनिद्राको माप्तहोऊंगा और निःशंक होकर बृद्धहरिण मेरे देहसे अप ने सींगोको रगडकर उनकी खुजली मिटावेंगे॥ ३९॥

देशि -- ब्रह्मध्यान धर गङ्गातट वैठुंगो तज संग।

कवह वह दिन होयगो हिरन खुजावत अंग॥३९॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधविठसैतले कापि पुँकिने सुर्खासी-नाः शान्तंध्वनिषु रजनीषु द्युप्तरितेः॥ भवाभोगोद्दिमाः शिवं शिवं दिवंदंयार्तवचर्सा कर्दां स्थामो हर्षोद्गतवहुल-

वाष्पप्लुतेहेशः॥ ४०॥

स० टी ० — - शोभनं स्वमनोरथं दर्शयित । स्फुरिटित । स्फुरिटित । प्रकाशमाना या स्प्रारा बहुला ज्योत्स्ना चान्द्रिका तथा धवलितं तलं यस्य तिस्मिन् द्युप्तिरतः दिवः सित् गङ्गा तस्याः काऽपि पुल्ति किस्मिश्चिद्दित तटे शान्तो निवृत्तो व्यनिः शब्दो यासु तासु रजनीपु सृखासीना वयमीदशाः कदा स्यामो भवेम इत्यन्वयः । कीदृशाः भवस्य संसारस्यामोगो विषयसुखं तस्माटृद्दिशा विस्काः सन्तः हे शिव हे शिव हे शिवेद्यार्त पीडितं वचो येपामतादृशास्तया हर्पेगोद्दतं निःसृतं यदृहुणं वाष्पमश्चजलं तेन प्लुते व्याति दशौ येपां तादृशा इति । संस्कुरकौमुदीयुक्ते गङ्गातीरे वसन् सिवर्नं । संस्मरन्सर्वशान्तामा कालं निन्यात्पुमानसुत्रीः ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तिभदन् ॥ ४० ॥

आ० टी०-मकाशित चांदनीसे जिसकी तलहटी खेत होरहीहै ऐसी गङ्गाजीके किसी पुलिनमें हम सुखपूर्वक कव वैटेंगे. रात्रिमें जिससमय सम्पूर्ण ध्विन ज्ञान्त होजातीहै उससमय संसारदृःखसे कातर हो शिव शिव ऐसे आर्तिः स्वरसे कहतेहुए हमारे नेत्र आनन्दाशुओं से कव पूर्ण होंगे॥ ४०॥

दोहा--जगके सुखसों दुखित व्हें मिरहें दिहें नैन। कब रिटहों तट गंगके शिव शिव आरत वैन॥४०॥

मेहादेवो देवेः सैरिदेंपि चे सैर्घा सुरसिरहुहा एवागीरं वसीनेमैपि ती एवे हरितैः॥ सुँहर्द्धा कीळोऽ'ये ब्रैतिमैदैमदै-न्यबैतिमैहो कियेद्धी वहैयामा वटविटेपे ऐवास्तुँ द्यिती॥४१॥

सं० टी०—अभुना विरक्तानां सम्पत्तं वर्णयस्तां प्रार्थयति । महादेव इति । पृष्यो देशो महादेवः शिव एव । स्नानावार्थं सिरिज्ञायपेक्षिता साऽपि चामरसिरन्छ्रीगगैव । आगारं गृहं च गुहा कन्दरैव। यसनं वन्त्रमि ताः प्रिक्षित् हरितो दिश एव । अयं काल एव शुभकरत्वाःसुद्धनिम्नमित । प्रतिविदं यददैन्यं तदेवाहो आर्थ्यरूपं व्रतमन्यक्तसदश व्रतं नास्तीत्यर्थः । वटविदपः वटवृक्ष एव दियता कल्त्रमस्तु । निवासात्सदा सुखकरत्वात् अतोऽनवैश्वर्यं विरक्तानां कियत्यरिमाणं वा वयं दक्ष्यामे। वृषः एतावतेव विरक्ताः सन्तुष्टा इत्यर्थः । महोदेवो हि देवोऽन्ति सरिदास्ति च जान्हवी । वासो गिरिगृहावासो धन्यस्तत्र शिवं स्मरेत् ॥ १ ॥ शिखरिणीवृक्तिगदम् ॥ ११ ॥

भा॰ टी॰—महादेवही एक पूज्य देव हैं, गंगाही एक नदी है, गुहाही घर है, दिशाही वन्त्र है, यह कालढ़ी मित्र है, किसीके सन्मुख दीन न होना यही वर्त है। और कहांतक कहें एक बटकावृक्षही कुटुम्य है, अर्थात् विरक्त इन्हीं सबसे सन्तुष्ट हैं॥ ४१॥ दोहा--देव ईश सुरसरि सरित दिशा वसन गिरि गेह। सुहत्काल वट कामिनी वत अदैन्य सुख येह ॥४१॥

आंशा नोम नेदी मनोरथजेठा तृष्णातरङ्गाकुँठा राग-याहवैती वितर्कविहर्गां धेर्यद्वमध्वंसिनी ॥ मोहावर्तसुदुर्रंत-राऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तार्तटी तस्यौः पारगतौ विशुद्वेमन-सो नर्न्दिन्त योगीत्वर्राः ॥ ४२ ॥

सं टी०—इदानीमाशा नदी रूपेण वर्णयंत्तस्याः पारगतानां परमानन्दप्राप्तिमाह । आशांनामित । आशानाम्नी नदी वर्तते सा मनोरथा मनाराज्यं जलं यस्यां सा । तृष्णा धनगर्देव तरङ्गास्तेराकुटा ज्याता । रागो विपयसेह एव प्राहो मकरो विवते यस्यां सा रागप्राहवती । वितकीः कृतकी एव विह्याध्वक्रवाकादयः पश्चिणो यस्यां सा । तथा धैर्यमेव हुमा वृक्षस्तस्य ध्वेसिनी नाशकर्त्री । मेह एवावर्त्ती भ्रमस्तेन सुदुस्तरा अतिगहना गम्भीरा । प्रकर्पणोत्तुङ्गमुन्नतं चिन्तालक्षणं तटं यस्याः सा । तस्या नयाः पारं गता विशुद्धा मतिर्थेषां ते निर्मल्जानवन्तो योगीधरा नन्दित परमानन्दमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ आशापाशवतो लोको विशोको न भवेत् कचित् । यस्तु तत्याश-मुन्नुच्य वेस्यात्मान स शोकित् ॥ १ ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तिममम् ॥ ४२ ॥

भा० टी०—आज्ञानामकी एक नदी है, जिसमें मनोरथरूपी जल भराहै, जिसमें नृष्णारूपी तरङ्ग उटतेहैं, विषयक्ष्पी माह जिसमें रहतेहैं, नानामकारके कुतर्करूपी पक्षी उसमें विचरतेहें, तथा यह नदी धैर्यरूपी इक्षका नाज करनेवाली है, और इसमें मोहरूपी अमर हैं, इन अमरोंसे यह नदी अत्यन्त दुस्तर और गम्भीर होरहीहै, तथा उन्नतिको माम चिन्ताही इस नदीका तटस्थल है। इस नदीके पारजानेवाले गुद्धचित्त योगीत्वर अत्यन्त आनन्दको माम होते हैं॥४२॥

हिष्पय—सदीरूप यह आहा मनोरथ पूर रहाँ जल । तृष्णा तरल तरंग राग है याह महाक्ल । नानातर्क विहंग संग धीरज तरु तोरत । श्रमर भयानक मोह सवनकों गहि गहि वोरत । नित वहत रहत चित भूमिमें चिन्तातट अतिहि विकट। कहि गये पार जोगी पुरुष उन पायौ सुख तट निकट ॥ ४२॥ आसंसोरं त्रिभुँवनिमदं चिन्वंतां तात ताह है वीस्मांकं नयनपद्वीं श्रोत्रवेंद्मीगेतो वो॥ यो डे यें धेंत्ते वि-षयकरिणीगाढगूढाभिमानक्षीव स्वान्तः करणकरिणेंः संयमाळानें ळीळाम्॥ ४३॥

सं टी० - अथ संयमिनो दुर्छभत्वं सूचयति । आसंसारिभिति । हे तात ! आसंसारि प्रष्ट-यपर्यन्तिमिदं त्रिभुवनं चिन्वतामन्वेपणं कुर्त्रतामस्माकं नयनपद्वीं दङ्मार्भ वाऽयवा श्रोत्रवर्धः अवणमार्भे न गतः न दृष्टो न श्रुत इत्यर्थः । स कः योऽयं विषय एव करिणी हस्तिनी तस्यां गाढो दृढः गूढः पूर्णो योऽभिमानस्तेन क्षीवस्य मत्तस्यान्तः करणकरिणश्चित्तगजस्य संयमो नियमनं तदे वालानं वन्धनं तस्य लीलां निरोधचेष्टां धत्ते द्धातीत्यर्थः ॥ मानुष्रं जन्म सम्प्राप्य मनो रोष्टुं च राक्षुते । दुर्लभोऽस्ति त्रिलोक्यां स पूज्यो वन्द्योऽप्यसौ ध्रुवम् ॥ १ ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तिमिदम् ॥ १ ॥

भा० टी०—हे तात! जबसे यह संसार प्रदत्त हुआहै तबसे हम त्रिभुवन में खोजते फिरतेहें, परन्तु ऐसा इड मनुष्य न तो देखनेहीमें आया है और न सुननेहीमें आया है जो विषयरूपी हस्तिनीके गूड अभिमानसे उन्भत्त अन्तः करण रूपी हस्तीको संयमरूपी वन्यतसे वांधकर रोके॥ ४३॥

दोहा-ऐसौ में संसारमें सुन्यो न देख्यो धीर ।

विषया हथिनी संग लग्यो मनगज वांधे वीर॥१३॥ ये वैर्तन्ते धनपितपुरः प्रार्थनादुःखभाजो ये चौर्व्यं दंधित विषयाक्षेपपर्यस्तवुद्धेः ॥ तेथामन्तःस्फुरितहिंसितं वा सरीणां समरेयं ध्यानिच्छेदे शिखरिकुहरश्रावशस्यानिषणींः४४

सं॰ टी॰—साम्प्रतं निर्वेदतायाः स्वस्त्पमाह । ये वर्तन्त इति । अहं तेपां वासराणां अन्तरभ्यन्तरे स्पुरितं हिसतं यिसन् कर्मणि यथा भवति तथा स्मरेयं चिन्तयामि । ये वासरा धनपतिपुरो धनाट्यानां पुरस्ताःप्रार्थना याचना तस्या यद्दुःखं तद्भजंतीति ते प्रार्थनादुःखभाजे वर्तन्ते । चान्यये वासरा विषयाक्षेपपर्यस्ता वुद्धियस्य स विषयाक्षेपपर्यस्तवुद्धिस्तस्य । किम्मूतार्अं शिखरिक्दरे या प्रावश्या तस्यां निषण्यः । वा शिखरिक्दहरस्य पर्वतिविवरस्य या प्रावश्यां तत्र विषयाः निषणः निविष्टः । मन्दाकान्तावृत्तमिद्म् ॥ ४४ ॥

भा० टी०—ने दिन धनवानोंके अगाडी पार्थना (याचना) रूप दुःत्रं भागी होनेसे वढे पालुप पटतेहें अर्थात् उनकी खुशापद करते २ वीतनेमें नहीं लांत, क्षेत्र के दिन कर्यंत निषयासक बुद्धियाले मनुष्योकों छोटे होते हैं अधीत् जांतभी नहीं मालुप पहनेहें सो यो कोनमा दिन होगा जिस दिन पर्वतोंकी खोहोके पापणोंकी घट्यापर बहातुंका में ध्यानमें विश्वाम पाकर अपने अन्तःकरणों रांसी करताहुआ इन दिनोंको स्वरण (पाद) कर्छगा॥ ४४॥

कुण्डिलिया—छोटे दिन लागत तिन्हें जिनके बहुविध भोग। बीत जात विलसत हसत करत सुरतसंजोग । करत सुरत संजोग तनकसे लागत तिनकों । जे हैं सेवक दीन निपट दीरघ वहें विनकों । हम बेठ गिरिशृंग अंग याही ते मोटे । सदा एक-रस घोस लगत है बड़े न छोटे ॥ ४४ ॥

विद्यों नांधिगता कलंकरहितां विंत्तं चे नीपार्जितं शुर्श्वेषापि समाहितेन मनसां 'पित्रो ने सम्पादितां ॥ आलोलायतलोचेंना युवतियः स्वित्रेऽपि नांलिङ्गिताः कौ-लोऽ यें परिपण्डलोलुपैतया कैंकिरिवें प्रेरितैः ॥ ४५॥

सं० शि०—अधुना जन्मन ऐहिकं पारकेकिकं च किचिदिप फलमदृष्ट्वाऽनुतपन्नाह । विशेषित । अभिमानादिकलंकेन रहिता विद्या नाषिगता न प्राप्ता । वित्तं धनं च नोपार्जितं न सम्पादितम् । समाहितेन निथ्यलेन मनसा पित्रोमीतापित्रोः सुश्रूपा सेवाऽपि न सम्पादिता न कृता । आलेलानि चळ्ळानि आयतानि विस्तीर्णानि लेल्चनानि यासां ता युवतयः स्वमेऽपि नालिङ्गिताः । किल्वस्माभिः केवलं परिपेष्टेपु परानेपु लोलुपतया लुष्धतया काकीरिय कालः प्रेरितो गमितः व्यर्थमेव जन्मामूदिति भावः । विद्याधनादिचिन्तां च स्त्रीमोगस्यापि चिन्तनम् । हित्वा तुष्टमनाः कालं नयेच्छंकरिचन्तया ॥ १ शार्दृलविक्तांडितं वृत्तमिदम् ॥ ४५ ॥

भा टी॰ —अभिमानादिकलंकसे रहित विद्याभी नहीं पढी, धन उपार्भन नहीं किया, एकाग्रचित्त होकर मातापिताकी सेवाभी नहीं की, और चश्चल और विस्तीर्ण नेत्रवाली ख्रियोंका स्वप्रमेंभी आलिक्षन नहीं किया, हमने तौ केवल पराये अञ्चका लोभ करते करते काककेसमान सब जीवन यौंही ज्यतीत करादेया ॥४५॥

छप्पय—विद्यारहित कलंक ताहीं चितमें नहिं धारी। धन उपजायो नाहिं सदा संगी सुखकारी । मातिपताकी सेव शुश्रृपा

1000

नेक न कीन्हीं । सृगनैनी नवनारि अंक भर कवहु न लीन्ही। थोंही व्यतीत कीन्ही समय ताकत डोल्यो काक ज्यों। ले भज्यो दृक परहाथतें चंचल चोर चलाक ज्यों॥ ४५॥

विशैणिं सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहर्दंगाः स्मरन्तः संसीरं विगुणपारणामावधिर्गतिम् ॥ वयं पुण्यारंण्ये परिणतशर-चन्द्रंकिरणोस्त्रियोमां नेष्योमो हरचरणचित्तेकशरणाः ॥४६॥

स्० टी०—सर्वस्वहानी जनानाभीश्वरशरणं शिक्षयति । विशोर्ण इति । सर्वसे सर्वयने विशोर्ण नष्टे सित हरचरणमेव चित्ते एकं शरणं येपामताहशा वयं परिणता वृद्धाः शरचन्द्रिकरणा यस्मित्तिभिन्न पुण्यारण्ये त्रियामां रात्रि कदा करिमन् समये नेष्यामोऽतिक्रामिष्यामः । कार्यभृता वयं नरुणा या करुणा पराऽहिंसा निश्चयरूपा तया परिपूर्ण हृद्यं येषां ते । पुनः कार्यभृता वर्षं निगुणी दोपः परिणामः प्रतिश्चणाथिनाशित्वं तयोरविं मर्यादां गतं प्राप्तं संसारं समस्ताः । अञ्चार्थे विनष्टेऽपि करुणापूर्णमानसाः । धन्ये वने स्थिताः शम्भुं समरिन्त प्रेमतोऽिशम् ॥ १ ॥ शिक्तिपितृत्विदिदम् ॥ ४६ ॥ अभि वित्तिपितृत्विदिदम् ॥ ४६ ॥

भा० टी०—सर्वस्वके नष्टहोजानेपर शिवपादपंक्रजको केवल अपना रक्षक समझकर अत्यन्त करुणासे पूर्ण हो और प्रतिक्षण संसारका असारत्व स्मरण राग्तेहण हम शुरुद्कृतकी चांदनीमें किसी प्रतिव्यवनमें बैठकर कव राजिकी रुप्तिनकरेंगे॥ ४६॥

छप्ट्य-शितगर्ये। सर्वस्व तरुण करुणा छाई हिय । विना पार गंसार अन्त परिणाम जान जिय । अति पवित्र आरण्य सरदंक चन्द महित निद्धि । करिहों तहां वितीति प्रीति जुत निरम्य दशौं विदि । शिव दिव शंकर गवरिवर गंगाधर हर हर कहत । भव-पारकेरण पश्चित्रकाण एक शरण यह चिन चहत ॥ ४६॥

देविन्हें परिनृष्टा वर्कल्पनंवं दुंक्लें: संस इहं पीरतोर के निविद्यापायकार्यः ॥ भें नु भविति देखिहा यस्ये तृष्णा विद्योत्ता सनीत संपरिनृष्ट का अविते का दिख्डों । १४७॥



शास्त्रोंका सुनना, चिरकालसे विचारकरनेपरभी में नहीं जानसकाहुं कि गह सब प्राप्तहोना किस पाचीन श्रेष्ठतपका फल है।। ४८॥

दोहा—सत्संगति, स्वच्छन्दता, विना क्रपणता मक्ष । जान्यो निहं किहि तप किये यह फल होत प्रतक्ष ॥४८॥ पीणिः पात्रं पवित्रं अभणपरिगॅतं भेक्षंमर्क्षंयमप्तं विस्तीणं वस्त्रेमांशा उत गगनंभें लं तेल्पमस्वलपभुँवीं॥ येषां-निःसंगतान्तःकरणपरिणेतिः स्वात्मसन्तोषिणेस्ते चन्याः संन्यस्तदेन्यव्यतिकरानिकराः केर्म निर्मूलयोन्ति॥४९॥

सं टी०—अधुना विरक्ता ये ज्ञानिनस्तान् स्तीति । पाणिरिति । येपां पाणिहस्त एवालान टिंदिप्रहणार्थं पवित्रं पात्रमस्ति, तथा भ्रमणेन परिगतं प्रातं भैक्ष्यं मिश्वासमाद्यमक्षय्यं परिपूर्णमत्तं वर्तते । तथाऽऽद्या दिश उताथवा गगनमाकाशमळमातिशयेन विस्तीर्णं वस्त्रमस्ति । येपामुर्वां पृथिवी अस्वःपं वहृविस्तारयुक्तं तस्यं शय्या वर्तते । येपामन्तःकरणस्य परिणितिश्चितिनःसंगता सर्वसंसर्गशृत्वाऽः स्ति, । ये च सर्वविषयभोगतृणां परित्यज्य स्वास्तिन सन्तो।पवन्तो।ऽतएव न्यस्तस्यक्तो देन्यव्यतिकराणां याजातुःखानां निकरः समृहो येस्तादशाः सन्तः कर्म निर्मूळयन्ति तस्वज्ञानेनाज्ञानं विनार्य विविषं कर्म नाशयन्ति ते धन्याः कृतकृत्या इत्यर्थः । पराविरिक्तमाश्चित्य तस्वज्ञानमुष्याताः । ते धन्याः सन्ति छोकेऽस्मिन्नतेरे योनिप्रकाः ॥ १ ॥ सम्बरावृत्तिमदम् ॥ ४९ ॥

भा० टी॰—हाथही जिनका पवित्र वस्तन है, भिक्षालही जिनका वस्त्र है, पृथ्वीही जिनकी शस्या है, जिनके भोजन है, निर्मेश आकाशही जिनका वस्त्र है, पृथ्वीही जिनकी शस्या है, जिनके अन्त करणकी हित्त सवश्वारक संसमीने श्रम्य है, जो सम्पूर्ण निषयभेगम्हण्या ओंका परित्याम कर अपने आत्माहीमें सन्तुष्ट हैं, दीनना के समुहको जिनने भवीन भवान न्यामहियाहै, और कमेको जिनने समूल नष्ट करियाह, ऐसे उत्तम पुरुष्ण प्रीजी कर्नाह ॥ ४९॥

छप्यय—भोजनकों कर पह दशों दिश वसन बनाये। भर्ते भी पक्षी अब पर्लग पृथ्वीपर छाये। छांदि सबनकों संग अकेले रहते रेन दिन। निज आनममें कीन पीन मन्तोष छिनहि छिन। मनके दिकार इन्होंनकों हारे तोर मरोर जिन। वे धन्य २ सन्यासधन हाने किये निर्मृत निन ॥ ४९॥ दुराराध्यः स्वांमी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुंजो वैयं तुं स्थलेच्छा महिति च पेंद्रे वद्धमनिसः॥ जरी देहं मृत्युहिर-ति सकेंत्रं जीवितिमदं संखे नींन्येंच्छ्रेयो जैगिति विदुं-पोऽन्येंत्र तपसेः॥ ५०॥

सं० टी०——चलित्तराजाद्याधारणोपक्षया तप एवेहामुत्र श्रेयस्करिमयाह । दुराराध्य इति । हे सन्वे ! जगति रसायां विदुषः पण्डितस्य तपसः अन्यत्रान्यत् श्रेयः कल्याणं न । कथं स्वामी अधिपतिः दुराराध्यः । क्षितिभुजो राजानस्तुरगचलित्ताः अश्ववद्यलचेतसः । तु पुनः वयं स्वृष्टेष्टाः महाशयाः । चान्यत् महति पदे मुक्तिलक्षणे बद्धमनसः । जरा देहं हरित । मृत्युरिदं सक्तं जीवितं हरित । ततस्तपसा विना श्रेयो नास्ति ॥ शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ५० ॥

भा० टी०—स्यामीकी सेवा करना अत्यन्त कठिन है, और राजागण अभकेसमान चंवलिक होते हैं, हम तो स्यूलेच्छावाले मनुष्य हैं, हमारा मन तो महत्पदमें वंधाहुआ है, वृद्धावस्था इस देहको हरलेतीहै, और मृत्यु इस सम्पूर्ण जीवनको शेप करदेताहै, इसकारणसे हे सखे ! इन संतारमें झानवानके लिये तपसे अधिक कुछभी श्रेयस्कर नहीं है ॥ ९०॥

दोहा—नृपसेवामें तुच्छ फल वृरी कालकी व्याधि।
अपनो हित चाहत कियों तो तू तप आराधि॥ ५०॥
भोगी मेघवितानमध्यविल्यात्सीदामिनीचञ्चलां आयुंवायुविघिहताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्गंगुरम् ॥ लोलां योवनलालनां तनुभूतांभित्यांकल्य्यं द्वुतं योगें धेर्यसमाधिसिदिसुलेंभे वुद्धं विधंदं वुधाः॥ ५१॥

सं० टी०—भोगादि सर्वमिश्वरं ज्ञात्वा योगे चित्तं निद्ध्यादित्याह । भोगा इति । मेघा-मं वितानं समुदायस्तन्मध्ये विल्लस्ती या सीदामिनी विद्युद्धता तद्वचळ्ळा भोगाः । भायुस्तु वायुना निविद्यानं समुदायस्तन्मध्ये विल्लस्ती या सीदामिनी विद्युद्धता तद्वचळ्ळा भोगाः । भायुस्तु वायुना विचिद्दिता विद्वाविता याऽभ्रपटली मेघमाला तथां लीनं यदम्बु जलं तद्वद्धंगुरमिश्यरं, तनुमृतां विचिद्दिता विद्वाविता याऽभ्रपटली मेघमाला तथा । तस्य क्षणभादुरत्वेन तस्यापि क्षणभादुरत्वा-देहभारिणां यीवनस्य लालना सिद्धादिरिवेशेषो लोला । तस्य क्षणभादुरत्वेन तस्यापि क्षणभादुरत्वा-देहभारिणां यीवनस्य लालना सिद्धादिर्था विद्वावित्यायि हतं रिप्तं हे बुधाः । धर्षण या समाधिसिद्धिश्चत्ते-दिखेवं भोगादीनां चंचलत्वमाकलल्य विचार्य हतं रिप्तं हे बुधाः । धर्षण या समाधिसिद्धिश्चत्ते-दिखेवं भोगादीनां चंचलत्वमाकलल्य विचार्य हतं रिप्तं । । न भोगा न च तारुण्यं नाष्पायुः सुस्थिरं काप्रता तया सुलभे योगे बुद्धि विद्वावं कुरुध्वमित्यर्थः ॥ न भोगा न च तारुण्यं नाष्पायुः सुस्थिरं नृणाम् । इति ज्ञात्वा मने। धार्य योगाधीशे हरे नृतिः ॥ १ ॥ शार्द्वलविद्यादिर्यानिद्यम् ॥ ६१ ॥ भा॰ टी॰--मनुप्यंकि भोग मेघोंके समूहमें चमकतीहुई विजुलिकेसहम्न चंचल हैं, आयु वायुसे छित्र भित्र मेघमालामें लीन जलके समान क्षणमङ्गर है, और योवनकी उमंगभी स्थिर नहींहै, इसिक्ष्ये हे पण्डितो ! ऐसा समझकर धैर्यसे माप्त चित्तकी एकाग्रताद्वारा सुलभ जो योग है उसमें बुद्धिको लगाओ ॥ ५१॥

कुण्डिखा—जैसे चंचल चंचला त्योंही चंचल भोग। तैसेही यह आयु है ज्यों घट पवनप्रयोग । ज्यों घट पवन-प्रयोग तरल त्योंही जोबन तन।बिनसत लगत न बार गात व्हें जात ओसकन । देख्यो दुःसह दुःख देहधारिनको ऐसे । साधत सन्त समाधि व्याधिसों छूटत जैसे ॥ ५१ ॥

पुँण्ये यांमे वने वां महाँत सितपटच्छन्नपांछीं कर्षां-छीमादांय न्यायगर्भाद्वजमुखहुतभुग्धूमधूम्योपकण्ठंम् ॥ द्वींरं द्वींरं प्रदेत्तो वेरमुद्रद्रीपूरणीय क्षुधांतीं मानी प्राणी सौ धेन्यो ने पुँनरंनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनैः ॥ ५२॥

सं टी० — यो हि मानी जनोऽकर्तव्यमि करोति परन्तुं तुल्यजातिपु दीनो न भगति स धन्यो नेतर इसाह । पुण्य इति । यो मानी प्राणी क्षुधार्तः सन्नुदरदरीपूरणाय कुक्षिकन्दरामरः णाय पुण्ये पुण्ये।त्यादके तीर्थिविशिष्टे प्रामे महति विस्तीर्णे वेन वा सितेन शुक्रेन पटेन विद्याण छना- छिदिता पाछी मुखं यस्यास्तां कपाछी घटादिखण्डरूपामादाय गृहीत्वा न्यायो नीतिर्गर्भे मनस्यभार्थे- पां तैर्दिजेयों हुतो हुतभुः।ग्निस्तस्य धूमेन धूम्रो धूमचिन्हित उपकण्ठोऽन्तरं यस्य ताहरां द्वारं प्राहे प्रवृत्तस्य तत्प्रवृत्तनं वरं स धन्यश्च तुल्यकुल्येपु सजातीयेपु पुनर्दीनो न वरं ॥ कपाछः धारको भूत्वा नरे प्रामे वनेऽपि वा । मिश्चया जीवनं कुर्यान्न समेपु हि याचनम् ॥ १ ॥ सम्याः चून्तिदम् ॥ ९२ ॥

भा० टी०—यदि के ई मानी (प्रतिष्ठित) मनुष्य क्षुवासे व्याकुल शोकर उदररूपी कन्द्रगके पूर्ण करनेकेलिये किसी पवित्र ग्राम अथवा किसी विसीर्ण यनमें उज्ज्वल्यसूर्य ढकाहुआ ठीकरा लेकर उन गनुष्योंके हारपर कि जिनकी चीखट न्यायपूर्वक बाह्मणोंकी होभीहुई अभिके घृमसे गलिन है स्त्रमणकरे नो श्रेष्ठ है, परन्तु समानकुल्यालोंके सन्धुस दीन होना उत्तम नहीं है ॥ ५२॥ सोरटा—विष्रनके घर जाय भीख मांगिनों है भली। वंधुनसों सिर नाय भोजनह करिनों नुरों ॥५२॥ चाण्डोलः किमैयं द्विजांतिरथर्नों शूँद्रोऽर्थं किं तापसैंः किंवों तत्विनवेशपेशलंभितियोंगिर्थंरः कोऽपि किमें॥ देत्युत्पन्नविकल्पजलपमुँखरेः सम्भाष्यमाणीं जैनै ने कुद्दीः पैथि नैवें तुष्टमनैसो यान्तिं स्वैंयं योगिनैः॥ ५३॥

सैं॰ टी॰—स्वास्मिन छीनानां योगिनां गतिं दर्शयित । चाण्डाछ इति । अयं जनः किभिति वितर्भे चाण्डाछोऽथवा द्विजातिः ब्रह्मक्षत्रविशां मध्ये कीप्यस्ति अथवा शूद एव किं वा तापसस्तपस्यो किं वा तत्विनेवेशे आत्मिनिश्चये पेश्राचा निपुणा मतिर्यस्यैतादृशःकोऽपि योगीम्मरः किम् । इत्यमुना प्रकोरेणीत्पन्नो यो विकल्पःसंशयस्तेन जल्पो नानायिथो वादस्तेन मुखरैवीचार्टर्जनेः सम्भाष्यमाणाःसन्तोऽसत्कुर्वते न कुद्धा नैव नुष्टमनसे। हिर्पितदृश्या योगिनः सायधानमन्ताः स्वयं स्वेन्छयैव पिथ मार्गे यान्ति विचरन्तीत्यर्थः । अलक्षिता व्रजनतीह स्वीर्थर्व्येश्च योगिनः । नानातर्भवचीभिस्ते न हृष्टाः कुपिता न च ॥ १ ॥ शार्द्वलिवकीडितं वृत्तिग्दम् ॥ ५२ ॥

भा० टी०-यह चाण्डाल है, अथवा बाह्मण हैं, शृद्र, तपस्यी अथवा तत्व-विवेकमें चतुर कोई योगीश्वर है, ऐसे अनेकप्रकारके संश्योंपर तर्क वितर्क करते हुए मनुष्यांसे सम्भाषण करनेपरभी घोगीजन न कुद्ध होतेहैं, और न हाँपैत होते हैं, किन्तु सावधानचित्त होकर स्वच्छन्द अपने मार्गमें विचरण करतेहैं।।५१॥

दोहा—विष्र शूद्र योगी तपी सुपच कहत कर ठोक।
सवकी वार्ते सुनत हों मोकों हुर्व न हो। ५३॥
सेखे धंन्याः केचित् शुंटितभववन्धव्यतिकर्श दनांनते
चित्तानतर्विषमविषयाशीविषगतीः॥ शरबन्द्रव्योत्स्राधवल गगनाभोगसुभगां नर्यन्ते ये रीविं सुकृतचय-

चित्तेकशरणीः ॥ ५८ ॥ सं० टी०--पापरेतुम्तं विषयसेवर्वं स्थाना स्वीक्ष्म् रूटेन हर्वत स्वीत् एटो उत्तर श्यार । हे सस्वे व्रियमित्र ये विचित्त्रकाः शास्त्वरणीनी यस्त्वास्थला र तेन्त्रा सीत्री एवं रूपाः पांडुरे। यो गगनाभाग आकाशमण्डळं तेन सुभगां मनोज्ञां रात्रिं नयन्तेऽतिक्रमन्ति ते धन्याः । कथंभूताः त्रुटितिहळ्ते। भववन्धस्य संसारवन्धनस्य व्यतिकरः सम्बन्धो येपां ते । तथा वनान्ते वनमध्ये चित्तस्यान्तःकरणस्यान्तमध्ये ये विषमः किता विषयास्त एव आशीविषा भुजङ्गा गता येपाते, "वाहिताग्न्यादिपु" इति गतशद्वस्य पूर्विनिपातः । तथा सुक्ततानां पुग्यानां निचयो निवहस्तिस्मन्यिचत्तमन्तःकरण तदेवैकं शरणं येपां तथाविधाः पुण्यसम्यादनैकतप्तरा इसर्यः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ९४ ॥

भा० टी०—हे सखे धन्य है उन पुरुषोंको कि जो वनमे वैठेहुये शरर ऋतुकी चांदनीसे शुभ्र हुए आकाशमंडळसे अति मनोहर ऐसी रात्रिको वितीत करतेहैं। फिर वे कैसेहैं की जिन्होंने संसारवंधनका संबंध तोडिट्याहै और अन्तः करणमेसें महाभयानक विषयरूपी सर्प निकस गयहैं जिनके और जिनका वित्त केवल पुण्यसमृहके संपादन करनेमेंही लगरहाहै.॥ ५४॥

दोहा--जे नर जगमे धन्य है शरदशुस्र निशि मांहिं। तोडे वंधन जगतके मनतें विषयन सोहि॥

सोरठा—विषयसर्पकों मारि चित लगाय शुभकर्ममें
पुण्यकर्म शुभ धारि तिज सकल मनवासना ॥ ५४॥
एतेस्माहिरमेंद्रियार्थगेंहनादायासैदादार्श्र्य श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणोत् ॥ शांन्तं भीवमुपेहिं संत्यंज निजां कल्लोललोलां गीति मौं भूयो भेज भंगुरां भवर्रति चेतः श्रेसीदाधुनों ॥ ५५॥

सं० टी०—इदानीं चित्तस्य. दुर्मागंप्रवृत्तिं वारयन् सन्मागंप्रवृत्तिमुपदिशति । एत-स्मादिति । हे चितः ? इन्द्रियाणामथीः शद्वादिविपयास्त एव गहनं निभिष्ठं वनं तस्मादे-तस्मादायासदादायासेन परिश्रमेण साव्यात्तं निवृत्तिं भज । क्षणात् श्रीव्रमेव शेपाणां दे।पाणां दुःखानां शमनस्य नाशनस्य व्यापारे दक्षं मुशाळ श्रेयसो मागं वैराग्यादिज्ञानान्तमाश्रयाद्वित्तिः । हे चित्तः शान्तं मावं स्विरतामुपेदि प्राप्तृहि । निजां स्वतीयां कछोळवत्तरद्ववछोळां च्याळां गाति मंत्यत्व । भंगुरामित्यरं मवस्य रति प्राति त्वं भूयः पुनर्वाहुस्येन वा मा मजावुना प्रसीद प्रसार्द मजिपर्यः ॥ इदियार्थान्यस्त्रयाय शान्तभावं भवे रतिम् । अनेक्समयदुःखानां भंगनं श्रानमाश्रन्थः पेत् ॥ १ ॥ शार्द्छिविक्विटितं वृत्तिद्वत् ॥ ५५ ॥

भा टी॰ — हे चित्त ! वडे परिश्रमसे माप्त दुःखदाई इन्द्रियों के विषय-रूपी सघनवनसे विश्राम है, सम्पूर्णदुःखोंके नाशकरनेमें समर्थ कल्याणमार्गका श्रीप्रही आश्रय ले, शान्तभावको अङ्गिकार कर, तरङ्गकेसमान अपनी चश्रल गतिको त्याग, अब फिर इस नाशवान् संसारीइच्छाका सेवन मतकरे, और मापही तृं पसन्नरूप हो ॥ ५५ ॥

छप्पय-एरे चित कर ऋपा त्याम तू अपनी चालहि। सिर पर नाचत खड़्यो जान तू ऐसें कालहि। ये इन्द्रीगण निट्र मान मत इनकी कहिची। शान्त भाव कर ग्रहण सीख कठिनाई सिहिवो। मिथ्या जगकी आस त्याग तू अवही देरे। सार चही एक जान नाम शिव शिव तू छैरे ॥ ५५ ॥

पुँण्येमूलफंलैः प्रिये प्रणीयिनि प्रीति कुर्रण्वाधुना भृश-यानववर्कें केरकेरकेरणेरुतिधं योंमो वनमें ॥ क्षुद्राणीं मवि-वेकमूढमर्नेंसां थैत्रेश्वरांणां सदी चित्तव्याध्यविवेकविव्ह-लेंगिरां नोंभापिं ने अयेते ॥ ५६ ॥

सं टी - धिनकानां संगेनोद्दिग्रिवत्ते। वनवासे छ्या जित्तवृति मुप्रियकाः । पुर्व रिति । हे प्रियं चित्तवृत्ते । त्वमुत्तिष्टोत्थिता भव वयमधुना वर्न यामो मन्तरमः । यत्र वनेड विचित्र वे मृद्धं मनो चेपामतएव क्षुद्राणां तुष्छानीश्वराणां श्रीमतां नामाऽपि न शूर्यंत्र । गीरणानामं घाणाः सदासर्वदा वित्तं धनमेव व्याधी रोगस्तेन थोऽविवेशोऽविचारस्तरगाहित्हला स्पाहतल सार्व गार्व । राष्ट्र प्रियशरीरिनवीहः सर्थं भिरण्यतीति तत्राह । पुण्येः पादनैः मूलानि व्यपालनि व्यक्ति । एक्लिने र्यंत्रः शिं जीविकां हे प्रिये ! स्वं बुरुष्य । नवानि यानि यत्रात्मानि वृक्षावाल्यानि विस्तृत्मीर्थित विस् च कुरुवित्येतं तत्र निर्वाहः कर्तः वस्तेत्वानीश्वराणां मुखरशीनेन विः एते. हनावित्र सर्वा । व रेबीदरी बृति भूराव्यो नदयस्यके: । वासं गिरिविट कृत्या मनाइच्यति व स्यो । १ ।

भा० री०-ने विमे दिसहते! तृं अव उत् और एदिव प्रम्में के करा विक्रीडितं वृत्तिमदग्र॥ १६॥ पालन पार, तथा बनीवनाई भूभिशस्या और नवीनवन्त्रत द रहा। दिहार पर पण का, गया बनावारी जाते शहिदेशकीशहरण की मृत्यह है, जो हुई है, एम तो अब बनको जातेंहें, जर्म शहिदेशकीशहरण को मृत्यह है, जो हुई है, भार धनकपी व्याधिकनित विदारसे जिनकी हादि विष्ट है वह महाराहिता

नापभी नहीं छनाहिताई ॥ ५६ ॥

दोहा—वकल वसन फल असन कर करियों वनविश्राम।
जित अविवेकी नरनको सुनियत नाहीं नाम॥५६॥
मोहं मार्जियतामुपार्जिय रैतिं चन्द्रार्धचूडामेंणो चेतेः
स्वर्गतरंगिणीतटर्मुवामासंङ्गमङ्गीकुर्ह ॥ को वीं वीचिषु
वुद्धदेषु चै तिडिल्लेखाँसु चै स्वीषु चै ज्वालाग्रेषु चै पन्नगेषु
चै सरिद्देगेषु चै प्रत्यर्थः॥५७॥

सं टी॰—विषयभोगेच्छां परित्यज्य "शिवे रितं कुरु " इति स्वचेतः प्रतिवोक्यित । मोहिमिति । हे चेतः ! मोहं मार्जयतां दूरीकियतां । रे प्राणिन् ! चन्द्रार्धचूडामणौ शिवे रितं तोपमुपार्जय सम्पादय । रे चेतः ! स्वर्गतरांगिणीतटभुवां आसङ्गं सङ्गतिमङ्गीकुरु । नोऽस्माकं वाऽथवा वीचिपु कल्लोलेपु प्रत्ययो विश्वासः कः। चान्यज्जल्युद्धदेपु वर्पाचारिपुटेपु कः प्रत्ययः। चान्यत्तिष्ठिखासु सौदामिनीपु च पुनः स्त्रीपु कः प्रत्ययः। यथा एतेपु नोऽस्माकं प्रस्ययो नास्ति तथा जीवितेपु नास्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ ५७॥

भा० टी०—हे चित्त ! मोहको छोडकर चन्द्रार्थचूडामणि श्रीशिवजीसे मीति कर और गङ्गातटके द्वसोंके नीचे विश्राम छे । देखो ! जलके तरंग, पानीके वृद्धे, विज्ञलोकी चमक, अग्निकी ज्वालाकी शिखा, स्त्री, सर्प, और नदीके प्रवाहमें स्थिर रहनेका कुछ विश्वास नहींहै, अर्थात् यह सातों वस्तु स्थिर नहींरहसक्ती हैं, इसिलिये स्त्रीके विलासमें मग्न मत हो ॥ ५७ ॥

छप्पय—मोह छांड मन मीत प्रीतिसों चन्द्रचूड भज। सुर-सरिताके तीर धीर धर दृढ आसन सज। शम दम भोग विराग त्याग तपकों तू अनुसरि। वृथा विषय वकवाद स्वाद सवही तृ परिहर। शिर निहं तरंग वुदवुद तिडत अगिनशिखा पन्नग सरित । त्योंही तन जोवन धन अथिर चल दल दल केसे चरित ॥ ५७॥

अंग्रे गैति सरसकवर्यः पाँर्यतो दाक्षिणात्याः पृष्ठे छी-छावळयरणितं चामरमाहिणीनाम् ॥ यैद्यार्देवेवं अर्हे

भवरसारबोदने लंपर्टत्वं 'नीचे "चेतः प्रविशे सहसी निर्वि-र्केल्पे समीधी ॥ ५८ ॥

सं० टी०---पूर्णिविपयसुन्वसमाधिसुन्वाभ्यामन्तरा वृथेव जन्मेति सूचयित । अमे गीत मिति । सिहासनस्थस्य सतः पुरुपस्याप्रे पुरोभागे गीतं कुशळानां नारवयूनां गानं स्यात् । पार्वतो नामदक्षिणभागयोद्धिणात्या दक्षिणदेशीयाः सरसकवयः रससिहतकिवतया स्तुति-कारिणो भेनेयुः । पृष्टे पृष्टभागे चामरमाहिणीनां शोभनस्त्रीणां चामरचालनरूमा या लीला तया वल्यानां कङ्कणानां रणितं शब्दः स्यात् । यद्येवमुक्तेन प्रकारेण भोगसाधनकलापोऽस्ति तिर्हि भवस्य संसारस्य यो रसस्तस्यास्त्रादने हे चेतः ! त्यं लम्पटं संलग्नं भव । चेदायेवं भोगसामग्री नास्ति तदा सहसा शीघमेव निर्विकलेप समाधी स्वं प्रविश प्रवेशं कुर्वित्यर्थः । उभयाभावे वृषेव जन्मीतमात्रः । अग्रे पथात् पार्श्वता वा यदि शृङ्गारसम्पदः । तदा तु विपये रागो चेन्मनस्त्रं स्थिरी-भव ॥ १ ॥ मन्दाकान्तावृत्तीमदम् ॥ ५८ ॥

भा० टी०-सन्मुख प्रवीण गर्वेये गातेहाँ, दाहिने वाँये दक्षिणदेशके सरस कवि उत्तम काच्य सुनातेहों, और पीछेसे चमरढोरनेवाली सुन्दरिस्र्योंके कङ्कणोकी द्यनकारका शब्द सुनाईदेता हो, जो तुझको ऐसी सापग्री पाप्तहो तौ संसारके रसका स्वाद छेनमे मग्न हो, नहीं तो हे चित्त ! शीघ ही स्थिरसमाधिमें

भवेशकर्॥ ५८॥

छप्पय-छ हो रागिनी राग गुनी गावत हैं निशिदिन। क्विजन पढत कवित्त छन्द छप्पय छिनही छिन। लिये दुहू घाँ चौर करत ठाडी नवनारी। झनक मनक धुन होत लगत काननकूं प्यारी। जो मिले तोहि यह सोंज सव तो तू करि संसाररित । नहि मिले इती हू तो इतें साधत क्यों न समाधिगति ॥ ५८॥

विरमतं वुधौ योषित्संगातसुखांत् क्षणभंगुरोत्कुरुतं करुणामेत्रीप्रज्ञावधूजनसंगममं ॥ नै खेर्छुं नरैके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डं छं शर्रेणमथवीं श्रोणीविनैवं रणन्मणिमेखळेंम् ॥ ५९ ॥

सं र्टा० -- अनुना क्षणभङ्गरात् स्त्रीसुखादास्यन् देवसम्पल्लभणस्त्रीसङ्गं मित्रभावेन स॰ टा॰--अवः । सारासारिवयित्रेनो योपितां स्त्रीणां संगो यस्मिन्तस्मातः । शिक्ष्यति । विस्मतिति । हे बुधाः ! सारासारिवयित्रेनो योपितां स्त्रीणां संगो यस्मिन्तस्मातः क्षणभद्भरात् सुखात् यूयं विरमत विरक्ता भवन । करणा च मेत्री च प्रेंग्न व प्रकृष्टबुद्धिस्ता एव ववृजनाः स्त्रीजनास्तेषां सङ्गमं सङ्गितं कुरुत । खलु यमालरके हारैः पुणा-दिनिर्मितेराक्रान्तं वेष्टितं घनस्तनयोर्भण्डलं शरणं रक्षकं नास्ति । अथवा रणन्ती शब्दायमाना मणीनां मेखला कटिसूत्रं यस्मिस्तन्त्रेगणीविम्वं नितम्बमण्डलं नरके शरणं नास्ति । तस्मात् प्रयमत एव सत्र्यादिसुखं दूरतः परित्यज्य भैज्यादीन् सम्पाद्य सुखी भवेति भावः ॥योषितसंगं परित्यज्य प्रज्ञा कार्या च सत्पथे । येन गच्छन् पुमान् याति तच्छम्भोः परमं पदम् ॥ १ ॥ हरिणांवृत्तमिदम् ॥ १९ ॥

भा० टी०--हे पण्डितो! स्त्रियोंके सङ्गमरूपी क्षणभङ्करसुखसे विश्राम हो और मैत्री करुणा और मज्ञारूपी वधूसे सङ्गम करो, क्योंकि जिससमय नर्कमें ताडना होगी उससमय हारोंसे भूपित स्त्रियोंके स्तनपण्डल और शब्दायमान धुद्रः घण्टिकासे शोभायमान कटी सहायता नहीं करेगी ॥ ५९ ॥

सोरठा—तिज तरुणीसों नेह बुद्धिवधूसों नेह कर।

नरक निवारत रोह वहें नरक छै जात है ॥ ५९ ॥

मातिर्छिदिमें भजर्रव कैंचिद्पॅरं मर्त्कांक्षिणी मार्स्म भूभींगेफ्यैंः स्पृह्यौछवो नेहि वयं कीं निःस्पृहणीमसिं ॥ सर्थैंः
स्यूतपछाञापत्रपृटिकापौत्रे पवित्रीकृते भिक्षासकुंभिरेवें
संप्रीति वयं हैंतिं समीहाँमहे ॥ ६० ॥

सं० टी०—हे मातर्लक्षिम ! कञ्चिदपरं धनार्थिनं भजस्व सेवय मिय कांक्षा यस्याः सा मिदः छावती त्वं भास्मभूः माभव । हि यस्मात् वयं भोगेभ्यः स्पृह्यालवो भोगिल्प्सवो न भवामे ऽतोनिस्पृहाणां त्वं कासि न कापीत्यर्थः । तिहं तव जीविका कथं स्पादिति तत्राह । सद्यः शीप्रमेत्र स्पृतं निर्मितं यत्पलाशपत्राणां पुटिकापात्रं दोणपात्रं तिस्मन् पवित्रीकृते जलप्रोक्षणेन शुद्धीकृते भिक्षया प्राप्तैः सक्तुभिरेव सम्प्रतीदानीं वृत्तिं जीविकां वयं समीहामहे कर्त्तुमिच्छाम इत्यर्थः । यः प्रार्थनां सदा हित्वात्यक्त्वाक्षात्रिस्पृहो जनः । भिक्षाशनं प्रकुर्वाणः शिवं स्वान्ते सदा स्मरेत् ॥ १ ॥ शार्द्विकीिडतं वृत्तमिदम् ॥ ६ ० ॥

भा० टी०—हे लिक्ष्म मात! अब तूं किसी अन्यपुरुषका सेवनकर. हमारी मतकरे। क्योंकि हमको विषयभोगकी इच्छा नहींहै, और (तूं जानतीही की जिनको कुछ इच्छा नहीं है उनके निकट तूं तुच्छ है। अब तो हम केवल हरे हाकके पत्तोंके बनायेहुए पित्रदौनामें भिक्षाके सत्त्वसे जीवननिर्वाह करनेकी इच्छा रखतेहें.॥ ६०॥

दोहा—मोकों तिज भिज औरकों अरी लक्ष्मी मात। हों पलाशके पातमें मांग्यो सतुआ खात॥ ६०॥ र्यूंयं वैयं वैयं यूँयमित्यासीन्मतिरावयोः॥ किंं जातिमधुंना मित्रे यूँयं यूँयं वैयं वर्यम् ॥ ६१॥

सं॰ टी॰—अविवेकदशायां मोहेनावयोरभेदेऽपि विवेकदशायां केनाप्यचित्त्यमिहिम्ना वराग्येण तत्त्वज्ञानेन वा भेदो जात इत्याह । यृथमिति । भो मित्र ! मोहाद्विवेकदशायामिति-लिग्ययोः पितापुत्रयोरिवास्माकं स्नेहादभेदमितिरासीत् यूयं वयं वयं यूयमिति । अवुनेदानीं किमण्यपूर्व वराग्यं जातं येन यूयं यूयमेव विषयसक्ताः वयं वयमेव सर्वस्मादिरुक्ता इत्यर्थः । यद्दाऽप्रुना किमण्य-पूर्व तत्त्वज्ञानं जातं येन यूयं यूयमेवाज्ञा एव स्थिताः । वयं वयमेव शुद्धसिवदानन्दरूपा जाता हर्यर्थः ॥ पुराऽचयोरभेदोऽभूदज्ञानादधुना पुनः । येन यस्वं स एव त्वमहन्तु त्वद्विळक्षगः ॥ १ ॥ अनुपुत्वृत्वक्तिदम् ॥ ६१ ॥

भा०टी०—हे मित्र ! जो तुम हो सो हम हैं, और जो हमहैं सो तुम हों. गरस्पर कुछ भेदही नहीं है, यह मृति हमारी प्रथमही थी अवक्या नई वात होगई के तुम तुमही हो और हम हमही हैं, अर्थात तुम विषयासक्त हो और हम सबसे वेरक्त हैं ॥ ६१ ॥

दोहा—तुम हम हम तुम एक है सवविधि रह्यो अभेद।
अव तुम तुम हम हमिंह हैं भयो कठिन यह भेद ॥६१॥
वांछे छीछायुकुछितंमैमीमन्थरा दृष्टिपाताः कि क्षिवांते विर्म विरमे ठयेथि एषि श्रेमैस्ते ॥ संप्रैत्येन्ये व्यनुपर्रतं वाल्यमार्खा वनान्ते हिंगिणो मोहेस्तृणेंमिये जगनौंछमाछोकयोंमः ॥ ६२ ॥

सं० टी०—वाल इति । हे वाले हे मुन्दरि । तावकीना कौलामुकुलितं सभी मन्यरा ष्टिपाता खरमामु कि क्षित्यन्ते विरम विरम । एप ते तत्र अभी व्यर्थी निर्र्यकाः । सन्प्रति वयं रहे अन्ये ते न भत्रामः । अस्माकं वात्यमुपरतं । अस्माकमास्या वनान्ते । कयं । मोहः र्क्षाणो गतः । इदं जगजालं तृणमित्र तुच्छमालोकयामो विलोकयामः ॥ ६२ ॥

भा० टी०—हे वाले! लीलासे किंचित् मुकुलित इन मन्द कटाझोंको हमपर क्यों फेंकती है? विश्राम ले। कारणिक यह तेरा श्रम व्यर्थ है, अब हम आरही हो गये हैं, हमारी वाल्यवस्था वनमेंही व्यतीत होगई, और अब हमारा अज्ञान नष्ट होगयाहै, इससमय जगत्रूपी जाल हमको तृणके समान तुच्छ दिखाई देताहै॥ ६२॥

हारपार, इससम्पर्णात् व्याचाल हमजा एपज समाप्त का देखाई पार्टी छएएय—किर २ वांके नेन हाय तू हमें निहारत। करत वृथाही खेद वादी तन वसन संवारत। हम वनवासी लोग वालपन खोयो-वनमें। तजी जगतकी आस कामना रही न मनमें। तृणके समान जानत जगत मोहजाल तोड्यो तमक। आनन्द अखण्डित पाय हम रहे ज्ञानकी छाक छक॥ ६२॥

इंयं बाला मां प्रत्यनवर्तमिन्दीवरद्लप्रभांचोरं चक्षुः क्षिपित किंमभिप्रेतेमनया ॥ गैतो मोहो डिस्मीकं स्मरकुसु-मबाणव्यतिकरञ्वरञ्वाला शान्ता तद्पि ने वर्शकी विरेमित ॥ ६३ ॥

चिरमात ॥ ६३ ॥

सं० टी०--पूर्वकथितां वैराग्याश्यितिमञ्जना प्रकारान्तरेण वर्णयति । इयमिति। इयं वाला
मांप्रित चक्षुनेत्रं अनवरतं निरन्तरं किं क्षिपति । कथंभूतं चक्षुः । इन्दीवरदलप्रभाचोरं इन्दीवरस्य कमलस्य दलं इन्दीवरदलं तस्य प्रभां चोरयतीति इन्दीवरदलप्रभाचोरम् । अनया किमभिप्रेतं किं
वाञ्चयते । अस्माकं मोहो गतः । स्मरकुसुमवाणव्यातिकरज्वरज्वाला शान्ता वराकी तदिप न विरमित विरामं न वजति । एवं जाते सित कामिन्याः कटाक्षपाते। निरर्थक इति भावः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ६३ ॥

भा० टी०---यह सुन्दरी जो मुझपर कमलकीभी शोभा चुरानेवाले नेत्री-

शिखारणावृत्तामदम् ॥ ६६ ॥
भा० टी०—यह सुन्दरी जो मुझपर कमलकीभी शोभा चुरानेवाले नेत्रीके कटाक्षोंको फेंकती है इससे इसका क्या प्रयोजन है। हमारा मोह तो नष्ट ही
गयाहै, और कामदेवके पुष्परूपीवाणोंसे निकलीहुई अग्रिकी ज्वालाभी शान्त
होगईहै, परन्तु यह वराकी फिरभी शान्त नहींहोती है॥ ६३॥

दोहा--कहा कारण डारत वयन कमलनयन यह नार। मोह काम मेरे नहीं तऊ न तिय चित हार॥ ६३॥ रमें हमें येतले ने किं वस्तिये आव्यं ने गेयादिकं किं वीं प्राणसमासमागनसुंखं नेवीं धिकं प्रीतिये ॥ किंतूर्द्धी-न्तपतत्पतङ्गप्यनच्यालोलङ्गपांकुरच्छायाचं चलँमाकलेथ्य सर्वेलं संतो वैनीतं गर्तीः ॥ ६४॥

मं २ दी ० - - पुरुषेण सर्वमिश्वरस्मायिनं विहाय वनमेवाश्वयणीयमित्राह । रम्यमिति । सन्तः सापुरुषा वनाग्तं गताः । क्षिमिति सम्भावनायां । तेषां यसत्ये नियासाय हर्म्यतळं रम्यं नाभृतिः । श्रात्यं श्वरणयोग्यं वेशं मानं नाभृतिम् । अधिकप्रोत्तये प्राणसमायाः स्त्रियाः सुखं नाभृतिम् एतःसर्वे अभृतिति यावत् । तथापि सन्ते। वनान्तं गता वनं सेवयामासुः । किन्तूझा-त्रपत्यतङ्गप्रवार्णाण्यापाहुरन्यापाद्यात्रं सकलं जीवलोकमाकलम्य विचिन्त्य हृदये ज्ञात्वा स्तर्थः । शार्वृत्यविद्वाहितं वृत्तिमिदम् ॥ ६ ९ ॥

भा० टी॰—सन्तजनोंके रहनेकेलिये क्या सुन्दर महल नहीं थे शक्या उनके सुननेयोग्य उत्तमोत्तम गीत नहीं थे शक्या अधिक प्रीति उत्पन्नकरनेवाली भाणप्यारी स्त्रीका समागमसुख उनके लिये नहीं था शबह सब कुछ था परन्तु ये तो इस संसारको गिरतेहुए पतङ्गकी पवनसे हिल्तीहुई दीपककी छायाके समान चंचल समसकर बनको चलेगये॥ ६४॥

छप्य-सहल महारमणीक कहा विसवे नहिं लायक। नाहिं न सुनवे जोग कहा जो गावत गायक। नवतरुणीके संग कहा सुखह नहिं लागत। तो काहेको छांड २ ये वनकों भागत। इन जानलियो या जगतकों जैसे दीपक पवनमें। बुझिजात छिनकमें छवि भयों होत अंधेरो भवनमें॥ ६४॥

किं कन्दाःकन्दरेभ्यः प्रलैयसुपर्गता निर्झरा वा गिरि-भ्यः प्रध्वेर्रेता वा तरुभैयः सरसफलभ्रेंतो वल्किलेन्यश्च शाखीः ॥ वीक्ष्येन्ते यन्मुखानि प्रसीममुपगतप्रश्रयाणां खर्ला-नां दुःखोपात्तालपवित्तसमयपवनवशाञ्चर्तितञ्जूलतानि ॥६५॥

सं ॰ टी ॰ — कन्दादी जीवनोपाये सित ित खलमुखनिरीक्षणेनेत्याह । किं कन्दा इति । कन्दरेम्यः पर्वतगुहाभ्यः क्षुधानिष्टत्तिकरा औपधिमूलभूताः कन्दाः किं प्रलयं विनाशमुपगताः प्राप्ताः । गिरिस्यो निर्दारा जल्ह्याविणस्त्वेतिसो वा प्रत्यमुप्पताः । वायया तहस्यः सरसं फलं विश्वति या वह्किलिन्यस्विभिष्ठीः शास्तास्ताः कि प्रव्यस्ता भन्नाः । यसमान् प्रसभमतिशयेनोपगते नष्टः प्रश्नयो विनयो येषां तेषां दुर्जनानां खलानां मुखानि निवेकिभिर्धाःस्यन्ते । कर्यभूतानि मुखानि दुःखेनोपात्तं यद्द्रपं वित्तं तस्य यो गर्नः स एव प्रवत्ते वायुरेगस्तद्वशास्त्रति चलिता अल्ला येषुं तानि एवंभूतानि तेषां मुखानि कदापि न वीक्षणीयानीतिभावः । जीवनायोगरिचतं कन्दादि वसनं हि स्वक् । तस्मात्तस्यदमास्थाय स्यजेदुर्जनवीक्ष्रणम् ॥ १ ॥ स्वस्वराग्तसिदम् ॥ ६९ ॥

भा० टी०—क्या गुफाओं से कन्द्यूल और पर्वतों से पानीके झरने नष्ट होगये? क्या इसोंकी सरस फल उत्पन्नकरनेवाली शाखाएँ दृटगई? जो मनुष्य अविनीत खलोंके दुःखसे पाप्तियेहुए अल्प्यनके मदसे नाचनेवाले मोहोंसेयुक्त मुखोंकीऔर देखतेहैं, अर्थात् खलोंका आश्रय छोडकर सत्पुरुपोंको वनकन्द मूल खाकर रहना उचितहै॥ ६५॥

छप्यय—कहा कन्दराहीन भये पर्वत भृतलमें । झरना निर्जल भये कहा जे पूरित जलमें । कहा रहे सब वृक्ष फूल फलविन मुरझाये। सहे खलनके वैन अंधता जो मद छाये। कर संचित धन स्वल्प कुटिल श्रू इत उत फेरें। रे मन भूल न जाहु कबहुं इनके तू नेरें॥ ६५॥

गङ्गातरंगहिमशीकरशीतळीनि विद्याधराध्युषितचारु-शिळातळीनि ॥ स्थानॉनि किंँ हिमवतः प्रकेयं गर्तानि र्यत्सापमानपरिपर्डरेता मनुष्याः॥ ६६॥

सं टी॰—अपमानसहितपरानरुचि त्यक्त्वा गङ्गातीरगिरिगुहानिवासो योग्य इत्याह ! गंगातरंगेति । गंगायास्तरङ्गानां हिमाः शीतला ये शीकरा अम्बुकणास्तैः शीतलानि विद्याधरैर्गधर्वने विशेषेरध्युपतानि सेवितानि चार्र्काण रम्याणि शिलातलानि येपु तानि हिमवतो गिरेः स्थानानि किं प्रलयं नाशं गतानि । यद्यस्मात् सापमानपरिपण्डरता मनुष्याः अपमानेन सह वर्तमानो यःपरिपण्डः परदत्तशाहारस्तत्र रता लुव्धा मनुष्या भवन्तीत्यर्थः । गंगासम्बन्धयुक्तानि हिमवद्गिरिसनिधी । स्थानानि यद्धि विद्यन्ते तदा किं दुष्टसेवया । वसन्ततिलकावृत्तभिदम् ॥ ६६ ॥

भा० टी॰--गंडाकी तरंगोंके ठण्डे जलकणोंसे जो शीतल होरहे हैं, और जहां विद्याथर ठौर ठौरपर बेठे हैं ऐसे हिमालयपर्वतके स्थानोंका क्या लोप होग-याहै जो अपमान सहन करकेभी मनुष्य पराए दिएहुए अन्नमे रुचि करते हैं॥५६॥ दोहा—गङ्गातट गिरिवर गुफा उहां कहा नहिं टोर।
पयों ऐते अपमान सों खात पराये कीर ॥ ६६॥

यँदा मेर्सःश्रीमाशिपतंति युगान्ताशिनिहतः समुद्राः शु-प्यंति प्रचुरिनकरमाहिनलयाः॥धरीगच्छेत्यन्तिधरणिधरपा-देरपि धृती ईत्रीरेकां वार्त्ता करिकलभकणीयचपैले॥६७॥

संद शिद—भेतुनियान्यायेन झरीरस्याशियलामाह । यदेति । श्रीमान् कनकमयो मेर्युगाः तस्य प्रत्यकालस्य योऽभिन्तेन दान्तिधाृर्णानः सन् यदा पतित । प्रचुराणां बहुनां मकर्राणां ग्राहाणां च जलच्चरिविश्याणां नित्या आल्याः समुद्रा अपि तेन युगान्ताग्निना यदा शुव्य- वित । तथा धरणीधराणां पर्वतानां पार्द्रस्तर्प्रायिभिन्ता या धरा पृथिवी साध्यन्तं विनाशं तेनेत्र यदा गण्डिन सदा करिकल्भस्य गजशायकस्य कर्णाप्रयच्यप्ते द्वारोरे का वार्ता स्थिरल- सम्बन्धिनी न कार्याच्यर्थः ॥ मेर्याद्यः रिवरा नस्युस्तदा ।के वपुपः स्थितः । भविता न तु के- पांचिज्ञानन्नेवं शित्रं भजेत् ॥ १ ॥ शिलिरिणीवृत्तिभद्दम् ॥ ६७ ॥

भार टी०--प्रत्यकात्रके अग्निका माराहुआ जव श्रीमान सुमेरु पर्वत गिरपडताह, वह वह ग्राहों और मक्तरोंके स्थान समुद्र जब सूखजातेहैं, और पर्वतोंके पगसे द्वीहुई पृथ्वीभी जब नष्ट होजातीह तौ हाथिके वचाके कान-के लोंके समान चंचल शरीरका स्थिरताका क्या भरोंसा है॥ ६७॥

दोहा—मेरु गिरत सृखत समुद्र धरिन प्रलय वहै जात । चल दलके दलसी चपल कहा देहकी वात ॥ ६७॥

एकोंकी निःस्पृैंहः झान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर्रः ॥ कर्दा श्राम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥ ६८॥

सं ० टी०—इदानीं वेराग्यपूर्वकं ज्ञानं प्रार्थयति । एकाकीति । हे शम्भो ! एताहशोऽहं कदा भविष्यामि कीदश इत्याकांक्षायां सर्वाणि प्रथमान्तविशेषणानि एकाकीत्यादिनि । अद्वितीयः निस्पृह इच्छाशृन्यः, अतएव शान्तः उपशमी । पाणी हस्तौ पात्रममत्रं यस्य स पाणिपात्रः। दिश एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स दिगम्बरः । कर्मणां संज्ञितप्रारव्यक्तियमाणानां निर्मूछने तत्त्वज्ञानेनाज्ञाननाश- द्वारा नाशने क्षमः समर्थ इति । एकचारी स्पृहाहीनो दिग्यासः करमाजनः । कदा स्याभि हि तत्त्वज्ञः कर्म दग्धुं सदाशिव ॥ १ ॥ अनुष्टुबृहत्तमिदम् ॥ ६८॥

भा॰ टी॰—हे शम्भो ! में कब एकाचारी, इच्छाशून्य, शान्त, दिगम्बर, पाणिपात्र (अपने हाथोंकोही पात्र बनानेबाला) आर कपोंकी जड उखाउनेमें समर्थ होऊंगा ॥ ६८ ॥

दोहा-एकाकी इच्छारहित पाणिपात्र दिगवस्त्र ।

शिव शिव हों कव होउंगो कर्मशत्रुको शस्त्र ॥ ६८।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं दंतं पदं शिः रॅसि विद्विषतां ततः किम् ॥ सम्मानितः प्रणियनो विर्मे वेस्ततः किं केंल्पं स्थितं तनुभूतां तर्नुभिस्ततः किम्॥६९।

सं टी०—जन्ममरणरूपसंसारीनवृत्ति विना श्रीप्राध्यादि सर्व व्यर्थमेवेत्याह । प्राप्त इति । सकलान् कामान् मनोऽभिल्णितभोगान् दुहित पूर्यन्ति याः श्रियस्ता यदि प्राप्तास्तद ततस्तरप्राप्तेः किं संसारिनवृत्तिभीविष्यत्यणि तु नेत्यर्थः । विद्विपतां विरिणां शिरिस यदि पदं दर्षं न्यस्तं तिर्हं ततःकिम् । प्रणयिनः प्रियाः सम्बन्धिनो विभविगजतुरगिदिभिषीद सन्मानिताः सन्कार्ण प्रापितास्ततः किम् । तनुभृतां जीवानां तनुभिः शरीरैः कल्पं कल्पपर्य्यन्तं यदि धितमस्यारि ततः किं न किमिप । एतैभववन्धनान्मुक्तिने भवेदित्यर्थः । श्रियः प्राप्तिवैरिजयः कल्पावि च जीवनम्। सर्वे व्यर्थे भवेत्रृणां यदि नापैति संसृतिः ॥ १ ॥ वसन्तितिल्कावृत्तमिदम् ॥ ६९ ॥

भा॰ टी॰--यदि सर्वकामनाओं के देनेवाली लक्ष्मी पाई तौ इससे क्या ? शत्रुओं के शिरपर पग धरा तौ इससे क्या ? धनसे मित्रोंका सन्मान किया तौ इससे क्या ? यदि इस देहसे कल्पपर्यन्त जिये तौ क्या ? अर्धात जवतक मनुष्य जन्मगरणरूप संसार निवृत्तीको नहीं प्राप्तकरता तवतक उसकेलिये यह सव व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

दोहा—-इन्द्र भये धनपति भये भये शत्रुके साल। कलप जिये तौऊ गये अन्तकालके गाल॥ ६९॥

कलप जिये तौज गये अन्तकालके गाल ॥ ६९ ॥ जीर्णा कंथों ततः किं सितंममर्लंपटं पहसूत्रं ततः किं एकीं भीर्या तेतः किं हयकरिसुंगणेरिंहतो वीं तेतः किं॥ भीकं मुक्तं तेतः किं कददीनमथवीं वासेरांते ततैः किं ब्रह्मंज्योतिनीवान्तिमिथतमवर्भेयं वैभीवं वी तेतः किम् ॥ ७०॥

सं० टी॰ — जीर्गित । लीर्णा यहचा रह्या ततः किए । सितं शुक्षममर्खं स्वच्छं परं वतः वा पर्स्तं हुक्लादियं ततः किए । एका अहितीया भार्या ततः किए । हया अधाः करिणो गजाध तेपा होमना गणाः समृहार्म्तराहतो ज्यामो या ततः किए । मक्तमोदनं भुक्तं ततः किए । सक्तमोदनं भुक्तं ततः किए । सक्या वासरान्ते दिनान्ते कदशनं कुसितभोजनं ततः किए । तथा व्यक्तं प्रस्तक्षं व्योतिर्वत यरिमस्तथाविधं गथितं भवभयं संसारभयं येन अन्तः हदि वैभवं ऐश्वर्यं न ततः किए । सम्बर्शहत्ताभिदग् ॥ ७० ॥

भा० टी० —यदि पुरानी गुरडी घारण की तो क्या ? उण्डवल निर्मल वस या पीताम्बर धारण किया तो क्या ? एकही स्त्री पास रही तो क्या ? अथवा हाथी घोडोंसिहत करोडों स्त्रियां रही तो क्या ! यदि भात आदि उत्तम भोजन किया तो क्या ? अथवा यदि सायंकालको कुत्सित अन्न खाया तो क्या ? संसारभयके नष्टकरनेवाली ज्ञान्योतिको हृदयमं धारण न की और वडा वभव पायाभी तो इससेभी क्या है ?॥ ७०॥

छप्रय्—जैसो कन्था चीर रेशमी सारी वैसी। जैसी नारी. एक अश्वगजयुत वहु तैसी। व्यंजन वहुविध सरस कहा मन-कों ललचाव। सांझ समय विन नीन ट्रक तऊ भूक बुझावे। बहु-विध वैभव कहा कहा शतवर्षिह जीये। होय न भवभय दूर विना हरिपद चित दीये॥ ७०॥

भक्तिर्भवे भरणजन्मभयं हिद्स्थं स्नेहो न वन्धुषुं नं मन्मथर्जा विकाराः ॥ संसर्गदोष्रेहितो विजने निवासो वैरार्ग्यमस्ति किर्मतिः पर्रमर्थनीयम् ॥ ७१ ॥

सं० टी०—यदि भगवद्गक्तिवैराग्यादिकमस्ति तार्हि तेनैव छतार्थ इःयाह । भक्ति-सं० टी०—यदि भगवद्गक्तिवैराग्यादिकमस्ति गाक्तिः परानुराक्तिविते । मरणजन्मनोर्भयं च रिति । भवति संसारोऽस्मादिति भवः शंकरस्तास्मिन् भाक्तिः परानुराक्तिविते । स्मार्गद्रश्नसंजा-हृदिस्यमस्ति, वन्धपु स्नेहः सिक्तरिप न । तथा मन्मथः कामस्तजन्या ये विकाराः परस्त्रीदर्शनसंजा-दृदिस्यमस्ति, वन्धपु स्नेहः सिक्तरिप न । तथा मन्मथः कामस्तजन्या ये विकाराः परस्त्रीदर्शनसंजा-पादयस्तेऽपि न सिन्ति । संसर्गदोषेण रिहता विजने वने निवासः स्थितिवर्तते । देवसम्पन्मूलभूतं पादयस्तेऽपि न सिन्ति । संसर्गद्रिसाधनकलापात् परमन्यत् किमर्थनीय याचनीयमस्ति न किमपीसर्थः । वैराग्यं चाास्ति । अति भक्तपादिसाधनकलापात् परमन्यत् किमर्थनीय याचनीयमस्ति न किमपीसर्थः । भक्तिभेत्रे जनेभीतिर्न प्रीतिस्तनयादिषु । हृदि कामविकारो न वैराग्यं किमतःपरम् ॥ १॥ भक्तिभेत्रे जनेभीतिर्न प्रीतिस्तनयादिषु । हृदि कामविकारो न वैराग्यं किमतःपरम् ॥ १॥ भा शि०--शिवनीमं भक्ति हो, मरण और जनमका भय हृदयमें हो, भाईबन्धुओंमे स्नेह न हो, कामदेवजनित विकार मनसे दूर हों, और संसर्ग-दोपसे रहित निर्जनवनमें निवास हो तो फिर बताओं इससे वहकर और वैराण क्या है जो ईश्वरसे मांगनेयोग्य है ॥ ७१॥

दोहा—मन विरक्त हरभक्तियुत संगी वन तृणाडाम । याहृतें कछ और है परम अर्थको लाम ॥ ७१ ॥

तर्रमादनन्तमंजरं पर्रमं विकासि तहहाँ चिन्त्य ेकि मिर्भिरसिक किल्पेः ॥ यर्र्यानुषंगिणी इमें मुवनाधिपत्यमो-गार्दैयः कृपणलोकमेता भैवन्ति ॥ ७२ ॥

सं० टी० - ब्रह्मोपदेशपूर्विकां छोकतुच्छतां दर्शयति । तस्मादिति । वराग्यस्य ब्रह्मचिन्तनार्थवात् भो विरक्त त्वं ब्रह्म चिन्तय सम्यग् जानीहि । तर्हि कीटशं ब्रह्मानन्तं देशकाळ्वस्नुपरिच्छेदशून्यं यते। इत्रः देहध्यमंजरादिविकारहीनमतएव परमं सर्वाधिष्टानतया सर्वेत्छप्टमतएव विशोकं शोकोपळक्षिता विद्या तंत्कार्यरिहतं तद्वह्म विहाय किमेभिरसिद्वकल्पः देहिन्द्रियादिष्वात्मदृष्ट्या योगक्षेमार्थमत्तंकल्पः कि न किमिप सुखमित । यस्मादस्य ब्रह्मानन्दस्यानुपङ्गिणः सम्बन्धिनः सन्त इमे भृवनाधिपयमोगादयो ब्रह्मेन्द्रादिसम्बन्धिसुखविशेपास्तत्साधनानि च कृपणळोक्तमताः विपयसुखेन्छ्या कृपणा दीनाः पामराः ये लेकास्तेषां मताः सत्यतयाऽभिमता भवन्ति । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजी-वन्तीति श्रुतेः । सिचदानन्दरूपं यत्तदन्तःकरणे यदि । आविभवते प्रियाः सर्वे तत्सम्पकाद्ववान्ति वे ॥ १ ॥ वसन्तितिळकावृत्तिमदम् ॥ ७२ ॥

भा० टी॰—है विरक्त! तुम अनन्त, अजर, परमोत्कृष्ट, शोकरहित, ब्रह्मका चिन्तन करो। असद् विकंख्पोंके करने से क्या लाभ है, पामरजनोंको भ्रमि-तकरनेवाले यह भुवनाधिपत्य भागविल,स आदि सब उसी परब्रह्मके आश्रितहै॥७२॥

दोहा—नहा अखण्डानन्दपद सुमरत क्यों न निशंक। जाके छिन संसर्गसों लगत लोकपति रंक॥ ७२॥

पातै। त्याविशाँ सि यासि ने भोविलंद्यं दिङ्मर्ण्डलं अ-मोसे मानस चापलेने ॥ औन्त्यापि ''जीतु विमैलं केंथमा-तेमैंनीतं तें इहीं नें स्मेरिसे' निर्दातिमेषि येने ॥ ७३॥

भार टी०--हे चिन ! मृं अवनी चञ्चलनाके वज पातालमें जाताहै, साकामको पादिनाँहें। और सब दिशांओंमें भ्रमण करताहै, परन्तु भूलकरभी कभी हहयमें रिपत चिमल उस परम्रायका रमरण नहींकरताहै कि जिसके स्मरण-मात्रसे मृं परमानन्दको प्राप्तहोंसकाई; यता इसका क्या कारण है॥ ७३॥

कुण्डलिया—फांच्यों तें आकाशकों पेठ्यो तें पाताल । दशों दिशामें तें पिज्यों ऐसी चंचल चाल ॥ ऐसी चंचल चाल इतें कवह निह आयों । बुद्धिसदनको पाय पाय छिनह न छुवा-यों । देख्यों नाहि निजरूप कृप अमृतको छांट्यों । ऐरे मन मित-मृह क्यों न भववारिधि फांच्यों ॥ ७३ ॥

रांत्रिः सेवं पुनंः सं एवं दिवंसो मर्त्वा वुधी जन्तैवो धावें-न्युचंमिनस्तथेवं निभृतप्रारब्धतत्तत्कियाः ॥ व्यापारेः पुन-रुक्तर्युक्तविपयेरेवंविधेनीमुना संसारेणे कदेथिताः कैथमहो

मोहाँ हैं छज्ञाँमहे ॥ ७४ ॥

मं० टी०—कारयित् संसारसम्बन्धिकण्यागीरः खिन्नपुरुपस्पोक्तिः । रात्रिरिति । अहो इति दुःग्वे । अमुना प्वंविधेन संसारेण कदर्थिता वयं मोहान्मोद्ध्यात् कथं न लजामहे । कैः ज्यापारः । किंभूतः ज्यापारः । पुनरुक्ताविपयेः पुनिविहितानि पुनरुक्तानि यानि भुक्तानि भोजनानि अन्ये च विपयाः पुनः पुनरुक्तास्तेर्जुधाःपण्डिता जन्तवः प्राणिनः उद्यमिनः उद्यम्बन्तो धावन्ति । किंभूता जन्तवः तथेव पुनः पुनिविम्हतप्रारन्धतत्तियाः वारंवारं निभृताः प्रारन्धास्त-किंभया चरते । किं कृत्वा तां रात्रिं मत्ता । चान्यत् पुनस्तथैव दिवसं मत्वा ज्ञात्वा । यतः पुनिष् किंभया चरते । किं कृत्वा तां रात्रिं मत्वा । चान्यत् पुनस्तथैव दिवसं मत्वा ज्ञात्वा । यतः पुनिष् रजनी पुनरिष सार्व पुनरिष पक्षः पुनरिष मासः ॥ पुनरिष सार्व पुनरिष वर्षे पुनरिष वृद्धः पुनरिष याति समिति च कालः । प्वंविधं कालस्य स्वरूपं ज्ञात्वा तस्मत् संसारिहरिक्तियेव न भवतीति ग्रीडा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तिमृदम् ॥ ७,४ ॥

भा॰ टी॰—वेहि रात्रि होतीहै, वेही दिन होतेह, यह जानकरभी बुद्धिमान मनुष्य ज्योग करतेहुए वारंवार कहे ओर भोगलिये विषय जिनके ऐसे अने कव्या गरोसें पुनः पुनः आरंभिकयी जन्ही २ क्रियाओंको करते जिस संसारमें डोलतेहैं; इस संसारकरके कदर्थनिकयेहें तौभी अपनी मृहताहेनुसें अहो आश्रय है कि हम लिज्जित नहीं होतेहैं; और इस असारसंसारका परिन्याग नहीं करतेहैं।। ७४॥

कुण्डिलिया—नेही निशि वेही दिवस वेही तिथि वेही वार। वे उद्यम वेही किया वेही विषयविकार। वेही विषयविकार सुनत देखत अरु सुंघत। वेही भोजन भोग जागि सोवत अरु ऊंघत। महा निलज यह जीव भोगमें भयो विदेही। अजहूं

पलटत नांहि कढत गुण वेके वेही ॥ ७४ ॥

मेही शिष्टा शरैया विपुरुमुपैधानं मुजलँता वितानं चार्काशं व्यजैनमनुकूरोऽथंमनिर्छः ॥ स्फुरेद्दीपश्चन्द्रो विर-तिवनितासर्कृमुदितः सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभृतिर्घ-पे इवै ॥ ७५ ॥

सं० टी० — अधुना विरक्तस्य मुनेरैश्वरेंग राजतुल्यतां वर्णयति । महीति । मुनेः पृथि व्यव शिष्टा श्रेष्ठा शय्याऽस्ति । मुजलतेव विपुलमुक्तममुपधानमुपवर्हणं । आकाशमेव वितानमुपितनाः वरकवस्त्रमण्डपः । अयमनुक्लोऽनिले वायुर्व्यजनम् । चन्द्र एव स्फुरद्दीपः । विरतिः विरिक्तरेव वानिता स्त्री तस्याःसङ्गेन मुदितः आनन्दयुक्तः । एवंभूतो मुनिः शान्तःसन् सुखं शेते क इनातनुः । भृतिरित्तसमृद्धो नृप इनेत्रपर्थः । मह्यादि शय्यादि विना श्रमेण लब्ध्वा मुनिः शान्तमना वितृष्णः । भृतिरित्तसमृद्धो नृप इनेत्रपर्थः । मह्यादि शय्यादि विना श्रमेण लब्ध्वा मुनिः शान्तमना वितृष्णः । श्रीते सुखं भूप इनालचुश्रीः शिवं समरन्नष्टजगदिमोहः ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ०५ ॥

भा० टी०—पृथ्वीही जिसकी उत्तम शय्या है, भुजाही उत्तम तिकया हैं, आकाशी जिसका ओढनेका वस्त है, यह अनुकूल हवाही जिसका उत्तम पंखा है, चन्द्रपाही जिसका प्रकाशमान दीपक है, और विरितिही जिसकी स्त्री हैं, ऐने प्रपत्निचत शान्त योगीश्वर अतिसमृद्धिमान राजाओं केसमान सुखपूर्वक शायन करतेहैं। ७९।।

छप्पय--पृथ्वी परम पुनीत पलंग ताको मन मान्यो । तिकि या अपनी हाथ गगनको तम्बृ तान्यो । सोहत चन्द चिराक वी

जना करत दसोंदिसि। वनिता अपनी वृत्ति संगही रहत दिव-सिनाशि। अतुलित अपार सम्पति सिहत सोहत हैं सुखमें मगन। मुनिराज महानृपराज ज्यों पौढे दैखे हम दृगन ॥ ॥७५

त्रैलोक्याधिपतित्वैमेवॅ विरंसं यस्मिन्महाशासने तैछ-व्ध्वासनवस्त्रमानघर्टने भोगे 'रैतिं मीं कृथीः॥भोगैः 'काऽ-पि सै एक एवं परेमा नित्योदितो जुमेमते यत्स्वीदाहिरें-सा भर्वेन्ति विषर्थें।स्त्रैलोक्यराज्यादेँयः॥ ७६॥

स॰ टी॰--त्रैलोक्येति । हे सात्मन् तत्परब्रह्म लब्ध्या भोगे रार्ति मा ऋथाः । यस्मिन् परम्रह्मणि एव निश्चेयेन त्रैलोक्याधिपतित्वं विरसं वर्तते । किं भूते भोगे आसनवस्त्रमानघटने भासनं सिंहासनसुखासनादि, वस्त्राणि चीरांशुकपदृदुक्त्लादिनि, माना महस्वास्तिःवमानादिः तेपां घटनं यस्मिन् तस्मिन् । एवंविधे भोगे का रतिः । कोऽपि सम्भोग एक एव परमो निन्योदितः सन् उञ्जूम्भते । यत्स्वादात् यस्य ब्रह्मणो रसास्वादात् त्रैलोक्यराज्यादयो त्रिपया विरसा भवन्ति । मेक्सिदायकत्वादित्यर्थः । शार्दृलविक्रीडितं वृत्तमिदम् ॥ ७६ ॥

भा ॰ टी ॰ -- हे आत्मन् । जिस ब्रह्मज्ञानके पाप्तहोनेसे त्रिभुवनका राज्य निस्सार होजाताहै उसको पाकर भोजन वस्त्र और मानकेलिये भागोंमें पीति मतकर, वही एक भोग सबसे श्रेष्ठ और नित्य उदित अर्थात् प्रकाशित है, जिमके स्वादके सन्मुख त्रैटोक्यराज्यादि सम्पूर्ण ऐश्वर्य नीरस होजानेहैं ॥ ७६ ॥

सोरठ[--कहा विपयको भीग परम भोग इक और है।

जाके होत सँजोग नीरस लागत इन्द्रपद ॥ ७५ ॥

किं वेदैं स्मृतिभिः पुराणपंठनैः शांस्त्रेर्महाविस्तरः स्वर्गधामकुटीनिवासफ्लदैः कर्मिक्रयाविभाँनैः ॥ सुंबैद्वेवं भववन्धदुःखरचनाविध्वंसकालार्नेलं स्वात्मानन्द्पद्प्रवेदा-कर्छनं शेषीं विषय्वत्तर्यः ॥ ७७ ॥

सं व टी -- एकमामहानं मुख्या वैदाध्यानादि कोजप्रवारणार्वे स्वर्गार्वे दर्व स निष्कलभिसाह । कि वैदेशित । सामीप्रामाधितैवैदैर्वनिष्ट दिनियोक्तानिः स्तुतितिः पुरानान रकान्द्रनारदीयादीनां पठनेर्मह्पिन्हारपुक्तिन्यांकरणादिशासीश कि न किमी मंसारिहरीन्छक्षणं फळं भवतीयर्थः । तथा स्वर्ग एव मामस्यरण कुळां निवासकथार्यं फळं द्राणीति तथा तैः कर्मस्ता या ब्योतिष्योमादिकियास्तासां किमीर्विणार्थेच कि न किमपुक्तं फळं । वार्दं फळानवे किमिति सुर्वर्वतीति तजाह । मुक्ति । भवस्य संसारस्य यानि जिल्लिक्ट्राणि वेषां भागे मुक्तं तस्याज्ञानस्ता या रचना निर्माणं तस्य विवसे निर्माशे काळानळं प्रळणकाळक्षिणां । स्वस्मानस्त्र पदे स्वरूपे प्रवेशस्तदाकारत्या स्थितिः तस्य कळनं सम्यादकलं तन्तज्ञानमेकं मुक्ता परिस्य शिपा वेदाध्ययनादयो विणाजं स्वयः ब्यवदारमात्रमित्रर्थः । श्रुतिसमृतिपुर्यणेस्तु स्वात्मानं यो न वेद थे। तस्य क्रियाकळापा कि मुनसास्तिदाथिनः ॥ १ ॥ शार्युळिनिक्रीडितं स्वामिदम् ॥ ७० ॥

भा० टी० — श्रुनि समृनि पुगण और वटे वटे बाखोंके पहनेसे क्या प्रयोजन है, केवल स्वर्गरूपीग्राममें कुटी बनाकर रहनाही जिनका फर्ड है ऐसी जो कर्मरूपी किया हैं उनके विलासोंसे क्या प्रयोजन हैं ? संसारके बन्वन रूपदु:खोंकी रचना विध्वंसकरनेकेलिये प्रत्याक्षिकेसटश ब्रह्मानन्द्रपद्में प्रवेशके इद्योगके अतिरिक्त शेप सब विणग्वति हैं॥ ७७॥

छप्य—श्रुति अरु समृति पुरान पढे विस्तारसहित जिन। साधे सव शुभकर्म स्वर्गको वास छद्यो तिन। करत तहां हू चाल कालको ख्याल भयंकर। ब्रह्मा और सुरेश सवनकों जन्ममरणडर। ये वणिकवृत्ति देखी सकल अन्त नहीं कल्ल कामकी। अद्वैत ब्रह्मको ज्ञान यह एक ठौर आरामकी॥ ७७॥

औयुःकछोळेळोळं कतिपयदिवसस्थां यिनी योवनंश्रीर-र्थाः संकल्पकर्ल्पा घनसमयति डिडिश्चर्मा मोगपूगाः ॥कण्ठा-श्लेषोपंगूढं तैंदें पि चें नें 'चिरं यंत्प्रियामिः प्रणीतं व्रह्मं-ण्यासक्तिचेता भैवत भवभयाम्भोधिपीरं तरीतुं में ॥ ७८॥

सं० टी०- —इदानीं जगजीवनादीनां क्षणभङ्गरतं दर्शयन् सदैकरसे ब्रह्मणि चित्तस्येथे मोक्षाय शिक्षयति । आयुरिति । हे उत्तमा ब्रह्मणि प्रत्यगभिन्ने आसक्तं तत्परं चित्तं येपां ता दश यृयं भवत किमर्थमिति चेत्तत्पलं दर्शयति । भवभयाम्बोधिपारं तरीतुं भवस्य जननमरणलक्षणस्य संसारस्य यद्भयं स एवाम्भोधिः सागरस्तस्य पारो मोक्षस्तं प्राप्नुमित्यर्थः । ब्रह्मातिरिक्ते जगत्यस्थिर-त्वमाह आयुरित्यादि पादत्रयेण । जिवनं कल्लोललेलं जलतरङ्गवचपलं, तथा यौवनस्य श्रीः शोभा तिपयदिवसान् स्थातुं शोळमस्या : सा । अर्थास्तु धनतुरगादयः संकल्पकल्पाः अस्थिरत्वेन कल्पतुल्याः। तथा भागपूगा विषयजन्याः । सुखानुभवसम्हाः घनसमये मेवकाळे या तिङ्कित्र्यु-द्दिभ्रमो विलासो येपां तादशाः सन्ति । प्रियाभिः स्त्रीभिः सह यत्प्रणति कृतं कण्ठाकियोप-इमालिङ्ग्गनसुखं तद्दि न चिरं किन्तु क्षणिकं तस्मात् प्रसगिमेने ब्रह्मण्येव शाश्वते मोक्षय नः समाधेयमितिभावः ॥ जीवस्यानर्थदा भागा जीवितं चातिचञ्चलम् । तद्य व्रक्षण्यासक्तीचन्तः ल भवन्सहो ॥ १ ॥ स्रग्धरावृत्तमिदम् ॥ ७८ ॥

भा ॰ टी॰--आयु जलके तरङ्गोंके समान चश्चल है, युवाबस्थाकी बांधा ल्पकालतक रहनेवाली है, धन मनके संकल्पसेभी क्षणिक है, सम्पूर्णभाग पीकालीन विजुलीके समात चञ्चल हैं, और प्यारीस्त्रीका आलिहनकरना हुतद्दिनतक स्थिर नहींरहता, इसलिये संसारम्ब्यी भवसानगर्न पारहानेके

हिंगे हे मनुष्यो ब्रह्ममें अपने चित्तको छीनकरो ॥ ७८ ॥

छप्यय--जलकी तरल तरङ्ग जात ज्यों जात आयु यह। गोवनहू दिन चार चटककी चोंप चाह चह। उयों दासिनीप्रकारा गेग सब जानहु तैसें। तैसेंही यह देह, अथिर थिर टेंहें हैं केंसे। पुनि ऐरे मेरे चित्त तृं होहि ब्रह्ममें लीनगति। संसार अपार मुद्र तर करि नौका निजज्ञानरित ॥ ७८ ॥

ब्रह्माण्डमण्डलीमीब्रं नें लोभीय सनिष्यनैः॥ शफरीस्फुरितेनाव्धेः क्षव्धताँ नी तुं जीवते॥ ७९ ॥

सं० टी०—आब्रह्मभुवना विषया मनिष्यो। न क्षोभयलीवि संगण्यका र उत्तर र र र त्रिमिति | ब्रह्माण्डस्थमण्डली समृहस्तनमात्रं यहाऽत्यं मण्डले मण्डली हत्याउँ रहारा धेर्या है से हा नेचारशीलस्य लोभाय न भवति । तत्र राष्ट्रत्यमारः । हाश्रावेगहित्रा ए मुद्रस्य यथा क्षुत्र्वता क्षीमी न जायते तद्विशर्याः॥ धनालातम्यः स्टेन्स्य ने स्टान्स्य स्ट द्रमसयप्रचारेण सिन्धुर्नवीषसर्पति ॥ शन्षृत्हरागिद्रम् ॥ ००, ॥

भा ॰ ही ॰ -- मनस्त्री अपीत्, जात्मिदाग्यीन मन् एते वर्गनि हिंद ह ब्रह्माण्डमण्डल तुन्छ है, जैसे महलीके इक्ष्यवेसे समुद्र गर्ग, इस्तान इक्ष्या गत्पर्य यह है मनस्वीका चित्र समुद्रवन् सम्भीगाँ, विस्पत् में विस्पत् हार्ने तन्मुख तुन्छमछलीवेसमान है।। ७९॥

दोहा—ज्यों सपारीकों पिरत तथ सागर करत न छोता। अण्डासे प्राप्तण्डको स्था सन्तनको लोस ॥ ७६ ॥

र्यदाँसीदज्ञांनं स्मरतिमिरसंस्कारजितं तदां हेष्टं ना-रीमंथिमिद्मदोषं जर्गदिपे ॥ इदीनीमस्मेंकं पटुतरिववे-काञ्जनजीषां समीभूती देष्टिस्त्रिभुवनमेंपि ब्रह्मं तनुंते ॥ ८०॥

सं॰ टी—यदेति । यदा यस्मिन् प्रस्तावे अज्ञानं आसीत्तदा इदमशेपं जगदिष मया नारी-मयं दृष्टं । किंभूतमञ्जानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं स्मरस्य कन्दर्पस्य यत्तिमिरमन्धकारस्तस्य संस्कारेण पूर्वभवोद्भवपरिणामेन जनितं । इदानीं साम्प्रतमस्माकं समीभूता दृष्टिः समतापरिणामे-नाछंकृतं चेतः त्रिभुवनमि त्रह्म तनुते परत्रह्मस्वरूपं विस्तारयित । किंभूतानामस्माकं पट्टतरिवेवे-काजनजुपां प्रकृष्टपटुर्योऽसो विवेकः पट्टतरिवेवेकः पट्टतरिवेवेक एवांजनं जुपन्ति ते पट्टतर-विवेकांजनजुपस्तेषां । अथ यथास्थितसंसारस्य स्वरूपं पश्चामः । शिखरिणीवृत्तमिदम् ॥ ८०॥

भा० टी०—कामदेवके अंधकारजानित अज्ञानकेकारण यह सम्पूर्ण जगत् मुझको स्त्रीमय दिखाईदेताथा परन्तु इससमय हमारी दृष्टि विवेकरूपी अंजनके लगानेसे स्वच्छ होगईई जिससे सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मयय दिखाई देताहै.॥ ८०॥

दोहा—काम अन्ध जवही भयो तिय देखी सवठौर। अव विवेक अंजन कियें छख्यों अछख सिरमीर ॥८०॥

रम्याश्चनद्रमरीचेयस्तृणवैती रम्या वनान्तर्खेळी रम्यः साधुसमागर्मः द्रामस्खं कांव्येषु रम्याः कथीः॥ कोपोपा-हितवाष्पविन्दुतिरळं रमेंयं प्रियाया मुँखं सैर्व रमेंयमनित्यता-मुपेगते चित्ते नैं किंचितिपुनैः॥ ८१॥

सैं हैं। — चित्ते देवरिंद मित संवास्त्रमात वातु अस्पति भासतः नित्तर्गर्यके समादर्भ पित्र । स्वा इति । चन्द्रमसंचये। स्थाः । यनान्तःस्थाः स्थाः । किन्ता वनानाः स्थाः । स्थान्तः स्थाः । किन्ताः वनानाः स्थाः । स्थानाः । स्थानः । स्थानाः । स्थाः । स्थानः । स्थानः । स्थानः । स्थानः । स्थानः । स्थानः । स्थानः

भाः टी॰—पश्चि चन्द्रमाकी किएमें अच्छी लगनीथी, इस्तित्शनाली भिन्न सुरावती माल्म होतीथी, साधुननीका समागम श्रेष्ठ लगनाथा, अमना- रूपी सुख अच्छा लगताथा, कान्योंमें कथा रमणीय मालूम होतीथी, और कोघ-केकारण निकलेहुए आसुओंकी बून्दोसे चञ्चल पियाका मुख रमणीय दिखाई-देताथा, परन्तु जबसे संप्तारकी अनित्यता मालूम हुई तबसे सबकी रमणीयता जातीरही अर्थात् कुळ अच्छाही नहीं लगता ॥ ८१॥

छप्यय—चन्द चान्दनी रस्य रस्य वनभूमि पहुपयुत्त त्योंही अतिरमणीक मित्र मिळवो अद्भुत। वनिताके मृदु वोल महारमणीक विराजत। मानिनिमुख रमणीक हुगन असु अनझर साजत। एक हे परम रमणीक सब सब कोउ चितमें चहत। इनकों विनाश जब देखिये तब इनमें कछहु न रहत॥ ८१॥

मिक्षांशी जनमध्यसंगरिहतैः स्वायत्तेष्ट्यैः सद्दे दाना-दानिवरक्तमार्गनिरतैः केश्रित्तपरैवी स्थितैः ॥ रथ्याक्षीण-विशीर्णजीर्णवंसनैः संप्राप्तकन्थांसिखिर्निर्मानी निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकवद्धस्पुँहः ॥ ८२ ॥

सं० दी०—इदानीं साधनसम्यक्तिसहितं तपस्विनं दुर्लभावेन नर्णमाने । जिल्लामी । प्रियमिति । प्रियमिति सम्बन्धः । प्रथमिति सम्बन्धः । ज्ञानं स्था सम्बन्धः । ज्ञानं स्था सम्बन्धः । सम्बन्य

भार टीर--भिक्षाटन पारके भोजनवारनेवाले, शहरवार राजिरी संगतिरहित, सर्वदा स्वाधीनविष्टावारनेवाले, देनेसेभी और लेतेनेकी जिल्ल-संगतिरहित, सर्वदा स्वाधीनविष्टावारनेवाले, देनेसेभी और लेतेनेकी जिल्ल-मार्गमेंही स्त स्ट्नेशले, मार्गमें पढे पाटे पुराने बापटीकी गुरुही यास्ट्वपनेताले, मान और अहंकारसे रहित, और शमस्रुख अर्थात् ब्रह्मानन्द्रमेंही इच्छा रखनेवांहै तपस्त्री विरलेही होतेंहें ॥ ८२ ॥

सोरठा—उच्छन्नि गित मान समहिं इच्छारहित ।

करत तपस्त्री ध्यान कंथाको आसन किये॥ ८२॥

मार्तमिदिनि तार्त मारुँत संखे तेर्जःसुवँन्धो जर्छ आतेर्च्योमै निवर्ध एवं भवतीमेषे प्रणामाँ जिल्हा।। युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरिक्सिकज्ञानापास्तसमस्तमोहमिह

भैं। 'छीये 'पॅरे ब्रह्मणा।। ८३॥

सं० टी०—अधुना देहाकारपरिणतपञ्चभूतानां चिरसम्बन्धित्वात्तात्रतिं कुर्वन् क्षमापयित । मातिरिति । हे मातिरिदिनि । धरिण । हे तात । पितर्माहत वायो । हे तेजोऽग्ने सखे सिन्मत्र । हे जल सुबन्धो सत्परिवार । हे ब्योमाकाश स्रातः । भवतां पञ्चानामग्रे एपोऽन्त्यः प्रणामाञ्जलिः प्रणामयुक्तः करसम्पुटो मया क्रियते पुनर्देहाभावात् प्रणामाञ्जलेरभाव इत्यतोऽन्यः । तत्कृतोपकार् समरत्नाह । युष्माकं सङ्गवशेन पाञ्चभौतिकदेहसम्बन्धेन जातो यः सुकृतस्य पुण्यस्योदेक स्माधिवयं तेन रफुरद्धासमानं यित्रर्मले ज्ञानं तेनापास्तोऽपगतस्तमस्तः समग्रे। मोहमहिमाऽज्ञानं तत्कार्यं च यस्य सोऽहं कार्यकारणाभ्यां परे ब्रह्मणि लीये स्यूलं सूक्ष्मं च देहं हित्वा विदेहमुक्तिं यामीत्यर्थः । भूम्यादिपञ्चभूतेपु सम्बन्धं बहुकालिकम् । संस्मरंस्तन्नितं कुर्वन् क्षमापयित सादरम् ॥ १ ॥ शार्द्वलिक्नीडितं कृत्तिमदम् ॥ ८३ ॥

भा० टी ॰ हे पृथ्वि मात! हे पिता वायु! हे सखे तेज! हे बन्धो जल! और हे भ्रात आकाश! मैं तुम पांचोंके सन्मुख हाथ जोडकर अन्तसमयका प्रणाम करताहूं। आपकी संगतीकेकारण उत्पन्न पुण्यकी अधिकतासे प्रकाशमान् ज्ञानहारा मेरी समस्त मोहमहिमा दूर होगईहै और में अब परब्रह्ममें छीन होताहूं॥८३॥

छप्य—अरी सेदनी सात तात मारुत सुन ऐरे। तेज सखा जल छात व्योम वन्धू सुन मेरे। तुमकों करत प्रणाम हाथ तुम आगे जोरत। तुहारेही सत्संग सुकृतको सिंधु झुको-रत। अज्ञानजनित वह मोहहू मिट्यो तिहारे संगसों। आनन्द अखण्डानन्दको छाय रह्यो रसरंगसों। ८३॥ र्यावत्स्वर्र्धिमिद् कलेवरर्ग्धंहं यांवर्च दूरे जरा यांवर्चे-न्द्रियर्शिक्तरप्रतिहतीं यावर्ते क्षेयो नींयुर्षेः ॥ आत्मश्रेपिस तींवदेवें विर्दुषा कीर्यः प्रयेतेनो महींन्प्रोदीप्ते भैवने च कूपखेननं प्रत्युर्वेमःकीहर्जीः ॥ ८४ ॥

सं० टी०—अधुना विघ्वाहुत्याच्छीघ्रमेव श्रेयसे यत्नो विधय इत्याह । यात्रिति । इर्ड् कछेत्ररगृहं शरीरं यात्रस्वस्थमन्यप्रम्, यावज्ञरा षृद्धावस्था दूरे तिष्टिति, यावद्यत्ययंन्तिमित्त्रयाणां शक्तिरप्रतिहत्ता न नष्टा, यावदायुपो जीवितस्यापि क्षयो विनाशो न तावत्प्रथममेव विद्या विवेतिना पुरुपेणात्मनः श्रेयित कत्याणार्थं महानप्रयत्नः कार्यः । ननु यदा भोगशिक्तर्नश्यति तदा श्रेयित् यत्नं करिण्याम इति तत्राह । सन्दीते इति । भुत्रेन गृहे सन्दीम तु दह्यमाने स्वति विभावकार्थे पृष्यननं प्रति य उद्यमो यत्नः स कीदशो नेव योग्यस्तथा देहेन्द्रियादिशक्तिनाशे श्रेयोधं यक्ते उ पि व्यर्थ इत्यर्थः । देहेन्द्रियमनोस्त्रास्थ्यं यावदेव नृणां स्थितम् । जात्मनः श्रेयसे तार्वणेता सुद्धिमान्नरः॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तिमदस्य ॥ ८४ ॥

भा॰ टी॰-जवतक शरीर पुष्ट और निरोग है, जवनक वृद्धायम्या दुर है. जयतक इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट नहीं होतीहै, और जवतक आग्रमाध्य नहीं ह्या है, तभीतक बुद्धिमानपुरुषको उचित है कि अपने कल्याणकेल्यि महा। श्रद्धात करे, क्योंकि घरमें आग लगनेपर क्ञा खोदनेसे क्या लाभ होसत्तार, ॥८४॥

छुप्य — जों लों देह निरोग, और जों लों न जरा मन। अर जो लों वलवान् आयु अरु इन्द्रिनके गन। तो लों निजवा प्राण करनकों यत्न विचारत। वह पण्डित पर धीर दीर लें। प्रधार सहारत। फिर होत कहा जर्जर समें जर नप संजन गरि प्रवण सबकाय उठ्यों निजसवन जब तय क्यों तर एपिए प्रवण ॥ वर्षा

नीष्ट्यस्ता भीव वादिहन्द्दमंनी दिया विकितितिता खडूँ।येः करिकुम्भपीठद्रुंभैनीकी ने निति प्रशः॥ पान्ता-कोमलपळ्याधररसीः 'पीतो ने चैन्द्रोट्ये नार्यंयं नित्तेये निष्कैलंभेहो शून्यींलये दीपर्यंत् ॥ ८५॥ सं० टी०—अत्र योवनस्य त्रिविधं फलं तत्रैकमिप न प्राप्तिमित्यनुतपन्नाह । नाम्यस्ते ति । भुवि पृथिव्यां वादिनामनीश्वरवुद्धीनां यो वृन्दः समुहस्तस्य दमनशीला तथा विनीतानां नन्नाणाः मुचिता योग्या या विद्या सा नाम्यस्ता । तथा करिणां हस्तिनां कुम्भः शिरःपिण्डान्येव पीठावित्यां दलनं विदारणं यैस्तेः खङ्गाप्रैर्यशो नाकं स्वर्गं न नीतं प्रापितम् । कान्तायाः लियः कोमलः पल्टवसदशो योऽधरोष्टस्तस्य रसश्च चन्द्रोदये न पीतः । अहो कष्टं शून्यालये दीपवत्तारूण्यं निष्कलः मेव गतमहिकं सुखमिप न लब्बिमिल्यर्थः । मानुषं दुर्लभं प्राप्य सिद्धेद्या नार्जिता भुवि । ज्ञानखद्वै-रिन्द्रियारिदिमितो न कथंचन ॥ १ ॥ शार्दूलविजीडितं वृत्तमिदम् ॥ ८९ ॥

भा॰ टी॰—वादियोंको दमनकरनेवाली नम्नजनोंके योग्य विद्याका अभ्यास हमने नहीं किया, तलवारकी धारसे हस्तियोंके मस्तकके प्रष्ठभागोंको काटकर स्वर्गतक अपना यश नहीं पहुंचाया, और चान्दनीरातमें सुन्दरहीके कोमल अथरपल्लवका रसभी पान नहीं किया, हाय! हमारी युवावस्था ऐसे वीतगई जैसे शून्यगृहमें दीपक जलकर अपने आप बुझजाताहै॥ ८५॥

दोंहा—निया पढी न रिपु दले रहों। न नारसमीप। जोवन यह योंही गयों ज्यों सूने यहदीप॥८५॥ ज्ञानं सैतां सानमदादिनाञ्जैनं केषांचिदेर्तन्मदमानका-रणिस्।। स्थानं विविक्तं यमिनां विसुक्तेये कामातुरीणामति-कामकारणिसे॥८६॥

संव दि — अधुना ज्ञानिविक्तिदेशयोः सुपात्रे सम्यक् पछं दर्शयन् कृपात्रे विपरीत-भाउं दर्शयति । ज्ञानं सताभिति । सतां श्रेष्टानां यञ्जानं सन्छाम्त्रजन्यं तन्मानस्य मदादिदोषसा च नःशनं शानकम् । वेषांचिदमतानितञ्जानं मदमानयोः कारणं जनकम् । तथा यभिनामुगरतानां गुर्भितां विविक्तं स्थानीनकान्तप्रदेशो विमुक्तये विचारेण तस्त्रज्ञानद्वारा संगागि छेदाप भगति । बामानुगर्यां तु मुख्यवमानां विविक्तमतिकामकारिणं कामिनकारजनकं भवतीरार्थः ॥ १ ॥ इन्हर्वशाहनिदयः ॥ ८६ ॥

भाव टीव-श्रेष्टमनुष्येकि ती ज्ञान मान गदादिका नाम करनेवाला है, और इंग्टरनेकि वही ज्ञान मद और मानका चटानेवालाई, भैमे एकान्नस्थान येशिगीकी तो मुक्तिकिये हैं, किन्तु कामानुगिकी अत्यन्त कामका बटानेवाला है ॥ ८६ ॥

दोहा—ज्ञान घटाँव मान मद ज्ञानहि देय वटाय। रहसि मुक्ति पाँव यती कामी रति छपटाय॥ ८६॥ जीणीं एवं मनोरथाः स्वहदेये यांतं चं तंद्योवनं हन्तां-गेषुं गुणींश्चे वंध्यफलेतां याती गुणेहीविनी ॥ विहानि सहसाभ्युपित वलवीन कालैः कृतांतोऽर्क्षमा विहानि मदनान्तकां प्रियुगीलं मुक्तवास्ति नीन्या गेतिः॥ ८७॥

सं० टी०--मनोरथाद्यसिद्धौ महादेव एवाश्रयणीय इति शिक्षयित । जीर्णो इति । मनोरथाथित्राभिलापाः स्वहृदय एव जीर्णा बहिस्तद्विपयप्राप्तिने जाता । तत्प्रसिद्धं योवनं च यातं गतं हन्ताहो कष्टं गुणक्षैविना गुणाक्षांगेष्वययवेष्वेव वन्ध्यफलतां निष्फलतां याताः प्राप्ताः । कृतान्तः सर्वनाशकः नास्ति क्षमा यस्य सोऽश्लमी बल्वान् कालः सहसाऽकस्मादभ्युपैत्यागच्छिति तस्मात् कि युक्तं ययुक्तं तदेवाह । विज्ञानां मदनान्तकस्य कामिवनाशकस्य महादेवस्य यदंत्रियुगर्वं चरणहन्दं तन्मुक्त्वा त्यक्त्वाऽन्या गितः स्थानं नास्तीति कालकालस्य महेश्वरस्य चरणारिवन्दमेवा- श्रयणीयिमिति भावः । संकल्पा विफला जाता योवनं च गतं मम । निल्यः सर्वकामानां श्रयणीयिमिति भावः । संकल्पा विफला जाता योवनं च गतं मम । निल्यः सर्वकामानां शिवांत्रिः शरणं भवेत् ॥ १ ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तिमदम् ॥ ८७ ॥

भा० टी०—सम्पूर्ण मनोरथ हृदयमें ही जीर्णहोगये, कोईभी उनमें ते सिद्धनहीं हुआ, युवावस्थाभी व्यतीतहोगई, और गुणझोंके विना सम्पूर्ण गुणभी निष्फलहोगये, अब सर्वनाशक वलवान काल सहसा निकट आरहा है, इसमयय निष्फलहोगये, अब सर्वनाशक वलवान काल सहसा निकट आरहा है, इसमयय क्या कर्तव्य है? मेरी समझमें विद्वानों के लिये इससमयती के वल कामनाशक शिवजीके चरणयुगलको छोडकर और कोई गति नहीं है॥ ८७॥

छप्य—सनके मनहीं माहि मनोरथ वृद्ध भये सव। निज-अंगनमें नाशभयो वह जोवनह अव। विद्या है गई वांस वृत्तवारे नहिं दीसत । दौर्यो आवत काल कोपकर दशनन पीसत कवहूं नहिं पूजे प्रीतिसों चक्रपाणि प्रभुके चरण। भववंधन कार्ट कवहूं नहिं पूजे प्रीतिसों हर शरण॥ ८७॥ कौन अव अजहूं गहिंरे हर शरण॥ ८०॥

तृषी शुर्वंपत्यांस्ये पिवाति सिठिछं स्वाहुँ सुराभि क्ष्यानीः सन् शालीनी कवर्ळियति शाकादिवलितीन् ॥ प्रेंदीते कीना-सो सुर्दृर्दंतरमाश्रिल्पेयति वैध् प्रतीकीरो व्योघिः सुर्दिमिनि विपर्यस्यैति जनीः ॥ ८८॥ सं ० टी ०--- प्राणी साठेलं पानीयं पिवति । कस्मिन् सितं । आस्ये वदने तृपा गुष्पितं सिते । कथभूतं सिठेलं । स्वादु सुरिभे । प्राणी क्षुधार्तःसन् शालीन् कवल्यति । किटिशान् शालीन् शाकादिविकतान् । प्राणी कामान्ना प्रदीप्ते सित सुदृहतरं यथा भवित तथा ववृं भायीमाश्चिष्यत्यालिङ्गति । जनः प्राणी व्याधेः प्रतीकार उपचारः सुखिमिति विपर्यस्यति विपर्यासं करोति । शिखरिणीवृत्तिमिद्म् ॥ ८८ ॥

भा० टी०—जब मनुष्यका कण्ड प्यासकेकारण मूखनेलगताहै तब वह शीतल जल पीलेताहै, जब क्षुधासे पीडित होताहै तब शाक आदि सामग्रीके साथ चांवलोंके भोजन करताहै, और जब कामदेवका अप्रि प्रचण्ड होताहै, तब सुन्दरस्त्रीको हृदयसे लगाताहै, विचारकर देखे तो यह एक व्याधिकी औपि हैं. परन्तु लोगोंने इसको जलटा सुखही समझरखाहै ॥ ८८ ॥

छप्पय—प्यास लगे जब पान करत शीतल सुमिष्ट जल। भूख लगे तब खात भात घृत दूध और फल। बहत कामकी आगि तबहि नववधू संगरित। ऐसे करत विलास होत विपरीत दैवगित। तब जीव जगतके दिन भरत खात पियत भोग हुहु करत। ए महारोग तीनों प्रवल विना मिटाये निहं मिटत॥ ८८॥

रनार्तवा गोङ्गः पैयोभिः शुचिकुसुमफेलैरचीर्यंत्वा विभों रवीं ध्येयं ध्याने निवेश्यं क्षितिधरकुहरयावशय्यानिषणीः ॥ आत्मार्शामेः फलैशि गुरुवर्चेनरतरत्वर्द्यसादात्स्मरीरे दुः-रैवान्मोर्द्धेये केंद्रीहं तेव चरणेरतो ध्यानमागेंकप्रकाः॥८९॥

सं० टी०—इदानीं मनुष्याणामुचितं क्रत्यं दर्शयंस्तत्प्रार्थयति । स्वालिति । हे विभो !
गार्ज्ञः पयोभिः सात्या सुचीनि यानि कुमुमानि फळानि च तैस्त्वामचिथित्वा प्रपृत्य ध्येयं त्यां
ध्याने मनोष्ट्रची निवेदय स्थापिथता क्षितिवरः पर्वतस्त्तस्य कुहरे मुद्दायां प्राव्णां पापाणानां या
द्याया तस्यां निपण्ण आसीनः सन् आक्ष्मत्येवारामी यस्य सः, फळाशी फळभोजनी गुरुवचने रतः
श्रद्धार्युर्वभृतः सन् हे स्मरोरे ! त्वत्यसादात् तव क्रवया दुःखाविविधान् कदा मोक्ष्ये मुक्ती
विचन्त्रयाः । गंगायां
हत्त्वं कृषा गन्धपुष्पाद्यतैः शिवम् ।

म्हायायुत्तिमद्ग ॥ ८९ ॥

भा॰ टी॰—हे विभो ! हे स्मरारे (कामदेवके शत्रू) ! गंगाजलसे स्नान कर मृत्र पवित्रपुष्योंसे आंपको पूजा ध्यान करनेके योग्य आपकी मूर्ति मन-में स्यापनकरके पर्वतकी कन्दरामें पत्थरकी चट्टानपर वैठ आत्माराम और फलाहारी होकर आपकेही चरणोंमें रित रखनेवाला और आपकेही ध्यानमें मगरहनेवाला में आपकी कृपाद्वारा कव इस दुःखसे मुक्त होऊंगा॥ ८९॥

दोहा—नरसेवा तिज ब्रह्म भिज गुरुचरणन चित छाय। कव गंगातट ध्यान धर पूजोंगो शिवपाय॥ ८९॥

राय्या शैलिशिलों ग्रेंहं गिरिगुँहा वहां तरूँणां त्वर्चः सी-रंगाः सुहंदो नीनुं क्षितिरुहां हैंतिः फैंकें कोमेंकें ॥ वेपां नैर्झरणाम्बुपीनमुचितं देशें चें विद्यांगनीं मन्यन्ते परमे-थरीं: शिरेंसि वे विद्यों में सेवार्क्केंटिः ॥ ९० ॥

सं० टी०—इदानीमीश्वरानुगृहीतानां वृत्ति सध्यंस्तान स्त्रीति । शर्यो । ते पर स्त्रामिनंतु निश्चयेनेश्वरा मन्यन्ते ज्ञायन्ते । ते के । येपां शिव्यति । शर्याः किति । ते के । येपां शिव्यति । शर्याः किति । ते के । येपां शिव्यति । शर्याः किति । ते के । येपां शिव्यति । वित्ति । शर्याः किति । वित्ति । विति । वित्ति । व

वृक्षफल भोजन जिनके। विद्या जिनकी नारि नहीं सुरपित सम तिनके। लगत ईशसम मनुज हमें ऐसे जगमाही। जे परसेवा काज हाथ निज जोरत नाहीं॥ ९०॥

सैत्यामेवं त्रिलोकीर्सरित हरिशरश्चुम्बिनीवच्छैटायां सर्वृत्तिं कल्पयन्त्यां वटविटपैमवैर्वलैकलैः सत्फिलेश्चँ॥ कोऽ यें विद्वानें विपत्तिज्वरजनितरुजातीवें दुःश्वासिकी-नां वैक्त्रं वीक्षेतिं दुँःस्थे येदि हि नै विभूयात्स्वे 'कुर्टुम्बे-ऽनुकम्पीम् ॥ ९१॥

सं० टी०—विपत्तिः वरप्रस्ते कुटुम्बे स्पृहां कृत्या दुःखेन स्थियपेक्षयासन्तसुखरो गङ्गानीरे निवासः श्रेयानिति कथयनाह । सत्यामिति । हि निश्चितं यदि दुःस्थे स्वकीथे कुटुम्बेनु-कम्पां कृपां न विभृयात् । "यत्तदीनित्यसम्बन्ध इति न्यायात्" तदा कीऽयं विद्वानतीय दुःश्वासि-कानां नारीणां वक्त्रं विश्चेत, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । कया विपत्तिः वरस्तेन जनिता रक् तया । कस्यां सत्यां त्रिलेकीसरिति गङ्गायां सत्योमव । किंभूतायां सरिति हरिशरङ्चुम्बिनीयः छटायां हरिशर्ध्वः श्वुम्बिनी ईश्वरमस्तकस्य रमणीवच्छटा वप्नदेशे। यस्याःसा । पुनः किंभूतायां त्रिलेकीसरिति । सङ्चि सदावरं कत्ययन्त्यां प्रिरयन्त्यां । कैः सन्किलः किंभूतैः सत्किलः वटियपटमेर्थिट च्योद्वयः ॥ स्वयरावृत्तिमदम् ॥ ९१ ॥

भा० टी०—यदि अपने कुटुम्बपर दया न करे ताँ कौनसा विद्वान महा-देव नीके मस्तकपर रहनेसे जिसका तटमदेश शोभितह, और जो वट्छससे उत्पन्न बल्कळ और सत्फलेंद्वारा सहितिकी मेरणा करतीहै, ऐसी महाजीको छोड-कर विपतिक्षी ज्वरसे जनित रागाँके कारण लम्बी श्वास लेतीहुई सियाँके मुख्को देखेगा॥ ९१॥

हृष्प्य—सोहत जो शिवसीस जटा सुरसरिकी धारा ॥ वटतरु वत्कल फूल जामु तटवृत्ति अपारा ॥ त्याग सुखद अस गंग कीन ऐसें। नर वो है ॥ परिजन करुणाहीन नारिकी आनन जोहें ॥ छेत सुदीरव श्वास विपत्तज्वर जीरण भागी ॥ सवविधि दुखकी खान महानिद्य यह नारी ॥ ११ ॥ उद्यानेषु विचित्रभोजैनविधिस्तीवाँतितीवं तर्पः कोपी-नावरंणं सुर्वस्नमितं भिक्षाँटनं मण्डनम् ॥ असिन्नं मेरेणं च मंगिंकसमं यस्यां समुत्येंद्यते तीं कींन्नीं परिहर्त्य हन्तें विवैंधेरन्येत्र किंै स्थीयैते ॥ ९२॥

सं० टी०—इदानीं श्लोकद्वयेन काशीवासश्रेष्टत्वं वर्णयति । उद्यानेष्विति । तां काशीं परिद्य परित्यच्य हन्तिति खेदे विवृधेः किमन्यत्र स्थीयते । यस्यां काश्यामुद्यानेषु विचित्रभोजनविधि स्तीनातितीत्रं तपः । चान्यत् सुवस्त्रं कौपीनावरणं । मण्डनं यस्यामितं भिक्षाटनं । यस्यां काश्यां मङ्गलसममासनं मरणं समुत्यद्यते । तां काशीं मुक्त्वा कथमन्यत्र स्थीयत इतिभावः । शार्द्वविक्रोडितं वृत्तिमदम् ॥ ८२ ॥

भा० टी०-उपवनोंमें नानाप्रकारके भोजन बनाकरही खाना जहां किन सें कठिन तप है, लंगोटी पहरनाही जहां परम सुन्दर बस्त हैं, भीख मांगनाही जहां भूपण हैं, और मृत्यु आनाही जहां परमपहल उत्पन्नकरताहै, हाय ! ऐसी काशीपुरीको त्यागकर पण्डितजन अन्यत्र क्यों बसतेहैं ॥ ९२ ॥

कुण्डलिया—काशीमें जहां शिव वसत ताके बैठ उद्यान। विविध अशन सम तप नहीं देख्यों उप्र महान्। देख्यों उप्र महान् भीख जहाँ सुन्दर भूषण। खण्ड एक कोपीन वसन वहुमूल्य अदूषण। सरणिह मंगलकरण मिले जहाँ हर अविनाशी। को ऐसी विद्वान् तजे जो ऐसी काशी॥ ९२॥

नौंधं ते समयो रहस्यमधुनी निर्द्राति नौथो थेदि स्थित्वा द्रक्षेवित कुप्येति प्रैमुरिति इरोर्षु येषीं वर्षः ॥ चेत्रस्तानपहाँय यौहि मैवनं देवस्य विश्वेशितुनिद्रोंवा-रिक्तिर्द्योक्तयपर्रेषं निःसीमश्रमेप्रैदम् ॥ ९३॥

सं टी॰ —ये धनमदान्धास्तेषां द्वारं परित्यस्य परमेश्वरपदमाश्रयणीयं महस्तल्यः । सं टी॰ —ये धनमदान्धास्तेषां प्राप्ते सित येपानैधर्यमदनत्तानां द्वारेध्वरयेवं वची दित्याह । नाथमिति । हे चेतः लाभ्यागते प्राप्ते सित येपानैधर्यमदनत्तानां द्वारेध्वरयेवं वची दित्याह । नाथमिति । हे चेतः वर्षेक्षिरातुर्देवस्य भवनं मन्दिरं याहि प्राप्तुर्हेशित सम्बन्धः । वचनमस्ति तान मूलानपहाय परित्यस्य विश्वेरितुर्देवस्य भवनं मन्दिरं याहि प्राप्तुर्हेशित सम्बन्धः ।

इति निर्दिष्टं बचनमेवाह । भा याचकाऽयं ते तब समयो नास्ति यतोऽशुना रहस्यं प्रभुर्गुप्तिविची रिथतः । तथा नाथः स्वाग्यधुना निद्राति निद्रां करोति यद्युत्थाय स्थिता त्वां द्रक्ष्मति प्रभु कुष्यस्यतो गच्छोते । कीदृशं विश्वेशितुर्भवनं निद्रांवारिकिनिर्दयोक्तयपरुपं निर्गता दोवारिका द्वारपाल यरमात्तदेवं निर्दयानामुक्तिभिनीस्ति परुपं कठोरवचनं यस्मिस्तत् । पुनः किंभूतं तद्दारं निःकीम शर्मप्रदं निरविध ब्रह्मसुखं प्रददातीत्यर्थः । राजद्वारे विद्यामानं तत्पालवचनं कटु । हित्वा स्वात्महर द्वारमुपेयात्सत्समागमम् ॥ १ ॥ शार्वूलविकीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९३ ॥

भा० टी०—हे चित्त ! अभ्यागतके आनेपर जिन धनमदमत्तोंके द्वारपाल यह कहदेतेहें हे याचक ! यह सभय तुद्धारे आनेका नहींहै, इससमय हमारे पर् एकान्तमें कुछ विचार कररहेहें, इससमय सोरहेहें, यदि उठकर तुमको यहाँ वैटा देखेंगे तो हमपर कुपित होंगे, उनको छोडकर विश्वेश्वरदेवके द्वारपर जा जहां कोई रोकनेवाला नहीं है, जहां : निर्दय और कठोर वाक्य सुनाई नहींदेतेहें, और जहां निःसीम ब्रह्मसुख प्राप्तहोताहे ॥ ९३ ॥

छप्रय—चेठ पौरिया द्वार छडीकर पहरौ राखत। सो-वत स्वामि हमार जाहु तुम ऐसे भाखत। करि है कोध अपार रखें जो तुमकों द्वारे। छोड इन्हें ग्रहद्वार प्रभूको सुनरे चित्त हमारे। जहां न रोके कोउ वचन कटु कोउ न भाखे। मिले अमित आनन्द प्रेमरस सुन्दर चाखे॥ ९३॥

प्रियंसिक विपदण्डवातप्रतापपरंपरातिपरिचंपेले चि-न्तांचके निधांय विधिः खलेः॥ मृदंमिवं वलेतिपण्डी-इत्यं प्रगल्भकुलीलवद्धमंयति मेनो नो जैनिमः किमेर्थे विधार्स्यति॥ ९४॥

भाद शिष्ट-हे भियसित ! पृत्युत्वास्कीतरह यह दुष्ट विधाता विपत्तिन्यो दण्योक सम्बद्धी परम्परास अत्यन्त चपल चिन्तास्त्रपीचकमें भिद्धिके
पिरकीतरह घलान्तारसे हमारे मनको घरकर धुनाताह सो हम नहीं जानतेहें
सि दणाको पहुँचाकरभी अब यया करेगा ॥ ९४॥

दोहा—सनकों चिंता चक्रधर खल विध रह्यो घुमाय। राचि हें कहा कुलालसम जान्यो कळू न जाय॥९४॥

मंहेश्वरे वाँ जगतामधीर्थरे जर्नार्दने वाँ जगदन्तरा-त्मंनि॥ तंयोर्ने "भेद्रप्रतिपैत्तिरास्ति" में तथींपिँ भाकि-स्तिरुणेन्दुशेखरे ॥ ९५ ॥

सं० टी०—अधुना हरिहरयोर्भद्युद्धयभावेऽपि स्वीपासनां चन्द्रशेखरे दर्शयित । महेश्वर हित । जगतामधीश्वरे महेश्वरे तथा जगदन्तरात्मिन जनार्दने वा तयोर्भेदस्य प्रतिपत्तिर्निश्चयो मे नास्ति तथापि तरुगो नवीन इन्दुधन्द्रः देखरे मस्तके यस्य तस्मिन् मे मम भक्तिः परमानुरागोऽस्ति । हरे हरा न भेदोऽस्ति जगदीश्वरसाक्षिणोः ॥ तथापि मे दृढा भक्तिश्चंद्रशेखर ईश्वरे ॥ १ ॥ वदार्थ यृत्तिभिदम् ॥ ९९ ॥

भा० टी०--जगत्के ईश्वर महादेवजी और जगदातमा जनार्दन विष्णु भगवान्में यद्यपि कोई भेद नहीं है तथापि जिनके मस्तकमें निभानचन्द्रमा विरा-जमान है उन्हीमें भेरा परम अनुराग है ॥ ९५ ॥

दोहा—नाहिंन शिव अरु विष्णुमें सूझे अन्तर मोय। तदपि चन्द्रशेखर लखत प्रीति अधिक कुछ होय॥९५॥

रे कंदेर्प कॅरं कदर्थर्यास किं कोदण्डटंकारिये रे रे रे कोलिल के कोमेंकैः केलरयेः किं देवं दथीं जलेपिस ॥ भुँग्धे सिग्धविदग्धक्षेपभँधुरेलिलेः किटीक्षेरेंलं चेतेरचुम्बितचन्द्र-चुडचरणध्यानींमृतं वैर्तते ॥ ९६ ॥

सं० टी०-शिवध्यानतत्त्ररे पुरुषे फन्दर्पादीनां न्यापारस्य विद्वक्षणफल्ल्यमाह । रे फन्दर्पति । रे कन्दर्प ! रे इति नीचसम्बोधने । कोदण्डद्वार्यः करं कि कदर्थयसि । रे रे कोिकल ! कोमले: कलरवे: पञ्चमस्वरे: किं त्वं वृथा जल्पित । हे मुग्धे ! तव कटाक्षेरलं पूर्य-ताम् । किंभूतै: कटाक्षे: क्तिग्धविदग्धश्च मधुरश्च क्षेपो येपां तै: । भवतां पूर्वोक्तानां कृतं निष्ठिर-मिष व्यर्थम् । तस्माचेतरचुन्वितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते । चुन्वितं चन्द्रचूडस्य महेश्वर-स्य महेशस्य चरणध्यानामृतं येन तत् चुन्वितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतम् । शिवध्यानिष्ठे मिष् मन्मथादिभिः कियमाणाः सर्वे यत्ना निष्कला इति भावः । शार्दूलविक्तीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९६ ॥

भा॰ टी॰—अरे कामदेव ! घनुष्य खींचकर तूं वृथा अपने हाथकों पिर श्रम क्यों देताहै ? हे कोपल ! तूं कोमल और मधुरस्वरसे वृथा क्यों कुहु कररहा है? हे मुग्धे ? तूं अपने चिकने चंचलकटाक्षोंको वस कर । कारण कि मेरा चित्त तौ चन्द्रशेखर श्री महादेवजीके चरणोंके ध्यानक्ष्पी अमृतमें मन्न रहताहै ॥ ९६॥

छप्ठय—अरे काम वेकाम धनुप टंकारत तरज्ञत । तू हू कोकिल व्यर्थ वोल काहेकों गरजत । तैसेंही तू नारि वृथाही करत कटाछें । मोहि न उपजे मोह छोह सब रहिगे पाछें॥ चित चन्द्रचूडके चरणको ध्यान अमृत वरसत हितें। आनन्द अखण्डानन्दको तांहि जगत सुख क्योंहितें॥ ९६॥

कोपिनं शतखण्डजर्जरतेरं कन्था पुनैस्ताहँशी निश्चिन्धं निरपेक्षमेक्ष्यमर्शनं निद्रां श्मेशाने वेने ॥ स्वीतन्त्रयेण निरं-कुँशं विहेरणं स्वान्तं प्रशीनतं सदीं स्थियं भोगमहोत्सवे यदि तदीं त्रिटोक्यरीज्येन किम्री॥ ९७॥

सं० री०—अद्य विरायसामग्रीवतः स्थिरिवत्तस्य गुप्तं त्रिक्षेत्रीयतिमुपादि। गत्या वर्णयित । वर्णयित । यस्य कार्णानं शतानि यानि स्वण्डानि निर्वाणितास्याति । यस्य कार्णानं शतानि यानि स्वण्डानि निर्वाणितास्याति । यस्य कार्णानं शतानि यानि स्वण्डानि निर्वाणितायां तथा निर्वाणिति स्थानं स्यानं स्थानं स्य

भा० टी०—िलनकी फन्धा काँर काँधीन महाजर्जर हैं, जो निश्चिन्त हैं अर्थात् जिनको ऐहिक ऑर पारलाकिक कोई चिन्ता नहींहे, जो विमा किसीकी अपेक्षाके माप्त भिक्षान खातेहें, जो उमज्ञानमें शयनकरतेहें, जो स्वतंत्रतापूर्वक विनारोकटोक विचरण करतेहें, जिनका मन सदैव ज्ञान्त है, और जो भोगोत्सवमें स्थिरिचत्त रहतेहें, उनकेलिये विलोकीका अधिपत्य क्या है अर्थात् कुछभी नहींहै॥९७॥

छप्प्य--कंथा अरु कोषीन फटी पुनि महापुरानी ॥ विना याचना भीख नींद सरघट मनमानी ॥ रहँ जगसों निश्चिन्त फिरें जितही सन आवे ॥ राखें चितकू शांत भोग अनुचित नाहें भावे ॥ रहें सदा असलीन ब्रह्म सोवत अरु जागत ॥ त्रिभुवन-हुको राज तुच्छ अति तिनकों लागत ॥ ९७ ॥

भोना मंगुरहत्त्यो वहुविधारेतेरे वै चीयं भवरेतिकेरयेहें हैंते परिभ्रमत रे होकों हैंतं चेष्टितेः । आशापाशश-तोपशान्तिविशीदं चेतें समाधीयेतां कामोत्पत्तिहैरे स्वधीं-मनि येदि श्रद्धेयमस्मद्धचें ॥ ९८ ॥

सं० टी०—भोगानामनर्थहेतुत्वं दर्शयनीश्वरे चित्तस्यैर्ग्यं शिक्षयति । भोगा इति । रे गेका बहुविधा बहुप्रकारा भोगा भंगुरा विनाशाशीला वृत्तिर्थेषां ते एवंभूताः सन्ति तैमोंगैरेव वायं भवो जन्ममरणरूपः संसारो भवति तत्तरमात्कारणादिह संसारे कस्यकृते किमर्थं यृयं गिरिश्रमत तादृशभोगार्थं चेष्ठितैः कृतमलम् । यद्यसम्बद्धाः श्रद्धेयं श्रद्धाविपयीभूतमस्ति तदा स्वधा-गिरिश्रमत तादृशभोगार्थं चेष्ठितैः कृतमलम् । यद्यसम्बद्धाः श्रद्धेयं श्रद्धाविपयीभूतमस्ति तदा स्वधा-गिरिश्रमत तादृशभोगार्थं चेष्ठितैः कृतमलम् । यद्यसम्बद्धाः श्रद्धाविपयीभूतमस्ति तदा स्वधा-गिरिश्रमतारो स्वास्ति कामानामभिलापाणामुत्पत्तिहरे क्षद्रानन्दानां तत्रान्तभोवात्तिद्वित्तारमस्तेन विनासायीयताम् । कीदृशं चेतः । आशापाशानां यानि शतानि तेषां योपशान्तिरपशमस्तेन वेश्वर्दं निर्भलमित्यर्थः । भोगानां हि विनाशित्वाद्विश्रमस्तल्यते वृत्या ॥ गुरूणां सद्वचस्तध्यं हिरे कार्थे विश्वरिमः ॥ १ ॥ शार्बूलविक्वीडितं वृत्तमिदम् ॥ ९८ ॥

भा० टी०--हे मनुष्यो ! अनेकोंपकारके ये जितने भाग हैं सो सब विगाशशील हैं, इन्ही भोगोंके संसर्गसे यह भव अर्थात् जन्ममरणक्ष्य संसार होताहै,
फेर तुम किसल्यि इस संसारमें भ्रमण करतेही, ऐसी भोगचेष्टाओंसे क्या फल
फेर तुम किसल्यि इस संसारमें भ्रमण करतेही, ऐसी भोगचेष्टाओंसे क्या फल
पेलेगा । यदि हमारे वचनपर तुल्लारी श्रद्धा है तो सेकडोंपकारकी आशापाशोंकी
पिशान्तिके कारण निर्मल्वित्तको स्वयंपकाशमान् कामनाशक शिवजीके चरणाविन्दमें निरन्तर लगाओं।। ९८॥

आधिव्याधिशैतोर्जनस्य विविधेशरोग्यंमुनमूर्त्यते छं-क्ष्मीर्यत्रं पतिनित तर्त्र विवृतद्वारा ईव व्यापदः॥ जीतं जी-तमवर्र्यमाशु विवैशं मृत्युः करोत्यात्मसीतिकिनीम निरं-कुशैने विधिना यैन्निर्मितं सुस्थितमे ॥ १०१॥

सं टी०—आधीति । नामिति सम्बोधने । तिंक यित्रारंकुशेन विधिना सुस्थितं निर्मितं किं तहर । शरीरे आधिन्याधिशतैरिमतमितशयेनारोग्यमुन्मून्यते । तत्र आधिर्मानसी पीडा न्याधी रोगसमुद्भवः । चान्यद्यस्मिन् दैवनिर्माणे लक्ष्मी तत्र स्थाने न्यापदो विष्टतद्वारा इवोद्घाटितकपाटा इव वर्तन्ते । अवस्यं निश्चितमाशु शीद्यं मृत्युर्जातं जातमुत्पन्नमृत्पन्नमात्मसात्करोत्यात्मायत्तं विधते स्रतोऽस्य दैवस्य निर्माणे किमिप स्थिरं नास्तीत्यागमः ॥ शार्डूलिविक्रोडितं वृत्तिमिदम् ॥ १०१॥

भा० टी०—सेंकडों मानसिक और शारीरिक व्याधियोंने आरोग्यताको समूल उखाडडालाहै, जहां द्रव्य बहुत होताहै वहां विपत्ति द्वार तोडकर आप। उतीहैं, और जी जन्मता है उसको मृत्यु अवश्य वल्लपूर्वक अपने वशमें करलेता-है, फिर कहो ऐसी कोनसी वस्तु है जिसको निरंकुश ब्रह्माने स्थिर वनाई है॥१०१॥

द्रोहा--रोग वियोग विपति वहु देह आयु आधीन।

निडर विधाता जग रच्यो महा अधिरता लीन ॥१००

कृंद्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवांसे कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिक्रविषमे योवेने विभ्रवासः ॥ वी-माक्षीणामवज्ञीतिमैलिनवदनो वृद्धभावोऽध्यसीधुः संसीरे रे मनुष्या वदेतं थेदि सुखं स्वेल्पमध्यस्तिकिचिते॥ १०२॥

सं टी०—विचार्यमाणे सित संसारे दुःखमेत्र सुखेळशोऽपि नास्तीत्याह । कुछूेणोति। अमेध्यमपात्रित्रं विष्मृत्रादि मध्ये यस्मिस्तास्मन् गर्भवासे वियमिता संकुचिता तनुर्येषां तेः पुरुपेः कुछूेण क्रप्टेन स्थीयते । कान्तायाः । व्रियो विधेषो वियोगस्तस्य दुःखस्य व्यातिकरेण सम्बन्धेन विषमे संकटरूपे योवने विष्रवासः परदेशगमनं । तथा वामाक्षीणां युवतीनामवज्ञयाऽतिमाळेनं वदनं यस्मिस्स वृद्धभावोऽप्यसायुरसमीचीन एवातो हे मनुष्याः संसारे स्वल्पातिळयु किश्विछेश-मात्रमिप यदि सुखमस्ति तर्हि यूयं वदत कथयतास्माकन्तु नैव भातीत्यर्थः । गर्भवासेऽथ तारुप्ये

वार्क्तने दुःखदर्शनात् । संसारे स्वरूपमपि हि सुखं नास्तीति दर्शितंम् ।। १ शार्द्ळिथिजीडितं वृत्तिमद्म् ॥ १०२ ॥

भा० टी॰—अपवित्र मलमूत्रके स्थान गर्भमें मनुष्य हाथ पैर बंधेहुए वडे कप्टकेसाथ वासकरताहे, युश्ववस्थामें स्त्रियोंके वियोगरूपीद्वः ससे दुः स्वी रहताहे, और बद्धावस्थामें नारियोंसे निरादर पाकर नीचा शिर किये शोचमें पडा-रहताहे, इसलिये हे मनुष्यो! यदि इस संसारमें किंचिनमात्रभी सुख है तो हमसे कहो।। १०२॥

दोहा—सहाौ गर्भदुख जनमदुख जोवन लिया वियोग।
वृद्धभयें सविह न तज्यो जगत किथों यह रोग ॥१०२॥
आयुर्वर्षशैतं नृणां परिमितं रात्री तद्धं गतं तस्याई-

र्स्य परस्यं चे ईिमपैरं वालत्ववृद्धत्वयोः॥ शेषं व्याधिवि-योगदुः खैसहितं सेव दिमिनी येते जिवे वारितरंगचं चले-तरे से रिवें कुतः प्राणिनाम्॥ १०३॥

सं टी०—इदानीमायुर्विभागं कृत्या तत्र सुखाभावं दर्शयति । शायुरिति । नृगामायुर्व-पंशतं परिमितं नियतं तद्धं तस्य वर्पशतस्यार्द्धं पंचाशद्वर्विभितं रात्रौ शयनेन निर्धकं गतं, तस्या-द्धंस्य परस्य शेवभूतस्य पंचाशिन्मतस्य यदपरमद्धंन्पञ्चिशतिवर्याणि तत्सार्द्धदशिवभागेन वालत्व-वृद्धत्वयोगितं, शेपमयशिष्टं पञ्चविशतिपरिमितं तु व्याधिना प्रियाणां वियोगन च यदुःखं तन सितं यक्तं यथास्यात्तथा सेत्रादिभिः सेत्रा जीविकार्ध राज्ञामाराधनमादिचेषामध्ययनाध्यापनक्रयिक्रय-भृत्यादीनां तैनीयते व्यतीयते । एवं सितं वारितरङ्गवचञ्चलरे जीव जीवितव्ये प्राणिनां सीत्वं कुतः स्यान्यकृतोऽपीत्यर्थः । भायुपः सकलस्यापि भागं कृत्या प्रदर्शितम् । बाल्यतारुण्यवार्द्धवये सुखं नास्येव किचन ॥ १ ॥ शार्द्वज्विक्रीडितं वृत्तामिदम् ॥ १०३ ॥

भा॰ टी॰—मनुष्योंका आयु सीवर्षका नियत कियागया है, उसमेंसे आधा अर्थात् ५० वर्ष ती रात्रिको सोनेभेही न्यतीत होजाताहै, किर शेप वचेहुए ५० वर्षोंमेसे २५ वर्ष वाल्यावस्था और बद्धावस्थामें न्यतीत होजातेहैं, और शेप २५ वर्ष नानापकारके वियोग, दुःख, न्याधि, हानि, लाभ, हर्ष, शोक और परसेवा आदिमें न्यतीत होजातेहैं। जब इसपकार आयु न्यतीत होताहै परसेवा कि जलके तरहकेसमान चश्चल जीवनमें मनुष्योंको सुख कहां नाम्रहोसक्ताहै ॥ १०३॥

छप्यय—रातिह वर्षकी आयु रातमें वीतत आधे। ताके आध्यो आधि वृद्धवालकपन साधे। रहे यहै दिन आधि व्याधि गृहकाज समोये। नानाविध वकवाद करत सवहिनकों खोये। जलकी तरङ्ग वुद वुद सदश देह खेहके जातहै। सुख कहाँ कहां इन नरनकों जासों फूलत गात है॥ १०३॥

ब्रह्मज्ञौनविवेकिनोऽमलिधयेः कुर्वन्त्यहो दुष्करं यै-मुंचिंत्युपभोगकांचनधनान्येकांतँतो निःस्पृहाः॥ नै प्राप्तौ-नि पुरो नै संप्रीति नै चैं प्रीप्तौ हदप्रत्येयो वाच्छामात्रप-रिग्रहोंण्येपि पैरं त्यैकुं नै शक्ती वेंयम्॥ १०४॥

सं० दी०—अधुना विद्वद्विंदुपेर्शिवपयत्मामाधर्यासामध्ये दर्शयति । ब्रह्मज्ञानित । ब्रह्मज्ञानाय विवेकः सदसिद्वारस्तेन निर्मेठा धीर्थेपां तेऽहे इत्याश्चर्ये दुष्करं कर्तुमशक्यं यक्तर्म तत्कुर्वित तदेवाह । यदिति । एकान्तते।ऽत्यन्तं निस्पृहा विरक्ताः सन्ते। यदुपभागसाधनानि धनानि मुञ्जन्ति त्यज्ञान्ति स उपभोगसाधनत्याग एव तेपां दुष्करं कर्म । वयं तु पुरा पूर्वकांछे उपभोगसाधनधनानि न प्राप्तानि सम्प्रत्यथुनाऽपि न संत्यग्रेऽपि प्राप्तो दृष्करं कर्म । वयं तु पुरा पूर्वकांछे उपभोगसाधनधनानि न प्राप्तानि सम्प्रत्यथुनाऽपि न संत्यग्रेऽपि प्राप्तो दृष्करं कर्म । वयं तु पुरा पूर्वकांछे उपभोगसाधनधनानि न प्राप्तानि सम्प्रत्यथुनाऽपि न संत्यग्रेऽपि प्राप्तो दृष्करं कर्म । वयं तु पुरा पूर्वकांछे उपभोगसाधनधनानि स्थन्तिति वाञ्छामात्रं परिग्रहे। थेपां तान्यपि परित्यक्तं राक्ताः समर्था न भन्नाम इत्यर्थः ॥ प्राप्तान् भोगान् परित्यज्य ये कुर्वन्त्यात्मदर्शनम् । ते धन्या ह न चास्मिभिस्यज्यन्ते हि मनोरधाः ॥ १ ॥ शार्विळविक्रीडितं वृत्तिभिदम् ॥ १०४॥

भा० टी॰—बसज्ञानके विवेकसे जिनकी बुद्धि निर्मल है ऐसे मनुष्य वहा कठित कार्य करते हैं कि उपभोग, भूषण, वस्न, ताम्बूल, अय्या, धन, इत्या- दि विषयकी सब सामग्री त्यागदेते हैं, और निरन्तर निस्पृह रहते हैं, परन्तु हमको तो न पहिले माप्तहुई, न अब माप्तहै, और न आगे माप्तहोंनेका इह विश्वास है, यह सब केवल इच्छामात्रसे ही ग्रहण हो रहे हैं, हम तो इनको भी त्यागने में समर्थ नहीं हैं १०४॥

दोहा--वडे विवेकी तजतहैं संपति सुत पित मात। कंथा अरु कोपीनह हमसे तजी न जात॥ १०४॥ व्योघीवै तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती रोगाँश्र्यं शर्त्रवर्द्धवे प्रहेरैन्ति देहम् ॥ आँयुः परिस्रवैति भिन्नेधिटादिवाँमें भो छोर्कस्तथाँप्यहितामाचरैतीति चित्रमें ॥ १०५॥

सं० टी०—वैराग्यहेतुष्वप्यासक्तवाऽशुभमाचरतीति चित्रामित्याह । व्याव्रीति । जरा व्याव्रीव परितर्जयन्ती भर्त्सयन्ती तिष्ठति । रोगाश्च शत्रव इव देहं प्रहरन्ति । आयुरिप भिन्न-घटादम्भो जलमित्र परिस्त्रविति । तथाऽपि लोको जनोऽहितं पापमाचरतीति चित्रं महदाश्चर्थमित्यर्थः । जरा रोगादयः सर्वे सन्ति वैराग्यहेतत्रः । तथाप्यहित आचारः किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १ ॥ वय-न्ततिलकावृत्तमिदम् ॥ १०५ ॥

भा० टीं०—इद्धावस्था व्याघीकेसमान गर्जतीहुई सन्मुख खडींट, सव रोग शतुओंकेसमान देहपर प्रहार कररहेहैं, और आयु प्रतिदिन ऐसे निकलता जाताहै जैसे फूटे घडेसे पानी निकलजाताहै, यह सब कुछ होनेपरभी मनुष्य ऐसा काम कररहेहें जिनमें उनका तुरा हो यह वहे आश्चर्यकी बात है।। १०५॥

दोंहा--कुपित सिंहनी ज्यों जरा कुपित शत्रु ज्यों रोग।

फूटे घट जल ज्यों जगत तक अहितयुत् लोग ॥ १०५॥

गांत्रं संकुंचितं गांतिविंगिलिता अष्टां चं दन्तांविलिह-ष्टिर्निश्येति वैधिते विधरतीं वैंकत्रं चें लालियते ॥ वींक्यं नीं-द्रियेते चें वान्धवींजनो भांथी ने शुर्श्वेषते हीं केंद्रं पुरुषेत्य जीर्णवर्येसः पुँत्रोऽर्ध्विमित्रोंथते ॥ १०६ ॥

सं० टी०—अधुना बृद्धावस्थां सर्वधा काएरत्पत्या वर्णयति । यात्रविति । यून्यत्यावर्षः गात्रं श्रीरं संकुचितं सुन्जं भवति, गतिर्गमनं विगलिता नएः, दन्त्रवादिश्वर्यक्रितं प्रात्नं भवति, गितर्गमनं विगलिता नएः, दन्त्रवादिश्वर्यक्रितं प्रात्ने च नत्यति, विधरतापि वर्द्धते निषादे वर्धकृष्टिते न श्रवेत, वक्ष्यति विद्यते न नावरे । प्राप्ते विश्वे च मुखं वाव्यति व्यावाम्त्रावं सुरुते, बात्यवजनो वाव्यं निद्धिते न नावरे प्राप्ते विश्वे प्राप्ते विश्वे मार्या च स्त्री न जुक्षते स्वर्धा न युक्षते, हा पएं जीर्ण विश्वे पर्य तथा एक्ष्यर वर्धित् मार्या च स्त्री न जुक्षते स्वर्धा न युक्षते, हा पाएं जीर्ण वर्षा पर्यक्षते पर्यक्षते राजुवद्धाचरतीत्रधः । स्वर्धकृष्टितं एर्पये ज्याविद्धित् ए्याप्त्रवर्णः स्वर्धित् स्वर्धकृष्टितं स्वर्धकृष्टितं परिवेष्य वर्षाम्यकृष्टितं परिवेष्य ज्यापात् विश्वे परिवेष्य परिवेष्य वर्षाम्यकृष्टितं परिवेष्य वर्षाम्यकृष्टितं । १ १ १ वर्षकृष्टितं परिवेष्य वर्षाम्यकृष्टितं ।

भा० टी०— रुद्धावस्थामें शरीर सिकुड जाताहै, चाल नष्ट हो जातीहै, दांत गिरपडतेहैं, हार्र जातीरहती है, वहिरापन वढ जाताहे, मुखसे लार टपकने लगतीहै, वन्धु जन वातका आदर नहीं करतेहैं, और स्त्री सेवा नहीं करतीहै, हाय! रुद्ध मनुष्यके कप्टका क्या वर्णन किया जाय, यहां तक तो है कि साक्षात् पुत्रभी शत्रुके समान आवरण करने लगताहै॥ १०६॥

छिप्य—भयौ सकुंचित गात दन्तहू उखर परे सिह। आं-खिन दीखत नाहिं वदनतें लार परत विह । भई चाल वेचाल हाल वेहाल भयौ अति । वचन न मानत वन्धु नारिहू तजी श्रीतिगति। यह कष्ट महादिय बृद्धपन कछु मुखसों निहं कह-सकत। निजपुत्र अनादर कर कहत् यह बृढौ योंही वकत ॥१०६॥

क्षेणं बोलो भूत्वां क्षणमिष युवां कामरसिकः क्षणं वित्तेहींनेः क्षणमिषि चं संपूर्णविभेषः ॥ जराजीणेंरंगें निटें इवं बलीमंडिततेनुनरिंः संसोरांते विशोति यमधानीजव-निकोमे ॥ १०७॥

सं टी ० — अधुनायं जीवो नानावेशान् दर्शयित्या यमालयं प्रविश्वतीत्याह । क्षणाभिति । अयं प्राणी नट इव क्षणं वालो भूत्वा क्षणमिष कामे रसो यस्य स कामरिसको युग तरुणो भवति, ततो जरया जींगेंरगैहस्तपादादिभिः सह विलिभः शिथिलमांसलताभिर्मिण्डता व्यासा तनुर्देहो यस्य स नरः संसारस्याङ्के क्रोड वर्तमान इव यमधानीरूपां जगनिकां तिरस्करिणीं नट इव विश्वति प्रविश्वतीत्यर्थः । नानाकर्म प्रकुर्वाणा वाल्यतारुण्यवार्द्धके । भगवरपादिमुखा ग्रह्मित हि यमालयम् ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तिभिदम् ॥ १०७॥

भा ॰ टी॰-यह मनुष्य क्षणमें वालक्ष्प और क्षणभे कामरसिक युवा, क्षणमें दिरिद्री, क्षणभें घनाक्य, और क्षणभरमें ऐसा बृद्ध होजाताहें कि जिसके अंग जीर्ण होगयेंहें और जिसकी खाल तिकुडगईहें, इसमकार नटकेसमान रूप धारण-करताहुआ संसारक्षणीनाटकके अकर्षे अपमधानी (यमलोक) रूपी जविनका (दरदा) में प्रवेश करजाताहै।। १०७॥

नाटकान्तर्गत दस्यका समाप्तिको अंक कहतेहैं

छप्य—छिनमे वालक होत होत छिनहीमें जोवन। छिनहीमें धनवन्त होत छिनहीमें निर्धन । होत छिनकमें वृद्ध देह जर्जरता पावत। नट ज्यों पलटत अंग स्वांग नित नये दिखादत। यह जीव नाच नाना रचत निचल्यों रहत न एक दम। करके कनात संसारकी कौतुक निरखत रहत जम॥१०७॥

अही वो हीरे वों वर्जवित रिपो वाँ सुँहित वां भंगो वीं किछे वीं कुसुमदार्थेने वीं हपेंदि वाँ ॥ तृंगे वीं स्रेणे" वीं भंग समहेद्या यांति दिवसीः कैचित्पुण्योरंण्ये दिविं-दिविंदिविंति प्रस्तिता प्रस्तिता ॥ १०८॥

सं० टी०—समदृष्टिपूर्वकं महेश्वरे प्रेमाणं प्रार्थयति । अहाविति । अहा सपं, हारे मोक्तिकमालायां, बल्बित रिपा बालिष्टे शत्री, मुदृदि हितकरे मित्रे, गणावण्यानमे रन्ते, लिष्टे मृतिपण्डे, कुमुमश्ययेन पुष्पशय्यायां, दपदि पापाणे, तृणे घासकणे, खेणे श्वीमन्ते, सर्वत्र याश्वदे निश्चयार्थस्तथा चाह्यादिषु निश्चिता समदृष्टिर्यस्तेतादशस्य हे शिव ते महल्लाम किच्छिपप्येत्वयारण्ये पावनवने प्रलपतः उर्चराक्रोशं कुर्वतो ममस्यविधनो दिवसाः कटा याग्याम मिष्यन्तीसर्थः । अह्यादिखेणप्येते सर्वत्र समदर्शनम् । कदा मम भवेन्छम्भो स्वां हि स्मरताइनि-शम् ॥ १ ॥ शिखरिणीवृत्तभिदम् ॥ १०८ ॥

भग दी०—सर्प अथवा हार, वलवान शत्रु अथवा हिनकारी वित्रः मणि अथवा पापाण, पुष्पोंकी शय्या अथवा पत्थरकी चहान, और तृण अथा िस्पोंक समूहमें समदशी होकर किसी पवित्रवनमें जिय जिय जपने मेरे दिन कर व्यतीतहोंने ॥ १०८॥

हुप्पय—सर्प सुमनको हार उम्र वेरी अर एजन । कंचन मणि अरु छोह कुसुम शय्या अरु पाहन । तृण अरु तरुणी नार सवनेप एक दृष्टि चित । कहूं राग नहि रोस हेप कितहू न कहूं हित । है है कब मेरी यह दशा गंगाके तट तप तपत । रस भीने दुर्छभ दिवस ये वीतेंगे शिव २ जपत ॥ १०८ ॥ धैर्थं यस्य पिता क्षमा च जर्ननी शान्तिर्श्वरं गेहिनी । सैत्यं मित्रेमिदं द्यों च भीगनी आता मर्नःसंयमः॥ शर्य्या भूमितें ढं दिशो 'ऽपि' वसेनं ज्ञानों मृतं मोजनेंम्। होते यस्य कुटुंम्बिनो वर्दं सेंखे कस्मीद्वेयं योगिनें:॥१०९॥

सं टी॰—दैवसम्पद्रूपपित्रारवतः कुतोऽपि भयं नास्तीत्माह । वैर्थ्यमिति । हे सखे ! तं वद ब्रुहि एते कुटुम्बिनो यस्य योगिनस्तस्य कस्माद्भयं न कुतोऽपीत्थर्थः । कुटुम्बिन एवाह । यस्य योगिनो वैर्थ्य पिताऽस्ति, क्षमाच सिहण्णुता जननी मातापित्रोरिवेभियोः पालकत्वात् । यस्य शान्तिश्चिरं गेहिनी भार्योऽस्ति, तथा सत्यं यथादृष्टश्चर्तकथनरूपिष्टं मित्रमस्ति, दया च सर्वभूत-हितेच्छा भगिनी, मनःसंयमो मनोनिग्रहो भ्राता, भूमितलं शय्या, यस्य दिश एव वसनं वस्त्रं, ज्ञानामृतं भोजनिमत्येतादृशी यस्य सम्पद्स्ति तस्य कुतोऽपि भयं नास्तीति भावः । दैवीसम्पिद्देमोक्षाय निबन्धायासुरी मता । इति भगबद्धचनात्तद्वतो न कुतोपि भयम् ॥ १ ॥ शार्द् लविक्रीडितं इत्तिमदम् ॥ १०९ ॥

भा० टी ०—हे सखे ! तूंही वता कि जिसका धेर्य पिता है, क्षमा जननी है, शान्ति भार्यो है, सत्य जिसका मित्र हैं, दया जिसकी भगिनी है, मनःसंयम (मनको रोकना) जिसका भ्राता है, भूमितल जिसकी शय्या है, दिशा जिसके वस्न हैं, और ज्ञानरूपी अमृत जिसका भोजन है, उस योगीको किसका भय है॥१०९॥

हुप्पय—धीरज जाको पिता क्षमा है जाकी जननी ॥ सत्यवचन है मित्र दया है जाकी भगनी ॥ शान्ति सुवाला नार भृमितल शय्या सोहै ॥ संयम मनको वंधु वसन दिक् मनंकृ मोहै ॥ ज्ञान-पुधाको असन राख सब एते परिजन ॥ फिर योगी क्यों डरे हैं वह सदा मुदित मन ॥ १०९॥

इतिश्री भाषाटीकोषेतं श्रीमद्गर्हहरिविरचितं हतीयं वैराग्यशतकं समाप्तम्। WASHINGS !

अवस्य देखिये देखन योग्। छोचन छाम छेहु सबछोगू!

े नृत्य सुस्यसागर खटी टिंदीआपा—ययपि मुखसागर अनेकजगह छपेहें, परंतु का रामुकाट सर्वात्तम हक्षां हमें प्रमेश कोशका भावार्थ सुगमसीतिसें लिखागयाहै जहांतकवना है। बोहिनी विक्रियेशिय दान नहीं लोडीमहिंदी बीचवीचमें लिख दोहा, छंद, चीपाई, काशक्त, सग कीह सार्वात्तम कि एवणेमें जहेत्ये ही बीतिसह अपूर्व छटा दिखारहेहें, भाषाभी बहुत सरल है जिसके की बीह सालवाभी विनम्रयान नगहोत चलेजातिहें, माहाकोंसे हमास केवल इतनाही कर्राति कि एवमवस्तुवी हम्लाही सो हमेंदी मरीदनाचाहिये अक्षर मोटे हैं जिससे बुहुभी सहजमें परस्कारी विवायमीवायहेंयी जिल्हा बहुतही मनोहर्रहें अधिकता तो यहहै।कि दशममें अध्याय अध्यान वहने विकायमीवायहें की बाग का पर रक्ष सामजका ६ रह डाक म. १ रू. ८ आ.

र भारतसार भाषा—हमार धर्मप्रधोमें सबसे यहा महाभारत है जो बात कहीं न मिळ-सक्तर्गाते पर महाभारतमें भिक्तवर्तां है ऐसे बढ़े प्रंथका पढ़ना पढ़ाना वा पाठकरना अतीव सम्पर्क हमनिये हमने १८ पर्वोका सार सार यह भारतसार छपवायाँ इसके पाठ करनेसे सबही स्वद्रपण विषय हस्त्रमत होजाते हैं. जो महाभारतको नहीं पढ़पढ़ासकतेहैं जनको अवश्यही पाठतत्यहें. वास्तवमें इस छोटेंसे प्रथमें सागरको गागरमें भरनेका प्रयत्न कियाहै अक्षर बड़ेहें गामज विकास यह प्रथ पहिलेभी हमारे यहां छपाया अब इसमें बहुतसी अवश्यक बातें पहादीगई है जिससे पहिलेभी अपेक्षा अब तिमुना होगयाह भाषामां बहुतही छलितहै जिसे पढ़ते पहाते जो अधाताह मृत्य २ रु. डा म. १२ आः

३ अयुतारचरित्र— भगवानने चाँवीत भवतार धारण करके प्रत्येक अवतारमें जो जो छीटा पारी हैं उन सबका वर्णन भाषाके सुटाटित छन्दोंमें कियागयाहै यह प्रंथ बडाही मनेश्रित भगवद्गत्तोंको अवस्पही पास रखनेयोग्यह तथा चौबीसों अवतारके मनोहर चित्रभी दियगेयह, मृत्य ५ २० डा. म. १ रूपया.

४ बृहत्पाराशरीहोरा-होराविषयका यह अद्वितीय प्रन्थहै, प्रथम आवृत्ति हाथोंहाय विकर्मा अवकी बार टाइपके सुन्दर सुवाच्य अक्षरोंमें छपीहै और मृत्यभी पहिलेकी अपेक्षा कम-करिया गयाहै अर्थात् पहिले इसके छः रुपयेथे अब केवल ५ रु. करियेगयेहैं मृत्य ५ रु. टा. ग. १४ आ.

५ वर्ष प्रवाप मूल और भाषाठीका सहित-यह मन्थ तेजीमन्दी वतानेके लिये परमा-प्रयोगीहें इसमें सालभरका सब वृत्तांत पूर्णशतिसे लिखागयाहे तथा संक्लरफल, मास, दिन, संज्ञांति, प्रहोंकी गति वक्रता भूकम्पादि विविधप्रकरण दियेगयेहें. इस सर्वोपयोगी प्रन्यका मूल्य १२ आना डा. म. ३ आना है.

६ ताजिकनीलकंटी भाषाटीकासह—यह प्रन्थ ताजक विषयमें सर्वोत्तमहै, अधिक प्रशंसा करना व्यर्थहै क्योंकि छोटे वडे सभी ज्योतिषी इसे जानतेहैं रसालकेअनुसार उत्तमटीका उत्तम छपाई. उत्तम कागज मृत्य १ रु. ८ आ. डा. म. ५ आ.

- ৩ मुहूर्तमकाश मूलभाषाठीकासहित-पुहूर्तिशिषका ऐसा अनुपम प्रत्य आजनक कही नहीं छपा, मुदूर्तसंत्रंभी कोई बात इसमें नहीं छोडीगईहै जो बातें सैकडों ग्रन्थोंके पटन पाटनसभी मिलना दुर्र्टभेह उन सबका इसमें पूर्ण समावेशहे, जिन दिजबरोंको मुहूर्तादि देखनेका काम पडताहै उनको अवस्पही पास रखने योग्य है नई बात इसमें यहेंह कि साधारण बांचन-शक्तियालामी अपना कार्यकरमकताहै, जैसे भरू श्रीकाशीनाथजीने द्यीववीच वनाया इसीप्रकार पंडितजी श्रीचतुर्थीहालजीनेभी यह १ मुहूर्तवित्यका प्रन्य बनाया हे यह परम उपयोगी है आपछोगोंको छनाही याग्यहै कि. १॥ मा. ४
- ८ चेद्यविनोद-मृत्यभाषाठीकासह "यथा नाम तथा गुणः " की बात इसही प्रस्थमें पाई जातीहै क्योंकि सचमुच इस प्रस्थमें वे वे परमापयीगी और अवस्य ज्ञातव्यविषय छिखेगयेहैं जिन्हें देखकर वैशको विनोद होताहै. मृत्य २ रु. डा. म. ६ आ.
- ९ हन्मत्पंचांग-इसमें हनुमत्पादुर्भाव, पटल, पद्धति, कवच, पंचमुखकवच, एकादश-मुखकवच, सहस्रनाम, हकारादि सहस्रनाम, स्तीत्र, अष्टक, मंत्रीद्धार, अनुष्टान आदि विविव विषयहें रेशमी गुटका मृत्य १॥ रु. डा. म. ३ आ.
- १० नारायणमहातन्त्र-मूळ भाषाठीकासहित-इसमें महादेवजी और नारायणका संवादहे इसमें वशीकरण, मोहनादि वडेही अद्भुत और चमस्कारी मंत्रादि दिये गयेहै मूल्य ३ आ.
- ११ संस्कृतप्रवेशिका—चिछिये लीजिये देर न कीजिये—विनागुरूके संस्कृत भाषाका अभ्यास करना चाहतेहा तो इससे उत्तम पुस्तक आपको नहीं भिल्सकताहे. इसमें संस्कृतका व्याकरण हिन्दीभापामें लिखागयाहै शब्दों और धातुओंके रूप उनके बनानेकी क्रिया तथा अन्यवातें इसमें सुगमरीतीसे लिखीगईहे इसकी पहिली आँग्रेति हाथाहाथ विकगई अब दुवारा फिर छापी गईहै मुल्यभी पहिलेकी अपेक्षा कमकरिया गयाहै अर्थात् १२ आनेकी जगह १० आ. कर दियेहैं डाकव्यय ३ आ. पृथक् हैं.
- १२ अष्टाध्यायी भाषाटीकासह-छपकर तैयारहै पाणिनीय न्याकरणही संस्कृतके सव व्याकरणोंका मूलाधारहै सिद्धांतादि सब कीमुदियोंमें येही सूत्र व्याप्यव्यापकरूपसे विराजमानहें इस छोटेसे प्रन्थको यादकरलेनेसे मनुष्य पूर्ण वैयाकरणी होजाताहै. इसके सूत्रोंका अर्थ याद करनेमें विद्यार्थियोंको वडी कठिनता पडाकरतीहै उस कठिनताको दूर करनेकेलिये हमने इसे भा. टी. सहित छापकर सुगम कियाहे अन्तों गणपाठ, धातुपाठ आदि सत्र छगाये हैं मूल्य २ रू. डा. म. ६ आ. है.
- १३ तत्वविज्ञान-प्रकृति पुरुष तथा जीव ईश्वर आदिका विवेक वेदान्त और दर्शन शास्त्रोंके अनुसार संप्रह करके भाषाटीका समेत छापाहै यह छोटा प्रन्थ वडा चमत्कारिकहै मृल्य २॥ आ. डा. म. आधा आना फक्त तीन आना.
- १४ कौतुकरत्नभांडागार अर्थात् वृहत् इंद्रजाल-इस प्रन्थमें अनेकप्रकारके जाद्के खेल, तमारो, भूत, प्रेत, डाकीनी, शाकीनी, भैरव देवी आदिके सिद्ध करनेके अनेक प्रकारके मंत्र जंत्र तथा अनेक रोगोंकी दवाभी दीर्गईहै. मूल्य १। रु. डा. म. ४ आ. १५ योगवासिष्ठ-मुमुक्षुवैराग्यप्रकर्ण संस्कृत स्रोक और टीका भापामें ऐसी सुंदर
- सुछिठतहै कि जिसको विद्वान समझेंने जिस्में तो अधिकताही क्याहै परंतु सर्वसाधारणभी

समझके ज्ञानप्राप्तिकरें, इस प्रन्थको श्रीमान् जज्जसाहव (आगरा) श्री वावूजी वेजनाथजीं छोकोपकारार्थ हमारे यहां छपवाया जिस्में कुछ प्रतियां श्रीमान्से प्रार्थना पूर्वक हमनेभी रक्खीहै कि हमारे प्राहक गणोंकोभी इस्का पठन छाभ होना चाहिय सो आप छोग इस अपूर्व प्रन्थके छेनेम न च्िकेये कि जिल्दका रु २॥ कागदके जिल्दका रु. १॥ डा. मा. ९ आ.

१६ दुर्गाचरित्र हिंदीभाषा टीकासहित—अधिकतामें श्रीमाईके चित्र दियंहें यह छोटेसे पुस्तकके बांचनेभे श्रीमाताके भक्तोंको जो आनंद होगा सो पढनेबालेही जानतकेंगे. किं० ४० आ. ट. ६ पै.

१७ निर्णयसिंधु मूल भाषाठीकासहित—जिसका विज्ञापन देदेकर हम अपने आहकाका मन बहुत दिनसे रखरहेथे वही निर्णयसिंधु मूल भाषाठीका सहित छनकर तैयारहै निर्णयप्रयोगें यह प्रन्य सर्वश्रेष्ठहे, निर्णयविषयका जब कोई झनडा उठताह, तब हिमालयसे लेकर सेतवंधरामेश्वरतक हिन्दुमुसलमान इसी प्रन्यकी शरण लेतेहें, इसीके आधारपर मनपूजन, उपवास, उत्सव आदि सबही धर्मसंबंधी बातोंका निर्णय होताहै. अतएव सब पहाँ जिसे विद्वान पंडित अन्य सज्जांको पुस्तकालयोगें रखना उचित है. प्रायः १००० पृष्ठका मोटा प्रन्य: कपडेकी जिल्ह चिकना कागज मृह्य ६ २० रफकानज मृह्य ६ २० डाक महन् । ॥ आ.

१८ शिक्षाभूषण — आजकाल धनी साहुकार और न्यापारियोंका कार्य बहुतायतसे अंग्रेजोंके साथ रहताहै परन्तु अंग्रेजी न पढ़े रहनेके कारण उनके साथ वार्तालाविमें मुह ताकते रहजातेहें और घरके कार्मोकी अधिकतासे वे अपने बालकोंके पाटशाला ने भजकर अंग्रेजीकी उचित शिक्षाभी नहीं दे सकतेहें इसाल्ये यह पुस्तक उन्हींके लागार्थ जनाई है कि घरमेंही विना शिक्षक हित कियंके सहारे पड़े यदि एकएक शब्दभी प्रतिदिन याद करित्याकों तो विल्कुल पराधीनहीं न रहें. इस पुस्तक से याद करलेन्स बातचील करना तार जिल्ला पढ़ना आदि अवश्यकीय वार्ते आसकतीहें २९० पृष्टकी चिकने गोटे कामजपर किलावनी कपड़ेकी जिस्दकी वंधी हुई पुस्तकका दाम २ रुपये हैं।

१९ पत्री वर्षदीपक मूल भाषाटीकासहित—इसमें जन्मका और वर्ष वनामेकी विधि उत्तमप्रकारसे दीगई है यह पुस्तक ज्योतिषियोंको परमोपयोगी है मूच्य हा रचका ट० ख० २ आना.

२० नागरसमुच्चय-यह महाराज नागरीदासजीकी बार्गांहे साहित्रम रामेन एवा है इस्में ३ खंड हे वैराग्यसागर, ग्रंगारसागर, पदसागर, वेराग्य सागरमें ग्यान और भिक्तमा भएए है. शृंगारसागरमें अद्भुत २ दोहे कवित होंद्र हैं, पदसागरमें सांती, हिंटोरा, होती, रास कीता. अनेक पद हैं ग्रंथ १८ या २० हजार है कि. मासुल सहित २)

२१ होली संग्रह—इसमें होली धमार वर्ततकानुके कवित स्तमर्राहर्द कविता अति मन्ता-हर हे मु. ४ आ. ट. १ आ.

२२ ज्योतिपसार—भाषाटीका सहित जिसमें २३० शोक कार्यक कार्य बटायेग्ये हैं इसके पढ़नेसे पाठकोंको कोई प्रथमी क्षवरयकता न रहेगी. बहकी भाषा बहुतही मनेहर है. मृ. १२ आ. ट. २ आ.

२२ जातकार्छकार—संस्कृत भौर मापाठीकासहित वडीही उत्तम है मृ. ८ अ. ट. खर्च. र आना.

२४ शीव्रवीय-मापाठीकासह इसके याद करलेनेसे पाठकोंको पूरा सम्यास जोतिगाँउ प्यमें होजयगा. मू. ९ सा. ट. ख. १ साना.

२५ वर्षज्ञान-भागाठीकासहित यह प्रंथ तेजी मंदी बतानेकेटिये सर्वोदरी है जिसने तेर्ज मंदी कादिका फल पूर्ण रीतिस लिखागया है मू. ८ आ. टपालयर्ज ? साना.

२६ केरलपश्न-भापाठीकासहित इससे अनेकानेक प्रश्न जो चाहिये प्रसन्न फल भिजाकर देखा कीजिये ऐसा प्रंथ आजतक छपाही नहीं है मृ. ४ आ. ट. ख. र आला.

२७ छीक तथा शकुनिविचार-अर्थात् मङ्की वर्षा छाँक आदिके प्रक्ष ऐसे मिल्ली ्र मा मंगायर प्रसास निश्रय फरेंटेंबे. मृ. २ आ. ट. स्व.॥ आना.

२८ इनुमानज्योतिप-इसमें जो चाहो प्रश्न कर फल तुरत मिलतिखिये वह अमृत्य राज्याँ है, २ आंना ट. य. ॥ आना.

२९ टॉ.पर्चाफलपळता-इसमें आपिचयोंके ऐसे कला दियेगयेहें कि जिससे गाडी-ईरोहा रोगारचान और उत्तम २ दबाये बहुत फायदेसंद हैं मृ_. ८ ला. ट. १ आ.

६० द्यंगारशक्तिःचितामाण-यह नायकाभेदकी रसभरी कविता एसी मनेहर है कि टन डोचनेने में नहीं शायाता है, मृ. ८ आ. ट. स. ? आना.

३१ चुड्रन्स्तोत्रग्रनाकर्-इसमें १८१ ग्तेल है किर अधिकताक्षे यथ है कि प्रकल-

में प्रक्रिटमें रेन्समें हे देविये, १८१ म्बेब्रिके दान मिर्फ ८ आना. मा. १ आना.

३२ नदग्रहम्बोज-जिसमें स्ताप्रके सिवाय नयप्रह जाप और स्थिकवनका मृ ? इन मा । असा-

६३ पुरुषमृक्त श्रीमृक्त-इत्तम अर्थीमिश्त मृ. ? आ. ॥ आना.

इ**४ विद्याहानद्षेण-**उन्ने दालकेंकी हिमाव किताब हुंदी शादि महापर्व संवा मेही रॉन मुगम-के सप्य हमने बनाई है कि जिसके पटनेने जिल्ला पटना जिलाय में अधि क्वींगीका बाम कर्डानीत कार्यकेट, मृ. १४ शाना गा. २ था.

३९ **डिन्दीगरिगतप्रकाश**-डिन्सेन दिसल्य ग्रीयन आउथो दे थिंग जीत लागशाया है।

司 2 8 平 3. 元 2 至至

३६ हिन्दी केंग्रेसी शिक्षम-(प्रिटींग अव्यो प्रदेखें विस एक विकास

बाहे का सुबंद है है, के बात है, ये, । अर.

३ असिहासने बनीकी- या भागी अहत उना विस्ता है जिली ३६ हरान देश क्या हैने प्रमेश्वर के विस्तात हैंदें सर्व स्वेत्रात है है से से हैंदें

वस्वर्दमे इस परेपा अनेक प्रकारकी पुस्तके मिलगी.

STREET STORES

